प्रकाशक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
ऑ० प्रकाशक जैनमित्र व मालिक
दिगम्बर जैन पुस्तकालय, चन्दावाड़ी-सूरत।

मुद्रक—
मूलचन्द किसनदास कापडिया,
"जैनविजय" प्रेस खपाटिया चकला
सूरत Surat.

भूमिका।

इस श्री प्रवचनसार परमागमको **श्री वर्द्धमान** भगवानके समान प्रमाणीक दिगम्बर जैन पट्टावलीके अनुसार विक्रम संवत ४९ में प्रसिद्ध श्री **कुंदकुंदाचार्य**जी महाराजने प्राकृत गाथाओंमें रचकर जो धार्मिक तथा अध्यात्मीक रस भर दिया है उसका स्तवन वाणीसे होना अशक्य है।

इसकी एक संस्कृतवृत्ति दशम शताब्दीमें प्रसिद्ध श्री **अमृतचन्द्र** आचार्यने की है। उसीके पीछे प्रायः उसी समयमें दूसरी संस्कृतवृत्ति परम अनुभवी श्री **जयसेनाचार्यजी**ने रची है। प्रथम वृत्तिका कुछेक अंश लेकर हिन्दी भाषाटीका श्रीयुत आगरा निवासी विद्वान् पंडित हेमराजजीने की है। यद्यपि संस्कृत वृत्तिके शब्दोंके अनुसार भाषाटीका लिखनेका प्रयास जहांतक विदित है अभीतक किसी जैन विद्वानने नहीं किया है।

दूसरी संस्कृतवृत्तिकी भाषाटीका अभीतक किसी विद्वान् द्वारा देखनेमें नहीं आई। श्री जयसेनाचार्यकृत वृत्ति सरल, विस्तारयुक्त तथा विशेष अध्यात्मिक है इस लिये हमने अपनी शक्ति न होनेपर भी केवल धर्मभावनाके हेतु हिन्दी भाषा लिखनेका उद्यम किया है।

इस ग्रंथके तीन अधिकार हैं जिनमें **ज्ञानतत्वदीपिका** प्रथम अधिकार प्रकाशित हो चुका है। यह **ज्ञेयतत्वदीपिका** दूसरा अधिकार है। तीसरा **चारित्रतत्वदीपिका** भी लिखा जाचुका है। केवल मुद्रण होना शेष है। इस अधिकारको वि० संवत १९८०की वर्षातमें पानीपत जिला करनालमें ठहरकर पूर्ण किया था।

इसको प्रकट कराकर **जैनमित्र**के ग्राहकोंको उपहारमें देनेका उत्साह श्रीयुत इच्छाराम कम्पनीवाले लाला **बद्रीदासजी**के सुपुत्र लाला **चिरंजीलाल**जीने दिखलाया है। इसलिये उनकी शास्त्रभक्ति सराहनीय है। ग्रंथके पाठकोंको उचित है कि इसे रुचि व विचारके साथ पढ़ें, सुनावें तथा इसका मनन करें और यदि कहीं कोई भूल अज्ञान तथा प्रमादसे हो गई हो तो सज्जन पत्र व्यवहार करके हमें सूचित करें हम उनके अत्यन्त आभारी होंगे।

सूरत शहर, चदावाडी
वीर सं० २४५१
माघ सुदी ३
ता० १३-१-२५ मंगलवार

जैन धर्मकी उन्नतिका पिपासु-
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

सूचीपत्र।

श्री ज्ञेयतत्वदीपिका।

श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर पूज्य—

ब्र० शीतलप्रसादजी।

(समयसार, नियमसार, समाधिशतक, प्रवचनसार आदिके टीकाकार
व गृहस्थधर्म, आत्मधर्म आदिके रचयिता तथा
ऑ० सम्पादक "जैनमित्र" सूरत।)

Jain Vijaya Press, Surat

श्रीमान् स्वर्गीय—

लाला बद्रीदासजी रईस एण्ड बैंकर्स,

मालिक-फर्म इच्छाराम एण्ड कम्पनी, मेरठ।
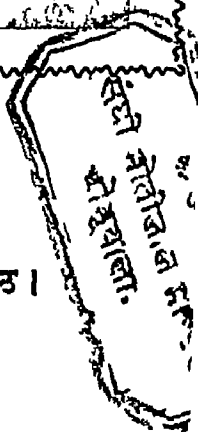
श्रीमान् लाला चिरंजीलाल जैन रईस, पानीपत।
(सुपुत्र लाला वद्रीदासजी रईस)

Jain Vijaya Press, Surat.

संक्षिप्त परिचय ।

लाला चिरंजीलालजी बैंकर पानीपत

पानीपत-यह युधिष्ठिरादि पाचो पाडवोमेंसे किसी अन्यतम पांडवका वसाया हुआ एक अति प्राचीन ऐतिहासिक प्रसिद्ध स्थान है। यह पंजाब प्रान्तमें देहलीसे ९९ मील उत्तरकी दिशामें ई० आई० आर० रेलवेकी लाइनपर स्थित है। पानीपतसे कुछ दूरपर कुरुक्षेत्रके मैदानमें कौरव और पाडवोका महाभारत युद्ध हुआ था और इसी मैदानमें विक्रम संवत १६०० से अबतक दो तीन वादशाहोके इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हो चुके हैं।

वर्तमानमें इस नगरकी जनसंख्या अनुमान तीसहजार (३००००) के है। जिसमें तीन हिस्से मुसलमान और एक हिस्सेमें जैन तथा हिन्दू हैं।

यहांपर अनुमान ३०० घर अग्रवाल जैनियोके हैं और चार श्री जिनमदिर हैं। इनमें वडे मदिरकी बिल्डिग अति विशाल है। वृद्ध जनोसे यह जनश्रुति चली आरही है कि पुर्व समयमें यहां पर २२ वाईस मंदिर तथा चैत्यालय थे, पूर्वजनोंने उनका ह्रास देखकर सब जीर्ण मंदिरोकी प्रतिमायें उठवाकर वडे मंदिरजीमें विराजमान करवा दी। यह बड़ा मंदिर वर्तमान समयमें विशाल दुर्गके समान बना हुआ है। दूसरे वाजारवाले मदिरमें सुनहरी तथा मीनाकारीका काम भी दर्शनीय है। उसमें अनुयोगोंके अनुसार क्षेत्रोंके नक्शे तथा पौराणिक भावोंके चित्र बड़ी मनोहरतासे चित्रित किये गये हैं। यहांके पीतलके वर्तन और ऊनी कम्बल प्रसिद्ध हैं जो यहांसे वहुत दूर देशान्तरोको जाते हैं। यहांके जैनी भाई

मध्यम स्थितिके व्यवहार कुशल, उद्योगी, धर्मात्मा तथा विद्याप्रेमी हैं। यहांकी जैन समाजके सामाजिक सगमके प्रेम और उत्साहसे १२००) रुपये माहवारी खर्चसे चलनेवाली जैन हाईस्कूल और श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रशादजीके करकमलोंसे स्थापित संस्कृत धर्म विद्यालय नामकी संस्थायें बराबर काम कर रही हैं।

मंदिरोंका प्रबंध भी अत्युत्तम है। गत वर्षके चौमासेकी उप स्थितिमें उक्त ब्रह्मचारीजीकी ही प्रेरणासे पानीपतके खिरनी-सरायके मुहल्लेमे पंचायतकी तरफसे एक चैत्यालय बन रहा है। गत साल यहांकी जैन समाजने करनाल जिलेके ग्रामवासी जैनियोंका अज्ञानरूप अंधकार हटानेके लिये उपदेशको द्वारा जैन धर्मका प्रचार भी कराया था।

इसी नगरमें अग्रवाल वंशके सिंहल गोत्रमें लाला इच्छाराम-जीके घर लाला कुसुंभरीदासजी उत्पन्न हुए जिनके पुत्ररत्न लाला बद्रीदासजी हुए इन्होंने अपने पुण्योदय तथा उद्योगबलसे वर्तमान गवर्नमेन्टसे-पेशावर, नौसेरा, रिसालपुर, रावलपिंड़ी, स्यालकोट, लाहौर, फीरोजपुर, जालंधर, अम्बाला, मेरठ, मथुरा, लखनऊ, कानपुर, फैजाबाद, इलाहाबाद, दानापुर, कलकत्ता, मऊ छावनी, नसीराबाद और नीमच शहरके सेनाविभागकी कोषाध्यक्षता प्राप्त की जिससे बहुत कुछ द्रव्य और यशका उपार्जन किया। आप धर्मात्मा और दानशील भी थे। आपने विक्रम सं० १९६२में बिरादरीके अनुमान साड़ेछैसौ ६५० आदमियोंको साथ लेकरके तीर्थक्षेत्र श्री गिरनारजीका संघ चलाया था और उसके कुछ वर्ष बाद संवत् १९६६ में तीर्थक्षेत्र श्री हस्तिनापुरजीका भी

संघ चलाया था। उनकी स्त्री श्रीमती श्री मुन्नीबाईसे शुभ मिती आश्विन शुक्ला २ विक्रम संवत १९४८ ईस्वीको लघु पुत्र लाला चिरंजीलालजीका शुभ जन्म हुआ। चिरंजीलालजीके इस समय छोटी स्त्रीसे उत्पन्न १ एक पुत्री और ५ पुत्ररत्न विद्यमान हैं।

ऊपर वर्णन किये गये बाजारवाले मंदिरकी बिम्बप्रतिष्ठा संवत १९६९ में हुई थी। उस समय लाला बद्रीदासजीकी तरफसे प्रतिष्ठामे आये हुए अनुमान वीसहजार भाइयोका ज्योनारादिकसे पाच दिनतक बराबर जैनधर्मके प्रभावनार्थ सत्कार किया गया था। आपने बाजारके मंदिरमे सुनहरी तथा चित्रकारीका काम करानेके लिये अच्छी सहायता की थी।

वर्तमानमे चलती हुई " जैन हाईस्कूल " और सस्कृत धर्मविभाग नामकी संस्थाओंमे भी आप मासिकरूपमे अच्छी सहायता देरहे है व आपने स्कूलमें एक कमरा भी अपनी तरफसे बनवा दिया है। और यथावसर धार्मिक तथा पंचायती कामोमे द्रव्यादिककी सहायता देनेमें भी कमी नही करते है। आप पानीपतके खिरनी-सरायके मुहल्लेमें रहते हैं। वह शहरसे अनुमान एक मील दूर है।

उस मुहल्लेमे जैनियोंके दश या बारह घर हैं। वे शहरमे दर्शन करनेसे वंचित रहते थे। इसलिए गत साल चौमासेकी स्थितिमें श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने प्रेरणा करके वहांपर चैत्यालय बनानेकी आवश्यकता दिखाई थी। उस समय आपने अपना असीम धर्मप्रेम प्रदर्शित कर चैत्यालय बननेके लिये २५००) रुपयेकी रकम चिट्ठमें लिख दी थी। अब वह चैत्यालय बन रहा है।

सन् १९२१में जो संघ श्री जैनवद्री मूलवद्रीजीका लाला हुकमचन्द जगाधरमल दिल्लीवालोंने चलाया था उनके साथ आप भी दर्शनके लिये सकुटुम्ब गये थे। उस मौकेपर श्री जैनवद्रीजीमें रथयात्रा हुई थी उसमें आप ९००) नौसो रुपै देकर श्री जिनेन्द्र भगवानकी खवासीमें वैठे थे।

आप आजकल नेशनल वैंक ऑफ इन्डिया कानपूर तथा इम्पीरियल वैंक ऑफ इंडिया स्यालकोटके वडे खजानची हैं। पंजाव गवरमेन्टने आपको स्यालकोट जिलेमें नोटेरी पवलिक भी वनाया हुवा है।

गत वर्ष ब्र० शीतलप्रसादजीके यहां (पानीपत) चौमासा करनेकी खुशीमें आपने तमाम विरादरीको अपनी तरफसे प्रीति-भोज भी दिया था।

इस साल यहां चैत्रके वार्षिक रथोत्सवके समयपर पंजाव प्रांतिक सभाका अधिवेशन हुआ था। उस समय श्रीमान् ब्रह्म-चारीजीकी प्रेरणासे लाला चिरंजीलालजीने प्रवचनसारकी ज्ञेय-तत्वप्रदीपिकाकी हिन्दी टीकाके प्रकाशनार्थ तथा वह "जैनमित्र" के ग्राहकोंको उपहारार्थ देनेके लिये नवशत ९००) रु० देनेकी स्वीकारता दे दी थी। उन्हीं धर्मात्मा महोदयकी सहायतासे यह ग्रन्थ आप पाठक महानुभावोंके दृष्टिगोचर होरहा है। शुभमिति।

विनीत लेखक—

फुलजारीलाल जैन ट्रैंड शास्त्री;

जैन हाई स्कूल,

पानीपत।

शुद्धाशुद्धिपत्र ।

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१८	१७	होने	होते हुए
३३	२	लायग्ग	लोयग्ग
४०	५	उनको	उनकी
,,	६	अवस्थामई	अवस्था भई
४२	६	जटल	अटल
४३	९	यहां अरहंत....	(यहां अरहंत पनेसे मतलब है)
४४	१४	ध्रौव्य	व्यय ध्रौव्य
४५	१४	प्रत्यभिज्ञाम्र	प्रत्यभिज्ञाद्य
४६	३	होती है–	होता है–
४७	१३	करण	कारण
५४	११	ऐसी	ऐसा
६५	९	पर्याव	पर्याय
७६	१४	तद् भाव	तद्भाव
,,	१५	अतद्माव	अतद्भाव
७८	२२	सो द्रव्यकी....	पर्यायकी सत्ता है सो द्रव्यकी सत्ता
७९	५	इन द्रव्य	द्रव्य
८८	८	स्येत स्य	स्येतरस्य
९०	१६	सदसदभाव	सदसद्भाव
९४	१६	शुद्धोपयीग	शुद्धोपयोग

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१०९	२२	अभेदस्वरू	अभेद स्वरूप
११९	७	महत्व	महत्य
,,	९	वकार	विकार
१२३	१९	मूल	भूल
१२९	८	मवो	भवो
१२९	१२	वैसा नित्य	वैसा
१६८	२३	थिरता	णोंसे शुद्ध ध्यानके बढ़ा- नेवालेके मनकी थिरता
१४६	१९	क्योंकि	क्योंकि एकेन्द्रिय
१४८	११	१०४	१९४
१९२	१३	आ	हुआ
१९६	१०	कारण	करण
१९८	१९	३९	३६
१९८	१७	३९	३६
१६१	२२	परिणमन	परिणाम
१६६	२२	अन्नत	अनंत.
१६७	१२	अरुलघु	अगुरुलघु
१६८	९	समुदाय	समुद्घात
१७४	१९	पुगलस्स	पुग्गलस्स
१८०	२४	सयमसद्दा	सयमसद्दो
१८४	८	गंध है	गंध
१९२	७	सूक्ष्म	सूक्ष्मस्थूल
१९९	१३	पदेश	प्रदेश

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
२०३	१६	जगहमिल जगहमिल	जगहमिल
२११	१५	सभव	संभव
२२३	१४	इन्द्रिय	इंदिय
२२८	२	तेघां	तेषां
२३१	५	कथायः	कषायः
२३४	१७	फारिण्या	करिष्या
२३८	१९	अत्थित्त	अत्थित्तणिच्छिद
,,	२०	प	पज्जाया
२५०	१३	कलिमा	कालिमा
,,	१६	पुव	पूवं
२५३	१९	पुरुपाका	पुरुषाकार
२५८	२२	संस्कार	संसार
२६२	१६	चित्तको	चित्त हो
२६८	१२	योग	प्रयोग
२७०	९	निणित्त	निमित्त
,,	१५	च्छुद्ध	च्छुद्ध
२७१	१७	सद्धो	सद्दो
२८३	१	आकर	आकार
२८४	२०	लोग	लोक
२८५	९	वाथर	वादर
२८७	४	निष्ठ	तिष्ठ
२९०	१३	वास्त	वास्तव

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
२९७	२३	स्वयं	स्वयं हो जाती
३१२	२१	कर्मबंधको	कर्मबन्धकी
३१७	९	अलगाह्रो	अवगाहो
३१८	१४	वस्तु स्वरूपके	वस्तु स्वरूपकी
४१९	१४	सम्बन्धी	सम्बन्ध
३२४	१	पारि	पि
,,	१४	परमराग	शुभ राग
३३४	२३	करे	करे
३३६	९	परिणामन	परिणमन
३४७	२३	पापात्	यायात्
,,	,,	प्रकाशा	प्रकाश्या
३५३	२	नोकर्म	कर्म्म नोकर्म्म
३६१	१९	अपात	आपात
३६२	२३	ही	होता है वही
३६५	११	िच्छपतं	पिच्छयतं
,,	१३	आण	ज्ञाण
,,	१८	चडक्के	चउक्के
३६८	५	व	तत्र
३७७	२३	जाता ही	जाता है वही
३८२	५	हुआ हुआ	हुआ
३८३	२३	अभिलाषी	अभिलापी
३९३	१२	हुए	हूए
,,	१४	इब्राहीम	इब्राहीम
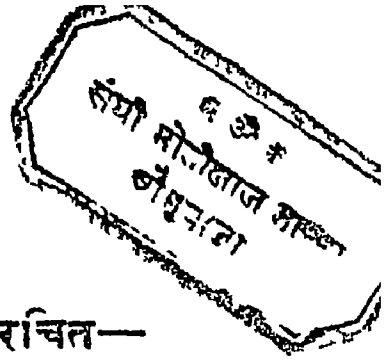
श्री कुंदकुंदस्वामी विरचित—

श्री प्रवचनसारटीका। *

द्वितिय खण्ड अथवा

ज्ञेयतत्त्वदीपिका।

दोहा-प्रथम नमो श्री आदिको, अन्त नाम महावीर।
तीर्थंकर चौबीस ये, वर्तमान जुगवीर ॥ १ ॥
प्रगटायो जिन धर्मको, सम्यक् सुखदातार।
भविजन पाय सुमार्गको, तिरे भवोदधि खार ॥ २ ॥
तिनकी वाणी रसभरी, आतम अनुभवकार।
वन्दौं मन वचकायसे, पाऊं ज्ञान उदार ॥ ३ ॥
वृषभसेनको आदि दे, गौतम गणधर सार।
भद्रबाहु श्रुतकेवली, कुंदकुंद गुणधार ॥ ४ ॥
उमास्वामि महाराजवर, भद्र समन्त महान
पूज्यपाद इत्यादि गुरु, वंदूं उपजै ज्ञान ॥ ५ ॥
सिद्ध परम सुखके धनी, सत्य कृतारथ सूर।
परमातम पावन परम, वंदूं तम हो दूर ॥ ६ ॥
श्रीमंधरको आदि ले, वीस विदेह सुनाथ।
राजत प्रगटावत धरम, नमहुं जोड़ जुग हाथ ॥ ७ ॥
षोड़श कारण भावना, दशलक्षण वर धर्म।
रत्नत्रय हिंसा रहित, नमहुं धर्म हर कर्म ॥ ८ ॥

---

*प्रारंभ-वैशाख वदी ८ वी० १९८० ता० ८-४-१९२३ सवेरा होते हुवे।

आगे इस द्वितीय अधिकारकी सूची लिखते हैं-

इसके आगे " सत्ता संबंधेदे " इत्यादि गाथा सूत्रसे जो पूर्वमे संक्षेपसे सम्यग्दर्शनका व्याख्यान किया था उसीको यहां विषयभूत पदार्थोंके व्याख्यानके द्वारा एकसो तेरह गाथाओंमें विस्तारसे व्याख्यान करते हैं। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि पूर्वमें जिस ज्ञानका व्याख्यान किया था उसी ज्ञानके द्वारा जानने-योग्य पदार्थोंको अब कहते है। यहां इन एकसौ तेरह गाथाओंके मध्यमे पहले ही "तम्हा तस्स णमाइ" इस गाथाको आदि लेकर पाठके क्रमसे ३५ पैंतीस गाथाओ तक सामान्य ज्ञेय पदार्थका व्याख्यान है। उसके पीछे " दव्व जीवमजीवं " इत्यादि १९ उगनीस गाथाओ तक विशेष ज्ञेय पदार्थका व्याख्यान है। उसके पीछे " रूपदेसेहिं समग्गो लोगो " इत्यादि आठ गाथाओ तक सामान्य भेदकी भावना है फिर "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि ५१ इक्यावन गाथाओतक विशेष भेदकी भावना है। इस तरह इस दूसरे अधिकारमे समुदाय पातनिका है। अब यहां सामान्य ज्ञेयके व्याख्यानमे पहले ही नमस्कार गाथा है फिर द्रव्य गुण पर्यायकी व्याख्यान गाथा है। तीसरी स्वसमय परसमयको कहनेवाली गाथा है। चौथी द्रव्यकी सत्ता आदि तीन लक्षणको सूचना करनेवाली गाथा है इस तरह पीठिका नामके पहले स्थलमे स्वतंत्ररूपसे गाथाए चार हैं। उसके पीछे " सब्भावो हि सहावो " इत्यादि चार गाथाओ तक सत्ताके लक्षणके व्याख्यानकी मुख्यता है। फिर ' ण भवो भंग विहीणो" इत्यादि तीन गाथाओतक उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणके

कथनकी मुख्यता है फिर " पाडुब्भवदि य अण्णो " इत्यादि दो गाथाओंसे द्रव्यकी पर्यायके निरूपणकी मुख्यता है। फिर " ण हवदि जदि सद्दव्वं" इत्यादि चार गाथाओंमे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इस सम्बन्धमे युक्तिको कहते हैं। फिर "जो खलु दव्व-सहाओ" इत्यादि सत्ता और द्रव्यमे गुण गुणी सम्बन्ध है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, द्रव्यके साथ गुण और पर्यायोका अभेद है इस मुख्यतामे "णत्थि गुणोत्ति य कोई" इत्यादि दूसरी ऐसी दो स्वतत्र गाथाएं हैं। फिर द्रव्यका द्रव्यार्थिक नयसे सत्का उत्पाद होता है तथा पर्यायार्थिक नयसे असत्का उत्पाद होता है इत्यादि कथन करते हुए " एवं विहं " इत्यादि गाथाएं चार हैं। फिर "अत्थित्ति य" इत्यादि एक सूत्रसे सप्तभंगीका व्याख्यान है। इस तरह समुदायसे चौबीस गाथाओंसे और आठ स्थलोसे द्रव्यका निर्णय करते हैं।

आगे सम्यक्त्वको कहते हैं:—

गाथा—

तम्हा तस्स णमाइं, किच्चा णिच्चंपि तं मणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो, परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥ १ ॥

संस्कृत छाया—

तस्मात्तस्य नमस्या, कृत्वा नित्यमपि तन्मना भूत्वा।
वक्ष्यामि संग्रहात् परमार्थविनिश्चयाधिगम ॥ १ ॥

सामान्यार्थ.—इसलिये उस साधुको नमस्कार करके तथा नित्य ही उनमें मन लगाकर संक्षेपसे परमार्थको निश्चय करानेवाले सम्यक्त भावको अथवा सम्यक्तके विषयभूत पदार्थको कहूगा।

अन्वय सहित विशेषार्थः—क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना साधु नहीं होता है (तम्हा) इस कारणसे (तस्स) उस सम्यक्त सहित सम्यग्चारित्रसे युक्त पूर्वमें कहे हुए साधुको (णमाइं किच्चा) नमस्कार करके (णिच्चंपि त मणो होज्ज) तथा नित्य ही उन साधुओंमें मनको धारण करके (परमट्ठविणिच्छयाधिगमं) परमार्थ जो एक शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा उसको विशेष करके संशय आदिसे रहित निश्चय करानेवाले सम्यक्तको अर्थात् जिस सम्यक्तसे शंका आदि आठ दोष रहित वास्तवमे जो अर्थका ज्ञान होता है उस सम्यक्तको अथवा अनेक धर्मरूप पदार्थ समूहका अधिगम जिससे होता है ऐसे कथनको (सगहादो) संक्षेपसे (वोच्छामि) कहूंगा।

भावार्थ- यहांपर श्री कुंदकुंदाचार्य देव पहले ज्ञानतत्त्व अधिकारको कहकर अव ज्ञेयतत्त्व अधिकारके कहनेकी प्रतिज्ञा करते है। सम्यक् दर्शन यथार्थ पदार्थोंके ज्ञान तथा श्रद्धानसे होता है इस लिये सम्यक्तके विषयभूत पदार्थोंका कथन इस अधिकारमे किया जायगा। क्योंकि जवतक स्वपर पदार्थका भेद ज्ञान नही होता है तवतक सम्यग्दर्शनका लाभ नही हो सक्ता। सम्यक्तकी प्राप्तिका राजमार्ग अधिगम है। शास्त्र व गुरुके उपदेश द्वारा पदार्थोंका जब ग्रहण होकर उनका मनन किया जाता है तव देशनालब्धि होती है। इसी ही लब्धिके द्वारा कर्मोंकी स्थिति घटती है। और प्रायोग्य लब्धि होकर सम्यक्तके लिये साक्षात् कारणरूप परिणामोको प्रगट करनेवाली करणलब्धि होती है। जव लोकमे सत्ताको रखनेवाले द्रव्योंके स्वभावका निश्चय किया जाता है तव सर्व द्रव्य भिन्न२ भासने लगते है और तब ही अपना शुद्धात्मा भी

अपनेको भिन्न झलकता है। इस सम्यक्तके विषयभूत पदार्थमालिकाको कहते हुए आचार्यने, उन साधुओंको द्रव्यभावसे नमन करके जिन्होंने सम्यक्त सहित चारित्रका यथार्थ पालन किया है उन साधुओंके द्वारा प्राप्त धर्मोपदेशको चित्तमें धारण किया है। आचार्य उसी उपदेशमें तन्मई होकर संक्षेपसे जीवादि पदार्थोंका व्याख्यान करते हैं। हम पाठकोंको भी योग्य है कि हम अपने उपयोगको सब तरफसे खींचकर इसी व्याख्यानके विचारमें तन्मय करें तब हमको भी यथार्थ बोध होगा और हमारे भीतर भी वही भाव झलकेगा जो श्री कुंदकुंद महाराजके अंतरंगमें उन सूत्रोंके व्याख्यानकालमें था। विना एकाग्र भावके ज्ञानका विकाश नहीं होता है ॥ १ ॥

उत्थानिका—आगे पदार्थके द्रव्य गुण पर्याय स्वरूपको कहते हैं:—

अत्थो खलु दव्वमओ, दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया, पज्जयमूढा हि परसमया ॥ २ ॥

अर्थः खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि।
तैस्तु पुनः पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमयाः ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—निश्चयसे पदार्थ द्रव्य स्वरूप है। द्रव्य गुण स्वरूप कहे गए हैं। उन द्रव्य व गुणोंके ही परिणमनसे पर्यायें होती हैं। जो पर्यायोंमें मोही हैं वे ही निश्चयसे परसमय रूप अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(खलु) निश्चयसे (अत्थो) ज्ञानका विषयभूत पदार्थ (दव्वमओ) द्रव्यमई होता है। क्योंकि वह पदार्थ तिर्यक् सामान्य तथा ऊर्द्धता सामान्यमई द्रव्यसे निष्पन्न होता है अर्थात् उसमें तिर्यक् सामान्य और ऊर्द्धता सामान्य

रूप द्रव्यका लक्षण पाया जाता है । इन दो प्रकारके सामान्यका स्वरूप ऐसा है। एक ही समयमें नाना व्यक्तियोमे पाया जानेवाला जो अन्वय उसको तिर्यक् सामान्य कहते है । यहां यह दृष्टांत है कि जैसे नाना प्रकार सिद्ध जीवोमें यह सिद्ध है, यह सिद्ध हैं ऐसा जोड़ रूप एक तरहके स्वभावको रखनेवाला सिद्धकी जातिका विश्वास है–इस एक जातिपनेको तिर्यक् सामान्य कहते है तथा भिन्न २ समयोमें एक ही व्यक्तिका एक तरहका ज्ञान होना सो ऊर्ध्वता सामान्य कहा जाता है । यहां यह दृप्टात है कि जैसे जो कोई केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मुक्तात्मा है दूसरे तीसरे आदि समयोमे भी वही है ऐसी प्रतीति होना सो ऊर्ध्वता सामान्य है । अथवा दोनो सामान्यके दो दूसरे दृष्टात हैं–जैसे नाना गौके शरीरोंमे यह गौ है, यह गौ है ऐसी गो जातिकी प्रतीति होना सो तिर्यग्सामान्य है । तथा जो कोई पुरुप वालकुमारादि अवस्थाओमें था सो ही यह देवदत्त है ऐसा विश्वास सो उर्ध्वता सामान्य है।

(दव्वाणि) द्रव्य सब (गुणप्पगाणि) गुणमई (भणिदाणि) कहे गए हैं । जो द्रव्यके साथ अन्वयरूप रहें अर्थात् उसके साथ साथ वर्तें वे गुण होते हैं–ऐसा गुणका लक्षण है । जैसे सिद्ध जीव द्रव्य है सो अनन्तज्ञान सुख आदि विशेष गुणोसे तथा अगुरु लघुक आदि सामान्य गुणोंसे अभिन्न है- अर्थात् ये सामान्य विशेष गुण सिद्ध आत्माके साथ सदा पाए जाते हैं तैसे ही सर्व द्रव्य अपने२ सामान्य विशेष गुणोसे अभिन्न हैं इसलिये सब द्रव्य गुणरूप होते हैं ।

(पुणो) तथा (तेहि पज्जाया) उन्हीं पूर्वमे कहे हुए लक्षण

स्वरूप द्रव्य व गुणोसे पर्यायें होती है। जो एक दूसरेसे भिन्न अथवा क्रमक्रमसे हो उनको पर्याय कहते हैं यह पर्यायका लक्षण है। जैसे एक सिद्ध भगवानरूपी द्रव्यमें अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारमयी गति मार्गणासे विलक्षण सिद्धगति रूप पर्याय है तथा अगुरुलघु गुणमे षट्गुणी वृद्धि तथा हानिरूप साधारण स्वाभाविक गुण पर्यायें है तैसे सर्व द्रव्योमे स्वाभाविक द्रव्य पर्यायें, स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्यायें तैसे ही स्वाभाविक और वैभाविक गुण पर्यायें होती हैं। " जेसिं अत्थिसहाओ " इत्यादि गाथामे तथा " भावा जीवादीया " इत्यादि गाथामे श्री पचास्तिकायके भीतर पहले कथन किया गया है सो वहांसे यथासभव जान लेना योग्य है। (पज्जय मूढा) जो इस प्रकार द्रव्य गुण पर्यायके ज्ञानसे मूढ है अथवा मै नारकी आदि पर्यायरूप नहीं हू इस भेदविज्ञानको न समझकर अज्ञानी हैं वे (हि) वास्तवमे (परसमया) परात्मवादी मिथ्यादृष्टी है। इसलिये यही जिनेन्द्र परमेश्वरकी करी हुई समीचीन द्रव्यगुण पर्यायकी व्याख्या कल्याणकारी है यह अभिप्राय है॥२॥

भावार्थ-ज्ञानके विषयभूत पदार्थ होते है। पदार्थ निश्चयसे द्रव्यरूप होते है। द्रव्यमे सामान्यपना होता है। कालकी अपेक्षा हरएक भिन्न२ समयमे भी यह वही है ऐसी प्रतीतिको कराता है इसको ऊर्ध्वता सामान्य कहते है। यही द्रव्यका स्वभाव द्रव्यकी नित्यताका वतानेवाला है। तथा जो द्रव्य अनेक हैं जैसे जीव, पुद्गल और कालाणु उनमें हरएक समयमे सवको एक जाति रूपसे प्रतीति करानेवाला तिर्यक् सामान्य है। जितने जीव हैं उन सबको हम जातिकी अपेक्षा एक समझेंगे क्योंकि जीवपना उन

सर्वोमें हरएक समयमें पाया जाता है । जो द्रव्य जगतमें एक एक ही हैं जैसे धर्म, अधर्म और आकाश इनमे ऊर्ध्वता सामान्यपना तो सहजमे समझमे आता है क्योंकि स्वाभाविक परिणमन हरसमय होते हुए भी धर्म, अधर्म या आकाशका वोध वना रहता है। तिर्यक् सामान्यपना सिद्ध करनेके लिये यदि हम इनके प्रदेशोंकी कल्पना करके विचार करें और एक एक प्रदेशको एक एक व्यक्ति मान लें तो एक ही समयमे सर्व प्रदेशोमें यह धर्म, अधर्म या आकाश ही है ऐसी प्रतीति हो जायगी क्योकि जितने गुण एक प्रदेशमे है उतने ही सर्व प्रदेशोमे हैं ।

द्रव्य गुणमई होते है इसका भाव यह है कि द्रव्य एक प्रदेशी या वहु प्रदेशी जितने वड़े आकाशके प्रदेशोकी अपेक्षासे होते हैं उतना वडा उनका आकार होता है । जिस वस्तुकी सत्ता इस जगतमे मानी जायगी उस वस्तुका कोई न कोई आकार अवश्य होगा । जितने आकाशमे जो वस्तु पाई जाती है उतना ही उस वस्तुका आकार है। एक परमाणु छुटी हुई अवस्थामें वहु प्रदेशी होनेकी शक्तिको रखते हुए भी तथा एक कालाणु सदा ही एक प्रदेशी रहनेके कारणसे एक प्रदेशी द्रव्य हैं जब कि हरएक जीव हरएक पुद्गलका स्कध, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा आकाश द्रव्य वहु प्रदेशी हैं । जितना वड़ा जो द्रव्य है उतनेमें उस द्रव्यके सर्वसामान्य और विशेष गुण व्यापक होते है । जहां एक गुण है वही सर्व गुण हैं । जैसे एक जीव असख्यात प्रदेशी है उसके हरएक प्रदेशमे हरएक सामान्य और विशेष गुण व्यापक है इसी लिये द्रव्यको गुणोका अखंड पिंड या समुदाय कहते हैं। अस्तित्व,

वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व तथा प्रमेयत्व ये सामान्य गुण हैं जो सर्व द्रव्योमें साधारणतासे पाए जाते है। विशेष गुण वे हैं जो हरएक द्रव्यमे भिन्न२ होते हैं। जीवके विशेष गुण पुद्गलमें नही, पुद्गलके विशेष गुण जीवमे नही। जीवके विशेष गुण चेतना, सुख, वीर्य्य, सम्यक्त, चारित्र हैं, पुद्गलके विशेष गुण स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हैं, धर्मका विशेष गुण जीव पुद्गलको गति हेतुपना, अधर्मका स्थिति हेतुपना, आकाशका सबको अवगाह हेतुपना तथा काल द्रव्यका सबको वर्तना हेतुपना विशेष गुण हैं। यद्यपि द्रव्यमे अनंतगुण होते हैं परंतु ग्रन्थकारोने थोडेसे ही गुण वर्णन किये है जिनसे हरएक द्रव्य भिन्न २ करके पहचाना जा सके। जब द्रव्योकी पहचान होजाती है और उनका वर्ताव होने लगता है तब अन्य भी शक्तियां या गुण अनुभवमें आने लगते है। एक द्रव्यके सब गुण सब गुणोमे परस्पर व्यापक होते है। जीवमे जहां चेतना है वही अन्य सर्व गुण हैं। जो द्रव्य अनेक है जैसे पुद्गल, जीव और कालाणु वे सदा अनेक रूप रहते हैं—कभी भी मिलकर एक रूप नही होजाते हैं। पुद्गलके परमाणुओमे इतनी विलक्षणता है कि वे अलग भी रहते है तथा परस्पर स्निग्ध रूक्ष गुणके कारणसे मिल भी जाते है और तब वे स्कंध कहलाते हे। ऐसे स्कधोसे परमाणु छूटते भी रहते हैं और उनमे मिलते भी रहते है। ऐसा मिलना और बिछुडना जीवोंमें तथा कालाणुओमे कभी न था, न है, न होगा। सर्व जीव सदासे जुदे जुदे हैं व रहेंगे—ऐसे ही सर्व कालाणु सदासे जुदे २ हैं व रहेंगे। पुद्गलका हरएक परमाणु अपने गुणोकी समानताकी अपेक्षा

दूसरे परमाणुसे, हरएक जीव दूसरे जीवसे व हरएक कालाणु हरएक कालाणुसे सदृश है। इसीलिये जहां शुद्ध द्रव्य स्वभावकी अपेक्षासे देखकर कहा गया है वहां "सब्बे जीवा सुद्धा" अर्थात् सर्व जीव शुद्ध हैं ऐसा कहा गया है क्योंकि भिन्न२ होनेपर भी स्वभाव एकका दूसरेके बराबर है।

द्रव्य तथा गुणोंमे परिणमन सदा हुआ करता है क्योंकि द्रव्यत्व नामका सामान्य गुण सब द्रव्योंमें व्यापक है जिसके कारण कोई द्रव्य तथा उसके गुण कूटस्थ नित्य नहीं रह सक्के किन्तु उनमे सदा पर्यायें या अवस्थाएं होती रहती है। पर्यायें एक दूसरेके पीछे नवीन २ होती रहती हैं। उनके दो भेद हैं—व्यंजन पर्याय या द्रव्यपर्याय, दूसरी अर्थपर्याय या गुणपर्याय। द्रव्यके प्रदेशोंमे परिणमनको अर्थात् आकार परिवर्त्तनको व्यंजन या द्रव्य पर्याय तथा अन्य गुणोमे परिणमनको अर्थ या गुणपर्याय कहते है। इन दोके भी दो दो भेद हैं—स्वभाव द्रव्य या व्यजन पर्याय। और विभाव द्रव्य या व्यंजन पर्याय तथा स्वभाव अर्थ पर्याय और विभाव अर्थ पर्याय। स्वभाव पर्यायें हरएक द्रव्यमे अपने स्वभावसे हुआ करती है। विभाव पर्यायें अशुद्ध जीव और पुद्गलमे ही होती है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, सिद्ध आत्मा, तथा शुद्ध अबध परमाणुका जो आकार है वह स्वभाप व्यजन या द्रव्य पर्याय है। इनके आकारका प्रति समय एकसा रहना अन्य रूप न होजाना यही सदृश परिणमन स्वभाव पर्याय है। ससारी जीवका नाम-कर्मके उदयके कारणसे नर, नारक, देव, तिर्यंच चार गतियोमे भ्रमण करते हुए नाना प्रकार अपने आकारका शरीरके प्रमाण वदलना सो

विभाव द्रव्य या व्यंजन पर्याय है। तथा पुद्गलके स्कंधोका परमाणुओके मिलने या विछुडनेसे आकारका बदलना सो विभाव व्यंजन या द्रव्यपर्याय है। स्वभाव अर्थ या गुणपर्याय अगुरुलघु गुणके द्वारा सब शुद्ध द्रव्योके सब गुणोमे होती है—इस स्वभाव परिणमनमे भी गुणोका सदृशपना रहता है। जैसे सिद्ध आत्मामे जो अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य आदि है वे हरएक समय उतने ही बने रहते, कम व बढती नही होते। यदि कम व बढती होजावें तो उस परिणमनको विभाव परिणमन कहेंगे, स्वभाव परिणमन नहीं कह सक्ते हैं। गुणोंके एक समान रहनेपर भी परिणमन इसीलिये मानना होगा कि वस्तुका स्वभाव द्रवण या परिणमन रूप है। हम अल्पज्ञानियोको इस परिणमनका अनुभव अशुद्ध पुद्गल तथा जीवोमे प्रत्यक्ष दीखता है। कपडा रक्खा रक्खा जीर्ण हो जाता है। ज्ञान अनुभव होते होते बढता जाता है। यदि परिणमन शक्ति गुण या द्रव्यमे न होती तो अशुद्ध द्रव्योमे भी परिणमन न होता—जब होता है तब वह शक्ति शुद्ध द्रव्योंमे भी काम करती रहेगी। इसी अनुमानसे हम स्वभाव अर्थ या गुणपर्यायोका अनुमान कर सक्ते है। विभाव अर्थ या गुणपर्यायें ससारी जीव तथा स्कधोमे होती है जैसे जीवके मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि व असयम या सयमके स्थानोका परिणमन तथा स्कधोमे रससे अन्य रस, गधसे अन्य गध, वर्णसे अन्य वर्ण, जैसे खट्टे आमका मीठा हो जाना। यहापर एक बात और जाननेकी है कि यद्यपि शुद्ध परमाणु जघन्य स्निग्धता रूक्षताकी अपेक्षासे अबध है परन्तु उसमे परिणमन होता रहता है जिससे कालातरमे जब उसमें अधिक अश स्निग्धता या रूक्षताके

होते तब वह परमाणु बंध योग्य होजाता है। यह बात आत्माके स्वभावमें नहीं होती है क्योंकि आत्माके बंध रागद्वेष मोहके कारणसे होता है सो भाव शुद्धात्माके विना मोहनीय कर्मके सम्बन्धके कभी सभव नही है। जो कोई इन द्रव्यगुण पर्यायोको नहीं समझते अथवा जो नर नारकादि अशुद्ध पर्यायोमें आशक्त है—अपनेको नर नारकादि रूप ही मानकर चेष्टा किया करते है—निरंतर उस शरीरके योग्य क्रियाओमे ही रत रहते है और अपने शुद्ध आत्माके स्वभावको नहीं पहचानते हैं वे ही परसमयरूप मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा हैं। तात्पर्य्य आचार्यका यही है कि इस परसमयपनेसे इस जीवने अपने आपको ससारमे पराधीन रखकर दुःख उठाया है। इसलिये सुखके अर्थी प्राणीको उचित है कि वह भेद विज्ञानके द्वारा अपने आत्माको जैसा उसका स्वभाव है वैसा जाने, माने और वैसा श्रद्धान करे, अपना मूढपना मेटकर चतुर यथार्थ ज्ञानी बने। यही कल्याणका मार्ग है। जो देहमे आसक्त हैं वे ही पुन. पुनः देहको धारण करते है, जैसा स्वामी पूज्यपादने समाधिशतकमें कहा है —

देहान्तरगतेर्बीज देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीज विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

अर्थात्—शरीरसे आत्माकी भावना ही अन्य देह प्राप्तिका बीज है जब कि आत्मामे ही आत्माकी भावना करनी देहसे रहित होनेका बीज है।

जब भेदविज्ञान होजाता है तव अपने स्वभावको सिद्ध परमात्माके समान अनुभव करता है जैसा समाधिशतकमे कहा है—

य: परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तत: ।
अहमेव मयोपास्यो नान्य: कश्चिदिति स्थिति: ॥ ३१ ॥

अर्थात्—जो परमात्मा है सो ही मै हूं, जो मै हू सो ही परमात्मा है इसलिये मेरेद्वारा मै ही उपासनाके योग्य हूं अन्य नही ऐसा वस्तुका स्वभाव है ।

तात्पर्य यह है कि निज स्वभावको जानकर सम्यग्दृष्टि होना चाहिये । यही हितका मार्ग है ॥ २ ॥

उत्थानिका—आगे यहा प्रसग पाकर परसमय और स्वसमयकी व्यवस्था बताते है —

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ ३ ॥

ये पर्यायेषु निरता जीवा: परसमयिका इति निर्दिष्टा: ।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया मन्तव्या: ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—जो जीव शरीर आदि अशुद्ध कर्मजनित अवस्थाओमे लवलीन है वे परसमय रूप कहे गए है तथा जो जीव अपने शुद्ध आत्माके स्वभावमे ठहरे हुए हैं वे स्वसमयरूप जानने चाहिये ।

अन्वय सहित विशेषार्थ:—(जे जीवा) जो जीव (पज्जयेसु णिरदा) पर्यायोमे लवलीन है । अर्थात् जो अज्ञानी जीव अहंकार तथा ममकार सहित हैं वे (परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा) परसमयरूप कहे गए हैं । विस्तार यह है कि मैं मनुष्य, पशु, देव, नारकी इत्यादि पर्याय रूप हू इस भावको अहंकार कहते है व यह मनुष्य आदि शरीर तथा उस शरीरके आधारसे उत्पन्न पचेंद्रियोके विषय

रूप सुख मेरे हैं इस भावको ममकार कहते हैं। जो अज्ञानी ममकार और अहंकारसे रहित परम चैतन्य चमत्कारकी परिणतिसे छुटे हुए इन अहंकार ममकार भावोसे परिणमन करते हैं वे जीव कर्मोंके उदयसे उत्पन्न परपर्यायमे लीन होनेके कारणसे परसमय रूप मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं।

(आदसहावम्मि ठिदा) जो ज्ञानी अपने आत्माके स्वभावमें ठहरे होते है (ते सगसमया मुणेदव्वा) वे स्वसमयरूप जानने चाहिये। विस्तार यह है कि जैसे एक रत्न दीपक अनेक प्रकारके घरोमे घुमाए जानेपर भी एक रत्न रूप ही है इसी तरह अनेक शरीरोमें घूमते रहने पर भी मैं एक वही शुद्ध आत्मद्रव्य हूं, इस तरह दृढ सस्कारके द्वारा जो अपने शुद्धात्मामें ठहरते है वे कर्मोके उदयसे होनेवाली पर्यायमे परिणति न करते हुए अर्थात् कर्मोदय जनित पर्यायको अपनेसे भिन्न जानते हुए स्वसमयरूप होते है ऐसा अर्थ है। ॥ ३ ॥

भावार्थ–इस गाथामे आचार्यने मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टीकी अपेक्षासे स्वसमय तथा परसमयका विचार किया है। जो जीव अपने आत्मस्वरूपको भूले हुए परमे आत्मबुद्धि करके जिस शरीरमें आप बसते हैं उस शरीररूप ही अपनेको मानते हैं और उस शरीरसे प्राप्त इन्द्रियोके विषयोके आधीन होकर उन हीके पोषणके लिये इष्ट सामग्रीके सचय करने व अनिष्ट सामग्रीसे बचे रहनेमें उद्यमी रहते हैं तथा इष्टके सयोगमे हर्षित और इष्टके वियोगमें शोकित होते हैं, धनादि स्वार्थके साधनेके निमित्त अन्याय व पर पीड़ाकारी कार्य करनेमे कुछ भी ग्लानि नही समझते है; जो स्त्री,

पुत्र, मित्र, गो, महिषादि चेतन पदार्थोंको तथा क्षेत्र, मकान, चादी, सोना आदि अचेतन पदार्थोंको अपना मानकर उनके लिये अति लालायित रहते हैं; ससार, शरीर, भोगोमें आशक्तवान होकर वैराग्यके कारणोंसे दूर भागते हैं वे इंद्रियोके सुखोंके लोलुपी परसमयरूप मिथ्यादृष्टी जानने।

इसके विरुद्ध जो अपना अहकार और ममकार पर पदार्थोंसे हटाकर नित्य ही निज आत्माके स्वरूपके ज्ञाता होकर उस आत्माको स्वभावसे शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमई, अमूर्तीक, अविनाशी सिद्ध भगवानके समान जानते हैं, अनेक घरोके समान अनेक पर्यायोमे अपने आत्माने भ्रमण किया है तौ भी वह स्वभावसे छुटा नही है ऐसा निश्चय रखते है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म तथा शरीरादि नोकर्म ये सब ही मेरे शुद्ध आत्मस्वभावसे भिन्न है व मैं अपने स्वभावोका ही कर्ता तथा भोक्ता हूं, पर भावोका व पर पदार्थोंकी अवस्थाओंका न कर्ता हूं न भोक्ता हू ऐसा जो वास्तवमे तत्त्वको जानते है और अपने आत्मस्वभावके मननसे उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्दके रुचिवत होगए है, जिनको यह जगत् कर्मका जाल स्वरूप व पाप पुण्य कर्मोके द्वारा परिणमन करता हुआ एक क्रीडा—घरके समान दिखता है, जो स्त्री, पुत्र, मित्रादिके सयोगको एक नौका पर कुछ कालके लिये एकत्रित पथिकोके सयोगके समान जानते है उनके मोहमें अज्ञानी होकर उनके लिये अन्याय व पर पीडाकारी कार्य नही करते हैं, जो गृहमें रहते हुए भी गृहकी पाशीमे नही फसते हैं, जो स्वतत्रताको उपादेय जानते है और कर्मकी पराधीनतासे मुक्त होना चाहते हैं

वे निज आत्मस्वभावमे आपा माननेवाले सम्यग्दृष्टी स्वसमय रूप हैं।

समयसारजीमे भी श्री कुंदकुंद महाराजने यही आशय सूचित किया है—

> जीवो चरित्तदसणणाणट्ठिद त हि ससमय जाणे ।
> पुग्गलकम्मुवदे सट्ठिद च त जाग परसमय ॥ २ ॥

भावार्थ—जो जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमे तिष्ठनेवाला है उसे स्वसमय रूप जानो तथा पुद्गल कर्मके उदयमे होनेवाली अनेक अवस्थाओको लिये हुए नामोमे जो जीव तिष्ठता है उसे परसमयरूप जानो ।

श्री देवसेनाचार्यने श्री तत्वसारमे कहा है—

> देहसुहे पडिवद्धो जे णय सो तेण लहइ णहु सुद्ध ।
> तच्च वियाररहिय णिच्च चिय झायमाणो हु ॥ ४७ ॥
> मुक्खो विणासरुवो चेयणपरिवज्जिओ सयादेहो ।
> तस्स ममत्ति कुणतो वहिरप्पा होइ सो जीवो ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो शरीरके सुखोमे उलझा हुआ होता है वह चित्तमें ध्यान करता हुआ भी नित्य, शुद्ध, निर्विकल्प आत्मतत्वको नहीं प्राप्त करता है, यह शरीर सदा ही अज्ञानी, विनाशरूप, व अचेतन है । जो जीव इससे ममत्व करते हैं वे वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है ।

सम्यग्दृष्टी अपने आपको कैसा समझता है इस विषयमे कल्लाणलोयणमे श्री अजित ब्रह्मचारीने इस तरह लिखा है—

इक्को सहावसिद्धो सोहं अप्पा वियप्पपरिमुक्को ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ३५ ॥

अरस अरूव अगधो अव्वावाहो अणतणाणमओ ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरण सो एक्क परमप्पा ॥ ३६ ॥

णाणाउ जो ण भिण्णो वियप्पभिण्णो सहावसुक्खमओ ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरण सो एक्क परमप्पा ॥ ४३ ॥

सुहअसुहभावविगओ सुद्धसहावेण तम्मय पत्तो ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरण सो एक्क परमप्पा ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मै एक स्वभावसे सिद्ध रूप, विकल्प रहित आत्मा हू, रस, रूप, गंध, स्पर्शसे रहित, अव्यावाध तथा अनतज्ञानमई हू, मै अपने ज्ञानादि गुणोसे भिन्न नहीं हू किंतु अन्य विकल्पोसे भिन्न हूं तथा स्वभावमे ही आनदमई हू । मै शुभ अशुभ भावोसे दूर हू, तथा शुद्ध स्वभावसे तन्मय हू । वही शुद्ध व परम आत्मा मेरे लिये शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है । वास्तवमे स्वसमय ही संतोषप्रद है ऐसा जानकर इसी भावका ग्रहण कार्यकारी समझना चाहिये ॥ ३ ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यका लक्षण सत्ता आदि तीनरूप है ऐसा सूचित करते है—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्ध ।
गुणवं च सपज्जाय, जत्त दव्वत्ति वुच्चंति ॥४॥

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्याय यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—जो नहीं छोड़ेहुए अपने अस्तित्व स्वभावसे

उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य संयुक्त है और गुणरूप व पर्याय सहित है उसको द्रव्य ऐसा कहते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(जत्) जो (अपरिच्चत्तसहावेण) नहीं त्यागे हुए स्वभाव रूपसे रहता है अर्थात् अपने अस्तित्व या सत् स्वभावसे भिन्न नहीं है, (उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है। (गुणवं च सपज्जायं) गुणवान होकर पर्याय सहित है इस तरह सत्ता आदि तीन लक्षणोको रखनेवाला है (तं दव्वत्ति) उसको द्रव्य ऐसा (वुच्चंति) सर्वज्ञ भगवान कहते हैं। यह द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्यायोके साथ लक्ष्य और लक्षणकी अपेक्षा भेद रूप होने पर भी सत्ताके भेदको नही रखता है। जिसका लक्षण या स्वरूप कहा जाय वह लक्ष्य है। और जो उसका विशेष स्वरूप है वह लक्षण है। तव यह द्रव्य क्या करता है? अपने स्वरूपसे ही उस विषपनेको आलंबन करता है। इसका भाव यह है कि यह द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप तथा गुणपर्याय रूप परिणमन करता है, शुद्धात्माकी तरह, जैसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समयमे शुद्ध आत्माके स्वरूप ज्ञानमई निश्चल अनुभवरूप कारण समयसार रूप पर्यायका विनाश होने शुद्धात्माका लाभ या उसकी प्रगटता रूप कार्य समयसारका उत्पाद या जन्म होता है, कारण समयसारका व्यय या नाश होता है और इन दोनो पर्यायोके आधार रूप परमात्म द्रव्यकी अपेक्षासे ध्रुवपना या स्थिरपना रहता है। तथा उस परमात्माके अनत ज्ञानादि गुण होते हैं। गति मार्गणासे विपरीत सिद्ध गति व इन्द्रिय मार्गणासे विपरीत अतीद्रियपना आदि लक्षणको रखनेवाली शुद्ध पर्यायें

होती हैं अर्थात् वह परमात्म द्रव्य जैसे अपनी शुद्ध सत्तासे भिन्न नहीं है एक है, पूर्वमे कहे हुए उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावोसे तथा गुण पर्यायोसे संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षासे भेद रूप होनेपर भी उनके साथ सत्ता आदिके भेदको नहीं रखता है, स्वरूपसे ही उसी प्रकारपनेको धारण करता है अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तथा गुणपर्याय स्वरूप रूप परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य अपने अपने यथायोग्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेसे तथा गुण पर्यायोके साथ यद्यपि संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद रखते हैं तथापि सत्ता स्वरूपसे भेद नहीं रखते हैं, स्वभावमे ही उन प्रकार रूपपनेको आलम्बन करते है, अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप या गुणपर्याय स्वरूप परिणमन करते हैं।

अथवा जैसे वस्त्र जब स्वच्छ किया जाता है तब अपनी निर्मल पर्यायमे पैदा होता है, मलीन पर्यायसे नष्ट होता है और इन दोनोके आधार रूप वस्त्र स्वभावमे ध्रुव या अविनाशी है तैसे ही अपने ही श्वेतादिगुण तथा मलीन यथा स्वच्छ पर्यायोंके साथ संज्ञा आदिकी अपेक्षा भेद होनेपर भी सत्ता रूपमे भेद नहीं रखता है, तब क्या करता है? स्वरूपसे ही उत्पाद आदि रूपसे परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य परिणमन करते है यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने द्रव्यके तीन लक्षण बताए है। सत्रूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप और गुणपर्याय रूप। अभेदकी अपेक्षा द्रव्य जैसे अपने सत स्वभावसे एक है वैसे वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य या गुण पर्यायोसे एक है। भेदकी अपेक्षा वह जैसे सत्पनेको रखता है वैसे वह उत्पादादिको रखता है।

जिस स्वरूपसे कोई पदार्थ अन्य पदार्थोंसे भिन्न करके जाना जा जासके उसको लक्षण कहते हैं और जिसको पृथक् करके जाना जावे वह लक्ष्य होता है। यहां द्रव्यका असली स्वरूप समझाना है उसीके लिये पहले तो एक यही लक्षण कहा है कि जो सत् है वह द्रव्य है अर्थात् जो अपने अस्तित्वको सदा रखता है वह द्रव्य है इस लक्षणसे यह बताया है कि हरएक द्रव्य अपने अस्तित्व या होनेपनेको या मौजूदगीको रखनेवाला है इसकारण सदासे है व सदा चला जायगा। न कभी पैदा हुआ था और न कभी नाश होगा। यह सत्पना द्रव्यमे नहीं होता तो हम किसी जीवको बालक अवस्थासे वृद्ध अवस्था तक व उसी जीवको नर नारकादि पर्यायोमे घूमता हुआ व शुद्ध होनेका यत्न करके शुद्ध या मुक्त होकर शुद्ध अवस्थामे सदा रहता हुआ नहीं जान सके। मट्टीको पिंड, घड़ा, कपाल, खंड, ठिकरे व चूर्ण अवस्थामे हम सदा पाते हैं। इस जगतमे कोई पदार्थ अकस्मात् न पैदा होता है न बिलकुल बिना किसी अवस्थाको उत्पन्न किये हुए नष्ट होता है जितनी भी अवस्थाएं वह धारण करे उन सबमें उसकी सत्ता बनी रहती है। एक सुवर्णकी डलीको लेकर हम उसकी बालियां बनावें, बालियोको तोड़कर अंगूठिये बनावें, अगूठियोको तोड़कर कंठी बनावें, कंठीको तोड़कर भुजबंध बनावें—चाहे जितनी सूरतोंमें बदलें वह सुवर्ण अपने अस्तित्वको कभी त्याग नहीं सक्ता, यह एक दृष्टांत है इसी तरह जो जो द्रव्य जगतमे अपनी सत्ताको रखता है वह सदा ही बना रहता है। जगतमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश ये छः द्रव्य हैं। ये सब सदासे हैं व सदा ही

रहेगे । इनमे सत्ता लक्षण प्राप्त हैं इसीसे ये द्रव्य है । हमारा जीव जो इस पर्यायमें इस शरीरमे है वह इस शरीरमें आनेके पहले भी किसी न किसी अवस्थामे था तथा इस शरीरको छोड देनेपर किसीन किसी अवस्थामें रहेगा । यही जीवका सत्पना है । यही वस्तुका स्वभाव है । ऐसा सत् स्वरूप जीव है ऐसा समझनेसे ही परलोक या पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है । यदि जीव अकस्मात् पैदा होता होता तो हम एक मट्टीके पुरुषमें जीव पैदा कर देते परन्तु जगतमें कोई पदार्थ नवीन नहीं पैदा होता है । सबका अस्तित्व सदासे है । हम एक नदीके मध्यमें कुछ पृथ्वी बनी हुई पाते है, दो वर्ष पहले वहापर वह पृथ्वी नही थी । विचार किया जायगा तो वह पृथ्वी अकस्मात् नही बन गई है किन्तु नदीके पानीके साथ कहींकी मिट्टी वहकर आई है सो यहां जमती गई है। जब अधिक इकट्ठी होगई तब एक पृथ्वी रूपमें दिखने लगी । कोई कोई ऐसा कहते है कि कभी इस जगतमें कुछ भी न था, एक कोई ईश्वर अमूर्तीक था फिर उसीसे सर्व होगया और यह सर्व कभी नाश होकर ईश्वरमय हो जायगा। ऐसा माननेवालोने भी अकस्मात् जगतको नही माना है । किंतु जगतको सत् रूप ही कहा है। केवल यह अपना मत प्रगट किया है कि एक ईश्वरकी एक अवस्थाविशेष यह जगत है, कभी उसमेंसे प्रगट हो जाता है तथा कभी उसमें लय हो जाता है। अब यह शका अवश्य खड़ी हो जाती है कि क्या वास्तवमें एक ईश्वर ही द्रव्य है या जैन मतमे माने हुए अलग २ जीवादि छः द्रव्य है ? इस प्रश्नपर गंभीरतासे विचार किया जायगा तो यह प्रगट होगा कि जगतमे जो कोई अवस्था होती है वह मूल

द्रव्यके सदृश होती है । जब ईश्वर एक अखण्ड अमूर्तीक है तब उसके खंड नहीं होसक्के । जब खंड नहीं होसक्के तब पृथक् २ जीव या परमाणु या स्कंध जो जगतमें प्रगट हैं वे नहीं बन सक्के। यदि अखंड ईश्वरके खंड होना भी मानलें तो उस अखंडके खंड भी उसी तरहके होगे । जैसे शुद्ध चांदीके खण्ड भी शुद्ध ही होते हैं ऐसी दशामें शुद्ध ज्ञानमय अमूर्तीक ईश्वरके सब ही खंड शुद्ध ज्ञानमय अमूर्तीक होगे । यदि ऐसा होता तो जगतमे कोई भी जीव अशुद्ध रागी द्वेषी या अज्ञानी नहीं मिल सक्ता । तथा अमूर्तीकसे मूर्तीक जडका बनना तो बिलकुल असंभव है और जगतमे हम जड़ अचेतनको प्रत्यक्ष देखरहे हैं । हमारा शरीर ही जिन परमाणुओसे बना है वे जड़ अचेतन हे । जगतमे यह भी नियम है कि जो नष्ट होता है उसमे भी पहलेके ही गुण रहते हैं—एक मिट्टीके घडेको फोडकर चूराचूरा करने पर भी मिट्टीका ही स्वभाव बना रहता है । इससे प्रत्यक्ष प्रगट जड़ व जीव सब एक समय ईश्वरमय अमूर्तीक चेतन हो जांयगे यह बात असंभव है । यदि ईश्वर रूप जगत होता तो जैसे ईश्वर आनन्दमय है वैसे यह जगत भी आनन्दमय होता—कहीं पर भी दुःख, क्लेश या शोकका कारण न बनता। इस तरह विचार करनेसे एक ही ईश्वरकी अनादि सत्ता सिद्ध नहीं होती किन्तु सर्व ही जीव व सर्व ही परमाणु व अन्य आकाशादि ये सर्व ही द्रव्य सत्-रूप हैं, सदासे है व सदा ही रहेंगे, यही बात समझमे आती है।

इसी सत् लक्षणको विशेष स्पष्ट करनेके लिये आचार्यने दूसरा लक्षण बताया है कि द्रव्यमे सदा उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना होता है।

किसी अवस्थाकी उत्पत्तिको उत्पाद व किसी अवस्थाके नाशको व्यय तथा जिसमे ये अवस्थाए नाश या उत्पन्न हुई उसका सदा बना रहना सो ध्रौव्य है। ये तीन स्वभाव हरएक द्रव्यमे सदा पाए जाते है। ये तीन स्वभाव ही द्रव्यकी सत्ताको सिद्ध करते है। इसका दृष्टात यह है कि हमारे हाथमे एक सुवर्णकी मुद्रिका है। जब हम उसको तोडकर बालिया बनाते तब मुद्रिकाकी अवस्थाका नाश या व्यय होता है व बालियोकी अवस्थाका उत्पाद या जन्म होता है परंतु दोनो ही अवस्थामे वह सुवर्ण ही रहा है। गेहूके दानोको जब चक्कीमें पीसा जाता है तब वहा तीनो ही स्वभाव एक समयमे झलकते है। जब गेहूंका दाना मिटता तब ही उसका चूर्ण आटा बनता तथा जो परमाणु गेहूके दानेमे थे वे ही परमाणु आटेमे हैं इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक समयमे सिद्ध होगया। एक आदमी सोया पडा था जब जागा तब उसकी निद्रा अवस्थाका नाश हुआ, जागृत अवस्थाका उत्पाद हुआ तथा मनुष्यपना बना रहा। यही उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। एक मनुष्य शातिसे बैठा था किसी स्त्रीको देखकर रागी होगया। जिस समय रागी हुआ उसकी राग अवस्थाका उत्पाद हुआ, शांतिकी अवस्थाका व्यय हुआ, मनुष्यका जीवनपना ध्रौव्य है। इन तीन स्वभावोसे हरएक वस्तु परिणमन करती है। यही परिणमन सत्ताका द्योतक है। जब हम किसी वृद्ध मनुष्यको देखते हम उसकी इस अवस्थाको देखकर यही समझते है कि यह वही मनुष्य है जो २० वर्ष पहले युवान था। द्रव्य उसे कहते है जो द्रवणशील हो अर्थात् जो कूटस्थ नित्य न रहकर सदा परिणमन करता रहे। द्रव्यमे द्रव्यत्त्व नामका सामान्य गुण इसी भावका द्योतक है।

द्रव्यमें एक वस्तुत्त्व नामका सामान्य गुण है जिसमे हरएक द्रव्य व्यर्थ न रहकर कुछ कार्य करता रहता है। कार्य तब ही होता है जब द्रव्यमें परिणमन होगा अर्थात् उसकी अवस्थाए बदलेंगी अर्थात पुरानी अवस्था नष्ट होकर नवीन अवस्था उत्पन्न होगी और वह जिसमे अवस्था हुई बना रहेगा। यदि उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना सत्पदार्थमे न होता तो न कोई जन्मता न मरता न किसीके कर्मबंधसे अशुद्धता होती, न कोई कर्मबंध तोडकर शुद्ध मुक्त होता, न परमाणुओके स्कंध बनते न स्कधके परमाणु बनते. न बीजसे वृक्ष होता न वृक्षसे फल होते व इधन होता और न जीव बदलते हुए भी अपने जीवत्त्वको कायम रख सक्ता और न पुद्गल बदलते हुए अपने पुद्गलपनेको ध्रुव रख सक्ता इससे यह बात नि.सन्देह ठीक है कि हरएक सत् द्रव्य उत्पादादि तीन स्वभाव रूप है। इन्ही स्वभावोके कारण ही जगतमे नाना प्रकारके कार्य दीखते हैं। रोगी होकर निरोग होना, इसी तीन रूप स्वभावसे ही बन सक्ता है।

शिष्योको विशेषपने द्रव्यका लक्षण स्पष्ट करनेके लिये आचार्यने तीसरा लक्षण भी किया है कि जिसमे गुण हो और पर्यायें हो सो द्रव्य है। द्रव्य सदा गुण और पर्यायोसे शून्य नही होता। जो द्रव्यके सदा साथ रहे और द्रव्यकी प्रशंसा करें वे गुण हैं। गुण द्रव्यके आश्रय रहते है और स्वय किन्ही और गुणोको अपनेमे नही रखते, गुण और गुणी या द्रव्यका तादात्म्य अविनाभावी सम्बंध है यह बात दूसरी गाथामे समझा दी गई है। गुणोमे ही जो परिणमन होकर अवस्था समय समय होती है उसको पर्याय कहते हैं। हरएक पर्याय एक समय मात्र ठहरती है फिर दूसरी

पर्याय हो जाती है। स्थूल दृष्टिवालोंको पर्याय स्थूलरूपसे कुछ देरतक ठहरी हुई मालूम होती है। जैसे वृक्षमें एक हरे आमको सवेरे देखा था फिर संध्याको देखा तब भी हरा ही दीखा परन्तु जब उसको आठ दिन पीछे देखा तब उसे पीला दीखा। वास्तवमें आमके भीतर वर्ण नामके गुणका परिणमन हर समय होता रहा है हर समय वह बदलता रहा है तब ही वह ८ दिनमे पीला हुआ है, परन्तु स्थूल दृष्टिमें सूक्ष्म परिणमन समझमें नहीं आता। सूक्ष्म ज्ञानी इस सूक्ष्म समय समयकी हरएक पर्यायको समझ सक्ते हैं द्रव्यमे गुणोकी ही ध्रुवता या नित्यता रहती है तथा पर्यायोका ही उत्पाद और व्यय होना है इसी बातको यह गुण पर्यायवान द्रव्यका लक्षण द्योतित करता है।

इसीसे यह सिद्ध है कि द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। हर समय उसमें नित्यपना और अनित्यपना दोनो स्वभाव हैं। गुणोंके कारण नित्यपना और पर्यायोके कारण अनित्यपना है। यद्यपि ये दो स्वभाव विरोधी मालूम पडते है परन्तु यदि द्रव्यमें ये दोनों ही न हों तो द्रव्यसे कुछ भी अर्थ सिद्ध नही होसक्ता है। यदि हम सुवर्णको कूटस्थ नित्य मान लें तो सुवर्णकी कोई अवस्था नही हो सक्ती—उससे वाली, मुद्रिका, भुजबन्द आदि कोई आभूषण नहीं बन सक्ते और यदि सुवर्णको सर्वथा अनित्य मान ले तो वह एक समय मात्र ही ठहरेगा। जब वह ठहर ही नही सक्ता तब उसमेसे कोई पदार्थ कैसे बन सक्ता है? इसलिये एक ही स्वभाव एकान्तसे माननेपर द्रव्यकी सत्ता ही नही ठहर सक्ती है। वास्तवमे यही बात ठीक है कि द्रव्य कथंचित् या स्यात् नित्य है और

कथंचित या स्यात अनित्य है । कथञ्चित् या स्यातका अर्थ किसी अपेक्षासे है । अनेक विरोधी स्वभावोको एक द्रव्यमे समझने समझानेके लिये ही जैन दर्शनमे स्याद्वादका विधान किया गया है । किसी अपेक्षासे किसी स्वभावको जो कहे वह स्याद्वाद है ।

इस तरह सत, उत्पाद व्यय ध्रौव्य, तथा गुणपर्यायवान ये तीनो ही लक्षण द्रव्यके स्वरूपको अच्छी तरह बता देते है । श्री उमास्वामी महाराजने भी तत्त्वार्थसूत्रमे द्रव्यके तीन लक्षण इन सूत्रोमे कहे है—

सत् द्रव्यलक्षणं ॥२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ॥३० ॥
गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥ अ० ॥ ५ ॥

हम यदि सिद्धावस्था होते समय इन लक्षणोको देखें तब हम समझेंगे कि सिद्धात्मा सत् है, यह वही है जो पहले असिद्ध या कर्म सहित थे। इस समय सिद्ध अवस्थाका उत्पाद हुआ है, अर्हन्त अवस्थाका व्यय हुआ है तथा जीवपना ध्रौव्य है तथा अर्हन्त आत्मामे जो गुण थे वे ही गुण सिद्धात्मामे हैं, कर्मबंधके छूटनेसे उनकी पर्याय पलट गई है। पहले चार अघातिया कर्मोसे अव्याबाधत्त्व, सूक्ष्मत्त्व, अवगाहत्त्व व अगुरुलघुत्त्व प्रगट न थे, उन चारोके क्षय होते ही ये चार स्वभाव प्रकाशमे आगए ।

गुण और पर्यायें द्रव्यके ही प्रदेशोमें पाई जाती है इसलिये वे अभिन्न है परन्तु समझने समझानेके लिये उनका भेद करके मनन किया जाता है । सज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षा गुण और द्रव्यका भेद है, प्रदेशकी अपेक्षा नही है । जैसे जीव द्रव्य और ज्ञान गुण । दोनोकी संज्ञा अलग २ है । ज्ञान गुणकी संख्या

एक है जब कि एक जीव अनेक गुणोकी अपेक्षा अनेक रूप है। जीवका लक्षण उपयोगवान है जब कि ज्ञानका लक्षण विशेपाकार जानना है। जीवका प्रयोजन स्वात्मानदका लाभ है जब कि ज्ञानका प्रयोजन ज्ञेयोंको जानना है।

द्रव्यका स्वभाव अच्छी तरह समझकर हमे निज आत्म द्रव्यको सत्‌रूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तथा गुण पर्यायरूप जानकर निज आत्माके स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन वीर्य आनन्दादि गुणोमे तन्मय होकर निज आत्माका अनुभव करना चाहिये जिससे चारित्रका लाभ हो और शुख शांतिका स्वाद आवे।

इस तरह नमस्कार गाथा, द्रव्य गुण पर्याय कथन गाथा, स्वसमय परसमय निरूपण गाथा, सत्तादि लक्षणत्रय सूचन गाथा इस तरह स्वतंत्र चार गाथाओसे पीठिका नामका पहला स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे अस्तित्त्व या सत्‌के दो प्रकार स्वरूप अस्तित्त्व व साद्दश्य अस्तित्त्वमेसे स्वरूप अस्तित्त्वको बताने है—

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ५ ॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः ।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥ ५ ॥

सामान्यार्थ—अपने गुण और नाना प्रकारकी अपनी पर्यायो करके तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य करके द्रव्यका सर्व कालमे जो सद्भाव है वही निश्चय करके उसका स्वभाव है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(चित्तेहिं गुणेहिं सगपज्जएहिं) नाना प्रकारके अपने गुण और अपनी पर्यायोंके साथ अर्थात् सिद्ध

जीवकी अपेक्षा अपने केवलज्ञान आदि गुण तथा अंतिम शरीरसे कुछ कम आकाररूप अपनी पर्याय तथा सिद्ध गतिपना, अतीन्द्रियपना, कायरहितपना, योगरहितपना, वेदरहितपना इत्यादि नाना प्रकारकी अपनी अवस्थाओंके साथ और (उप्पादव्वयधुवत्तेहि) उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेके साथ अर्थात् सिद्ध जीवकी अपेक्षा शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप मोक्ष पर्यायका उत्पाद, रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित परमसमाधि रूप मोक्षमार्गकी पर्यायका व्यय तथा मोक्षमार्ग और मोक्षके आधारभूत चले आनेवाले द्रव्यपनेका लक्षणरूप ध्रौव्यपना इन तीन प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ (दव्वस्स) द्रव्यका अर्थात् मुक्तात्मा रूपी द्रव्यका (सव्वकालं) सर्व कालोंमे अर्थात् सदा ही (सब्भावो) शुद्ध अस्तित्त्व है या उसकी शुद्ध सत्ता है (हि) सो ही निश्चय करके (सहावो) उसका निज भाव या निज रूप है, क्योंकि मुक्तात्मा इनके साथ अभिन्न हैं इसका हेतु यह है कि गुण पर्यायोंके अस्तित्त्वसे तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य-पनेके अस्तित्त्वसे ही शुद्ध आत्माके द्रव्यका अस्तित्त्व साधा जाता है और शुद्ध आत्माके द्रव्यके अस्तित्त्वसे गुण पर्यायोंका और उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेका अस्तित्त्व साधा जाता है। किस तरह परस्पर साधा जाता है सो बताते हैं—जैसे सुवर्णके पीतपना आदि गुण तथा कुंडल आदि पर्यायोंका जो सुवर्णके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सुवर्णसे भिन्न नहीं है, जो अस्तित्त्व है वही सुवर्णका अपना अस्तित्त्व है या सद्भाव है। तैसे ही मुक्तात्माके केवलज्ञान आदि गुण और अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंका जो मुक्तात्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा परमात्मा द्रव्यसे भिन्न

नहीं है जो अस्तित्त्व है वही मुक्तात्मा द्रव्यका अपना अस्तित्त्व या सद्भाव है और जैसे सुवर्णके पीतपना आदि गुण और कुंडल आदि पर्यायोके साथ जो सुवर्ण अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोकी अपेक्षा अभिन्न है, उस सुवर्णका जो अस्तित्व है वही पीतपना आदि गुण तथा कुडल आदि पर्यायोका अस्तित्त्व या निज भाव है तैसे ही मुक्तात्माके केवलज्ञान आदि गुण और अतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोके साथ जो मुक्तात्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोकी अपेक्षा अभिन्न है उस मुक्तात्माका जो अस्तित्त्व है वही केवलज्ञानादि गुण तथा अतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोका अस्तित्त्व या निजभाव जानना चाहिये। अब उत्पाद व्यय ध्रौव्यका भी द्रव्यके साथ जो अभिन्न अस्तित्त्व है उसको कहते हैं। जैसे सुवर्णके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सुवर्णसे अभिन्न कटक पर्यायका उत्पाद और कंकण पर्यायका विनाश तथा सुवर्णपनेका ध्रौव्य इनका जो अस्तित्त्व है वही सुवर्णका अस्तित्त्व व उसका निज भाव या स्वरूप है। तैसे ही परमात्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा परमात्मासे अभिन्न मोक्ष पर्यायका उत्पाद और मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत परमात्म द्रव्यपनेका ध्रौव्य इनका जो अस्तित्त्व है वही मुक्तात्मा द्रव्यका अस्तित्त्व या उसका निजभाव या स्वरूप है। और जैसे अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा कटक पर्यायका उत्पाद और कंकण पर्यायका व्यय तथा इन दोनोके आधारभूत सुवर्णपनेका ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो सुवर्ण उसका जो अस्तित्व है वही कटक पर्यायका उत्पाद, कंकण पर्यायका व्यय तथा इन

दोनोंके आधारभूत सुवर्णपना रूप ध्रौव्य इनका अस्तित्व या निजभाव या स्वरूप है। तैसे ही अपने द्रव्यक्षेत्र कालभावकी अपेक्षा मोक्ष पर्यायका उत्पाद, और मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा दोनोके आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्यपनारूप ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो परमात्मा द्रव्य उसका जो अस्तित्त्व है वही मोक्ष पर्यायका उत्पाद, मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्यरूप ध्रौव्य इनका अस्तित्त्व या निजभाव या स्वरूप है। इस तरह जैसे मुक्तात्मा द्रव्यका अपने ही गुण पर्याय और उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ स्वरूपका अस्तित्त्व या अवान्तर अस्तित्त्व अभिन्न स्थापित किया गया है तैसे ही शेष सर्व द्रव्योका भी स्वरूप अस्तित्त्व या अवान्तर अस्तित्त्व स्थापित करना चाहिये। इस गाथाका यह अर्थ है ।

भावार्थ-इस गाथामे आचार्यने स्वरूप अस्तित्त्व या अवान्तर सत्ताका स्वरूप बताया है। हरएक द्रव्य अपने अखंड जितने प्रदेशोको लिये है चाहे वह एक प्रदेश हो व अनेक वह द्रव्य उतने प्रदेशोके साथ अपनी सत्ताको दूसरे द्रव्यसे पृथक् रखता है। तथा उसकी इस अवान्तर या पृथक् सत्तामें ही गुणपर्यायपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहते हैं। जिसका भाव यह है कि जहां द्रव्यका अस्तित्त्व है वहीं उसके गुणपर्याय है व वहीं उसके उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। इन तीन लक्षणोकी अभिन्नता है, एकता है। ये तीनो लक्षण द्रव्यमें अविनाभावी हैं, न कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ताको छोड़ता है न गुणपर्यायोंसे रहित होता है न उत्पाद व्यय ध्रौव्यको त्यागता है। द्रव्यमें हरसमय द्रव्यके ये तीनो ही लक्षण

पाए जाते हैं। यही द्रव्यका स्वभाव है। जैसे एक वस्त्रमें जहां उस वस्त्रकी सत्ता है वहीं उस वस्त्रकी गुण पर्यायें हैं वहीं उसका उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। इसका खुलासा यह है कि वस्त्रमें स्पर्श, रस, गध, वर्ण हैं वे वस्त्रके गुण हैं उनमें समय समय जो परिणमन या वदलाव होरहा है वे ही समय समयकी वस्त्रकी पर्यायें हैं। जब गुणोकी पिछले समयकी पर्याय नष्ट होती है तब ही इस वर्तमान समयकी पर्याय पैदा होती है यह उत्पाद व्यय है। ध्रुवपना गुणोका व उसके समुदाय द्रव्यका स्थिर है ही। एक वस्त्र जो दो चार मास पीछे जीर्ण दीखता है सो एकदम जीर्ण नहीं हुआ वह हर समयमें पुराना पडता जाता है। जब बहुत पुराना होजाता है तब ही हम स्थूल दृष्टिवालोको मालूम पड़ता है। यहां वस्त्रको भी पुद्गल स्कध रूप द्रव्य ध्यानमे लेना चाहिये क्योंकि यही वस्त्र अग्निका संबध पाकर राखकी पर्यायमें पलट सक्ता है तब भी पुद्गल द्रव्यकी सत्ताका नाश नही होता है। एक ससारी जीव सशरीर था वह जब एक शरीरको त्यागता है तब ही मनुष्य आयुका उदय समाप्त होकर यदि उसे देवगतिमें जाना हो तो देव आयुका उदय प्रारम्भ होजाता है। उसकी विग्रह गतिमें देवायुका उदय है। उसकी मनुष्य अवस्थाका व्यय विग्रह गतिका उत्पाद और जीव द्रव्य अपेक्षा ध्रुवपना एक कालमें मौजूद है तथा जीवके ज्ञानादि गुणोका सद्भाव दोनो अवस्थाओंमें रहते हुए भी इन गुणोका परिणमन बदला गया—जो परिणमन मनुष्य देहमें था वह परिणमन विग्रह गतिमे नहीं है। विग्रह गतिमे विग्रहगतिके योग्य परिणमन है। इस तरह हरएक

द्रव्य सदाकाल इन तीन लक्षणोको रखता है। यदि हम शुद्ध आत्माकी ओर ध्यान करें जिनको कुछ काल मुक्त हुए व्यतीत हो चुका है, तो शुद्ध आत्माके भीतर तीनो लक्षण मिलेंगे। वे अपनी अवान्तर सत्ताको सदा रखते हैं। एक शुद्ध आत्मा दूसरी शुद्ध आत्मासे अपनी सत्ताको खो नहीं देता है। एक क्षेत्रमे अनेक दीपकोका प्रकाश मिला हुआ रहने पर भी हरएक दीपकका प्रकाश अपनी भिन्न २ सत्ताको रखता है। यदि उनमेसे एक दीपकको वहासे अन्यत्र लेजावे तो उस दीपकके साथ उसका प्रकाश भी अलग चला जायगा, इसी तरह अनेक सिद्धात्मा एक क्षेत्रमे तिष्ठते हैं तौभी अपनी सत्ता भिन्न २ रखते है। इसी तरह शुद्धात्मामें अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य्य, सम्यक्त चारित्र, अव्याबाध आदि गुण सदा पाए जाते है। तथा इन सब शुद्ध गुणोमे क्षीर समुद्रमें जल कल्लोलकी तरह सामान्य अगुरुलघु गुण द्वारा षट्‌गुणी हानि वृद्धिरूप अवस्था होनेसे समय समय सदृश पर्यायें होती हैं। गुण पर्यायपना शुद्ध आत्मामे हरसमय सत्ताके साथ अभिन्न रहता है। इसी तरह नवीन पर्यायोका उत्पाद होते हुए व पिछली पर्यायोका व्यय होते हुए तथा शुद्ध आत्माका अनंतगुण सहित, ध्रौव्य होते हुए उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी शुद्ध आत्मामे हर समय पाया जाता है, यह भी सत्तासे अभिन्न है। सिद्ध भगवानकी सत्ता इस उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ ही सदा बनी रहती है।

श्रीनेमिचद्र सिद्धांत चक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमे सिद्धका स्वरूप इसी प्रकारका बताया है–

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदा सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता ॥

भावार्थ—जो कर्म कलंक रहित है—मुख्य सम्यक्तादि आठ गुण सहित हैं, अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारवान है, लोकके अग्रभागमें विराजमान है तथा उत्पाद व्यय सहित है और नित्य या ध्रुव हैं वे सिद्ध है। इस तरह स्व पर द्रव्यका त्रिलक्षण समझकर तथा हरएककी सत्ताको अलग२ निश्चय करके अपने आत्माको अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षामे सर्व रागादि व पुद्गल विकारोंमे पृथक् अपनी शुद्ध सत्तामें सदा विराजमान जानकर सर्व विकल्पोंको त्यागकर निज आत्माका ही अनुभव करना योग्य है—द्रव्यके लक्षण पहचाननेका यह तात्पर्य है ॥५॥

उत्थानिका—आगे सादृश्य अस्तित्त्व शब्दसे कहे जानेवाली महासत्ताका वर्णन करते हैं—

इह विविहलक्खणाणं, लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं
उवदिसदा खलु धम्मं, जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥६॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम् ।
उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥६॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) इस लोकमे (विविहलक्खणाणं) नाना प्रकार भिन्न २ लक्षण रखनेवाले पदार्थोंका (एगं) एक (सव्वगय) सर्व पदार्थोंमे व्यापक (लक्खणं) लक्षण (सदित्ति) सत् ऐसा (धम्मं) वस्तुके स्वभावको (उवदिसदा) उपदेश करनेवाले (जिणवरवसहेण) श्री वृषभ जिनेंद्रने (खलु) प्रगट रूपसे (पण्णत्तं) कहा है।

विशेषार्थ-इस जगतमे भिन्न २ लक्षणको रखनेवाले चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त अनेक पदार्थ है, उनमेंसे प्रत्येक पदार्थकी सत्ता या स्वरूपास्तित्त्व भिन्न २ है तो भी इन सबका एक अखंड सर्वव्यापक लक्षण भी है। यह लक्षण मिलाप व भिन्नताके विकल्पसे रहित अपनी २ जातिमे विरोध न पड़ने देनेवाले शुद्ध संग्रह नयसे सर्व पदार्थोंमे व्यापक एक सत् रूप है या महासत्ता रूप है ऐसा वस्तु स्वभावोके संग्रहको उपदेश करनेवाले श्री वृषभनाथ भगवानने प्रगटरूपसे वर्णन किया है। इसका विस्तार यह है कि जैसे जब हम ऐसा कहें कि सर्व मुक्तात्मा है तब उससे सर्व ही सिद्धोका एक साथ ग्रहण हो जाता है। यद्यपि वे सर्व सिद्ध अपने २ शुद्ध असख्यात प्रदेशोकी अपेक्षा जो लोकाकाश प्रमाण है और परमानदमई एक लक्षणको रखनेवाले सुखामृतके रसके स्वादसे भरे हुए है तथा अपने २ अंतिम शरीरके आकारसे कुछ कम व्यजन पर्यायकी अपेक्षा मिश्र व भिन्नताके विकल्पसे रहित अपनी अपनी जातिके भेदसे भिन्न २ हैं तो भी एक सत्ता लक्षणकी अपेक्षा उन सब सिद्धोंका ग्रहण होजाता है। वैसे ही 'सर्व सत्' ऐसा कहनेपर सग्रह नयसे सर्व पदार्थोका ग्रहण हो जाता है। अथवा यह सेना है ऐसा कहनेपर अपनी २ जातिसे भिन्न घोडे, हाथी आदि पदार्थोकी भिन्नता है तो भी सबका एक कालमे ग्रहण होजाता है अथवा यह वन है ऐसा कहनेपर अपनी २ जातिसे भिन्न निम्ब, आम्र आदि वृक्षोंकी भिन्नता है तो भी सब वृक्षोका एक कालमे ग्रहण हो जाता है। तैसे ही सर्व सत् ऐसा कहनेपर सादृश सत्ता या महासत्ताकी अपेक्षा शुद्ध संग्रह नयसे

सर्व ही पदार्थोंका विना उनकी जातिके विरोधके एक साथ ग्रहण होजाता है, ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ—इस गाथामें श्री कुंदकुंदआचार्यने महासत्ताका स्वरूप बताया है । सत्ता दो प्रकारकी है, एक अवान्तर सत्ता या स्वरूपास्तित्त्व, दूसरी महासत्ता या सादृश्यास्तित्त्व। हरएक द्रव्यके भिन्न २ स्वरूपको बतानेवाली अवान्तर सत्ता है तथा सर्व द्रव्योंमें एक सत्पनेका एक काल बोध करानेवाली महासत्ता है । सत्पना या अस्तित्त्व सर्व चेतन अचेतन पदार्थोंमे पाया जाता है इसलिये सत्पना सर्व पदार्थोंमे व्यापक है उसकी अपेक्षासे महासत्ता या सादृश्यास्तित्त्व है । जो स्वभाव बहुतसोंमें एकसा होता है उसकी अपेक्षा एक कहनेका व्यवहार जगतमें है । जैसे यह सेना भाग रही है। यहा भागना स्वभाव सर्व हाथी घोडे रथ पयादोंमे व्यापक है इसलिये सेना भाग रही है इतना ही वाक्य सबके भागनेका बोध करा देता है । अथवा यह बाग फूल रहा है इतना ही वाक्य इसका बोध करा देता है कि इस बागके सर्व ही वृक्षोंमें फूल खिल रहे हैं। यहा फूलोंका खिलना यह स्वभाव सब वृक्षोमे व्यापक है । जो स्वभाव या कार्य एक समयमे अनेकोंमें पाया जावे उनके एक साथ बोध करनेवाले ज्ञानको या बोध करानेवाले वचन प्रयोगको संग्रह नय कहते हैं । लडके खेल रहे है । यह संग्रह नयका वाक्य है क्योकि खेलना सबमें एक साथ व्याप रहा है। यद्यपि हरएक लडकेके खेलमें भिन्नता है तथापि खेलना मात्र सबमें सामान्य है । कोयलें मीठा बोलती हैं, इस वाक्यने भी मीठा बोलना अनेक कोयलोंमें व्यापक है इस बातको संग्रह नयसे बतलाया । इस ही तरह

जीव चेतन होता है यह वाक्य चेतनपनेको सब जीवोंमें व्यापक झलकाता है और एक साथ इसका बोध संग्रह नयसे कराता है। पुद्गल मूर्तीक हैं यह वाक्य सर्व पुद्गलोंमें स्पर्श रस गंध वर्णकी सत्ताका बोध कराता है अर्थात मूर्त्तीकपना जो सब पुद्गलोंमें व्यापक था उस व्यापक स्वभावको इस वाक्यने एकदम सामान्यपने बोध करा दिया। इस ही तरह जब हम कहें कि सर्व सत् है तब यह वाक्य यही बोध कराता है कि सत्ता सर्व पदार्थोंमें व्यापक है अथवा सर्व पदार्थोंमे सादृश्य अस्तित्त्व है। इस ही तरह यदि कहा जाय कि यह जगत परिवर्तनशील है, तब यह वाक्य यह बोध कराता है कि परिवर्तनपना या अवस्थाओंका वदलना यह स्वभाव सर्व पदार्थोंमें एक काल व्यापक है। निश्चयनयसे सब जीव शुद्ध हैं–यह वाक्य बोध कराता है कि स्वभावकी अपेक्षा शुद्धपना सर्व जीवोमे व्यापक है। महासत्ता सर्व जगतके पदार्थोंमे अस्तित्त्व स्वभावकी व्यापकताको बताती है। इस तरह वस्तुका स्वभाव तीर्थंकरोंने प्रकट किया है। यहा आचार्यने श्री ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकरका नाम इसी लिये लिया है कि इस भरतक्षेत्रमे इस कालमे भोगभूमिके पीछे तथा कर्मभूमिकी आदिमें सच्चे वस्तु स्वभावको प्रगट करनेवाले प्रथम ही श्री आदिनाथ भगवान हुए हैं। उनसे लेकर हमतक सर्वका यही मत है कि भिन्न २ द्रव्यकी सत्ता सो अवान्तर सत्ता है और सबकी एक सत्ता सो महासत्ता है।

इस कथनको प्रगट करके आचार्यने यह तत्त्व प्रगट किया है कि यह जगत् सत्‌रूप होकर भी अनेक विचित्र रूप है। यह

एक ब्रह्मस्वरूप ही नहीं है जैसा वेदान्तका कथन है। न यह एक जड रूप ही है जैसा चार्वाकका कथन है। न यह एक ब्रह्म व एक जडरूप है किन्तु यह जगत् अनन्तानंत जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश, असंख्यात कालाणुरूप होकर भी इनकी अनेक अवस्था व स्वरूप नाना प्रकारका विचित्र है। इस तत्त्वको जाननेका तात्पर्य यह है कि हम अपने आत्माको सदा ही रहनेवाला सत् रूप जानें तथा इसकी जो वर्तमान अवस्था रागद्वेष मोहरूप व अज्ञान रूप हो रही है इस अवस्थाको दूर करके इसको सिद्धकी अवस्थामें पहुचा देवें जिससे यह सदा ही निजानदका पान करे तथा इसी हेतुसे हमें निज आत्माका स्वरूप निश्चयसे शुद्ध ज्ञातादृष्टा ध्यानमेंकर उसहीका विचार तथा अनुभव करना चाहिये ॥ ६ ॥

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते हैं कि जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे सत्ता भी स्वभावसे सिद्ध है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो ।
सिद्धं तध आगमदो, णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ ७ ॥

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः ।
सिद्धं तथा आगमतो नेच्छति यः स हि परसमयः ॥ ७ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दव्वं) द्रव्य (सहावसिद्धं) स्वभावसे सिद्ध है (सदिति) सत् भी स्वभाव सिद्ध है ऐसा (जिणा) जिनेन्द्रोंने (तच्चदो) तत्त्वसे (समक्खादो) कहा है (तध) तैसे ही (आगमदो) आगमसे (सिद्धं) सिद्ध है (जो) जो कोई (णेच्छदि) नहीं मानता है (सो हि परसमओ) वही प्रगटरूपसे परसमयरूप है।

विशेषार्थ—यहां परमात्म द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि परमात्मारूपी द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है क्योंकि परमात्मा अनादि अनन्त, विना अन्य कारणकी अपेक्षाके भये अपने स्वत. सिद्ध केवलज्ञानादि गुणोंके आधारभूत है, सदा आनन्दमई सुखामृतरूपी परम समरसी भावमे परिणमन करते हुए सर्व शुद्ध आत्मप्रदेशोसे भरपूर हैं तथा शुद्ध उपादान रूपसे अपने ही स्वभावसे उत्पन्न है। जो स्वभावसे सिद्ध नही होता है वह द्रव्य भी नहीं होता है। जैसे द्विणुक आदि पुद्गलस्कंधकी पर्याय व मनुष्यादि जीवपर्याय। परमाणुओंकी सत्ता स्वयंसिद्ध है तब ही उनके उपादान कारणसे द्विणुक आदि स्कंध बनते हैं। जीवकी सत्ता सदा सिद्ध है तब ही उसके उपादान कारणसे मनुष्यादि पर्यायें होती हैं। जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे उसकी सत्ता भी स्वभावसे सिद्ध है सत्ता किसी भिन्न सत्ताके समवायसे नही हुई है। क्योंकि सत्ता और द्रव्यमें सज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादिसे भेद होनेपर भी जैसे दंड और दंडी पुरुषके प्रदेशोका भेद है ऐसी प्रदेशोकी भिन्नता सत्ता और द्रव्यमे नहीं है। सत्ता गुण है इस लिये द्रव्यमे सदा पाया जाता है। तथा वह सत्तागुण द्रव्यगुणीसे कभी पृथक् नहीं हो सक्ता है इस बातको निश्चयसे तीर्थंकरोने वर्णन किया है तथा यही बात सन्तानकी अपेक्षा द्रव्यार्थिक नयसे अनादि अनत आगमसे भी सिद्ध है। जो ऐसा वस्तुका स्वरूप नही स्वीकार करता है वह मिथ्यादृष्टी है। इस तरह जैसा परमात्म द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है तैसे ही सर्व द्रव्योको स्वभावसे सिद्ध जानना चाहिये। यहा यह अभिप्राय है कि द्रव्यको किसी पुरुषने रचा नही है और न द्रव्यका सत्ता

गुण ही द्रव्यसे भिन्न है।

भावार्थ-आचार्यने पूर्वमे त्रिलक्षणमई द्रव्यको बतलाया था। इस गाथामे पहला जो लक्षण सत् किया था उसके सम्बन्धमें कहा है कि वह सत् या अस्तित्व, या सत्ता द्रव्यमे सदा पाई जाती है। गुण और गुणी प्रदेशोकी अपेक्षा एक है परन्तु नाम आदि भेदसे विचारने हुए भिन्न२ झलकते है। सत्ता गुण है द्रव्य गुणी है। दोनो सदासे साथ है इसलिये जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है और अनादि अनत है वैसे उसकी सत्ता स्वभावसे सिद्ध है और अनादि अनंत है। यद्यपि इस जगतमे अवस्थाए बनती और बिगडती दिखलाई पडती है परतु जिसमे ये अवस्थाएं होती है वह द्रव्य न बनता दिखलाई पडता है न नष्ट होता मालूम होता है। परमाणुओंसे स्कध बनते है, स्कधसे परमाणु बन जाते हैं। अकस्मात् कोई नही बनता है। मनुष्य शरीरमे जीव आता है तब मनुष्य जीव कहलाता है, वही जीव देव पर्यायमे जाता है तब देव जीव कहलाता है। वास्तवमे इस लोकमे जीव पुद्गल आदि छहो द्रव्य अनादि अनंत हैं इसीसे स्वभावसिद्ध है, किसीने बनाए नही है। किसीका किसीसे बनना तब ही माना जासक्ता है जब किसी समय या क्षेत्रमें पहले उसका अभाव या न होना सिद्ध हो जावे। यदि हम विचारते हुए चले जावेंगे तब किसी भी द्रव्यका कभी या कही अभाव था ऐसा सिद्ध नही होगा। जगतमें यही देखा जाता है कि पानीसे मेघ बनते है, मेघसे पानी बनता है, वृक्षसे बीज होता है बीजसे वृक्ष होता है-कभी भी विना बीजके वृक्षका होना व विना वृक्षके बीजका होना सिद्ध नही होसक्ता। मनुष्य माता पिताके

संयोगसे होता है यह क्रम अनादि है—कभी भी कोई मनुष्य विना माता पिताके नहीं होसक्ता। जगतमे अवस्थाविशेषका उत्पाद व अवस्थाविशेषका ही व्यय होता है, मूल द्रव्य कभी न जन्मता है न नष्ट होता है। सिद्ध भगवान परमात्मा है वे भी स्वभावसिद्ध अनादि हैं। यद्यपि उनको सिद्ध अवस्था सादि है, परन्तु जिस जीव द्रव्यमे यह अवस्थामई है वह अनादि है। जीवमें सब ही केवलज्ञानादि गुण सदासे ही थे तथा उसके असंख्यात प्रदेश सदासे ही थे। उनपर जब आवरण था तब वे अशुद्ध थे, जब आवरण चला गया तब वे शुद्ध हो गए—तथा यह शुद्धता भी अपने ही उपादान कारणरूप निश्चय रत्नत्रयमई कारण समयसाररूप निर्विकल्प समाधिसे ही हुई है। द्रव्य जैसे स्वभावसिद्ध है वैसे उसका लक्षण जो स्वरूप अस्तित्त्व है वह भी स्वभावसे सिद्ध है। द्रव्यार्थिक नय या निश्चयनय गुणगुणीका भेद न करके अखंड द्रव्यको ग्रहण करती है। इस नयमे सत्ता और द्रव्य भिन्न २ नहीं दिखते हैं—एक द्रव्य ही झलकता है। पर्यायार्थिकनय या व्यवहारनयसे जब उसके स्वरूपको समझा या समझाया जाता है तब द्रव्यमे जितने गुणोका आधार है उनका भिन्न २ नाम व स्वरूप या प्रयोजन समझाया जाता है। जैसे जो अग्निको जानता है उसके लिये अग्नि कहना ही वश है इसीसे ही वह अग्निको समझ जाता है, परन्तु जो कोई अज्ञानी अग्निको नही समझता है उसके लिये कोई ज्ञानी इस तरह समझाते हैं कि अग्नि उसे कहते है जिसमें दाहक अर्थात् जलानेका स्वभाव हो, पाचक अर्थात् पकानेका स्वभाव हो, प्रकाशक अर्थात् उजाला देनेका स्वभाव हो इत्यादि ये तीनो ही स्वभाव अग्निमें

सदा पाए जाते हैं इसीसे इनको भेद करके समझानेसे अग्निका बोध अज्ञानीको होजाता है। द्रव्य और उसकी सत्ता सदासे है यह कथन उन सब मिथ्या भ्रमोको दूर करता है जो किसी समय जीव और अजीवकी सत्ताका अभाव मानते है या इनको ब्रह्मसे पैदा हुआ व ब्रह्ममे लय होना मानते है। हरएक द्रव्य जीव हो या पुद्गल अपने स्वरूपके अस्तित्वको सदासे रखता है—सदासे ही जीवमें जीवपना है, सदासे ही पुद्गलमे स्पर्श, रस, गध, वर्णपना है। न किसी एकसे ये अनेक हुए न जीवसे पुद्गल हुए न पुद्गलसे जीव हुए—सब ही द्रव्य सदासे परिणमन करते हुए बने रहते हैं। यह बिलकुल अकाट्य सिद्धात है कि सत्का नाश नहीं व असत्का उत्पाद नहीं। सत रूप द्रव्यमें ही पर्यायका उत्पाद या विनाश होता है, असत्में नहीं हो सक्ता। स्वामी समतभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें यही कहा है कि सत् पदार्थमें ही विधि निषेध या अस्तिनास्तिकी कल्पना हो सक्ती है—

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेध· सञ्ज्ञिनः सत. ।
असद्भेदो न भावस्तु स्थान विधिनिषेधयो. ॥ ४७ ॥

भावार्थ-सत् पदार्थमे ही अपने स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा विधि या अस्तित्त्व तथा परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा निषेध या नास्तित्त्व कहा जा सक्ता है। जो पदार्थ अभावरूप है या असत् है उसमे अस्तित्त्व या नास्तित्त्वकी कल्पना हो ही नहीं सक्ती है इस लिये जगतमे सर्व ही द्रव्य सत्रूप हैं।

'द्रव्य और उसकी सत्ता स्वभावसिद्ध अनादि है यह बात तीर्थंकरोने अपनी२ दिव्यवाणीसे प्रकाशित की है तथा यही बात आगमसे भी प्रगट है।

इस अनादि प्रवाहरूप जगतमें सदा ही तीर्थंकर या केवली होते रहे हैं इसलिये उनका उपदेश भी होता रहा है। तथा सदासे ही गणधरोंने उसकी द्वादशांगरूप रचना करके उसे आगमरूप प्रगट किया है इसलिये प्रवाह या संतानकी अपेक्षा भगवानका उप-देश तथा शास्त्र दोनो अनादि है। इन दोनोंसे यही बात मान्य है, अतएव यह अटल सिद्धांत है कि द्रव्य स्वभाव सिद्धअनादि अनन्त है तैसे ही उसकी अभिन्न सत्ता भी स्वभावसिद्ध सदा कालसे है व सदाकाल वनी रहेगी। यही यथार्थ वस्तुका स्वभाव है। जो इस तत्वको नहीं समझता है वह पर समयरूप मिथ्यादृष्टी अज्ञानी है। उसको अपनी आत्माकी सत्ताकी नित्त्यताका कभी श्रद्धान नहीं होगा तब वह आत्मा व उसका परलोक न मानता हुआ इस शरीरकी अवस्थाको ही आपा मानेगा और शरीरसुख हीमे लिप्त रहेगा। यही अज्ञान चेष्टा है।

तात्पर्य यह है कि अपने आत्माको सदासे ही निश्चय नयसे शुद्ध परमात्माके समान वीतरागी तथा आनंदमई और ज्ञाता दृष्टा निश्चयकर उसके स्वभावके अनुभवमे लय होकर आत्माको कर्मबंध-नसे छुडाना चाहिये और सुख शांतिका लाभ करना चाहिये ॥७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुए सत्ता ही द्रव्य स्वरूप है अथवा द्रव्य सत् स्वरूप है—

सदवट्ठिय सहावे, दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो, ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ ८ ॥

सदवस्थितं स्वभावे द्रव्य द्रव्यस्य यो हि परिणमः।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसंभवनाशसंबद्धः॥ ८ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ–(सहावे) स्वभावमें (अवट्ठिय) रहा हुआ (सत्) सत् (दव्व) द्रव्य है । (दव्वस्स) द्रव्यका (अत्थेसु) गुण पर्यायोंमे (जो) जो (ठिदिसंभवणाससंबद्धो) ध्रौव्य, उत्पाद व्यय सहित (परिणामो) परिणाम है (सो) वह (हि) ही (सहावो) स्वभाव है ।

विशेषार्थ–यहा टीकाकार परमात्मा द्रव्यपर प्रथम घटाकर समझाते हैं। स्वभावमें तिष्ठा हुआ शुद्ध चेतनाका अन्वयरूप (बराबर) अस्तित्व परमात्मा द्रव्य है । उस परमात्मा द्रव्यका अपने केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्व यहा अरहंतपनेसे मतलब (है) आदि पर्यायोमे अपने आत्माकी प्राप्ति रूप उत्पाद उसी ही समयमे परमागमकी भापासे एकत्ववितर्क अवीचार रूप दूसरे शुक्ल ध्यानका या शुद्ध उपादानरूप सर्व रागादिके विकल्पकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानपर्यायका नाश तथा उसी ही समय इन दोनो उत्पाद व्ययके आधाररूप परमात्म द्रव्यकी स्थिति इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य सम्बन्धी जो परिणाम है वही निश्चयसे उस परमात्म द्रव्यका केवलज्ञानादि गुण वा सिद्धत्व आदि पर्यायरूप स्वभाव है । गुण पर्याय द्रव्यके स्वभाव हैं इस लिये उनको अर्थ कहते है। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन स्वभावसे एक समयमे यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे परमात्म द्रव्य परिणमन करते है तथापि द्रव्यार्थिक नयसे सत्ता लक्षण रूप ही है । तीन लक्षण रूप होते हुए भी सत्ता लक्षण क्यो कहते है इसका समाधान यह है कि सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप है। जैसा कहा है " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् " जैसे यह परमात्म द्रव्य एक

समयमे ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे परिणमन करता हुआ ही सत्ता लक्षण कहा जाता है तैसे ही सर्व द्रव्योका स्वभाव है यह अर्थ है।

भावार्थ–यहा इस गाथामे आचार्यने द्रव्यका स्वभाव स्पष्ट किया है कि सत्ता रूप वस्तु अपने स्वभावमे वर्तन करती हुई द्रव्य कहलाती है। तथा उस सत्ताका यह स्वभाव है कि वह सदा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणमन करती है। जिस पदार्थकी सत्ता होगी उसमे पर्यायें होनी ही चाहिये। पूर्व पर्यायका नाश व्यय है, उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति उत्पाद है, द्रव्यका सदा बना रहना ध्रौव्य है, जो सत्ता है वह अवश्य तीन रूप रहेगी। वृत्तिकारने अरहंत परमात्मापर घटाकर कहा है कि जब अरहंत अवस्थाका उत्पाद व्यय होता है तब ही पूर्वमे जो बाहरवें गुणस्थानमे स्वसंवेदन परिणाम था उसका नाश होता है और आत्माका ध्रौव्य विद्यमान है। इस तरह जब पर्यायार्थिक नयसे भेद करके विचारते हैं तब उत्पाद ध्रौव्यकी कल्पना करते हैं। परन्तु जब द्रव्यार्थिक नयसे विचार करते है तब इस भेदत्रयीको गौण करके सत्ता मात्र द्रव्य है ऐसा कहा जाता है। अभेद नयसे सत्ता एक रूप है, भेद नयसे वही तीन रूप है। इस कथनसे भी आचार्यने अनेकांत मतके गौरवको बताया है। उत्पत्ति, विनाश, ध्रौव्य ये तीन अवस्थाएं पदार्थमे एक ही समयमे नित्त्यत्त्व और अनित्त्यत्वको झलकाते हैं। पर्यायका नाश व उत्पाद होना अनित्यपनका द्योतक है–तथा द्रव्यका ध्रौव्यपना नित्यत्वका द्योतक है। इससे द्रव्य नित्त्य नित्त्यात्मक है। यही सिद्धात ठीक है। यदि एकातसे द्रव्यको नित्त्य ही माने उसमें अनित्त्य स्वभाव न माने तो क्या

दोष होगा इसके लिये स्वामी समतभद्राचार्यने आप्तमीमासामें कहा है'—

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नेपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ ३७ ॥

भावार्थ यदि पदार्थमे मात्र नित्यपना ही है, अनित्यपना नहीं है ऐसा एकान्त पक्ष माना जायगा तो उसमे एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामे पलटना नहीं होगा वस्तु सदा एक रूप ही बनी रहेगी उसमे कोई विकार नहीं होगा, तब कर्ता कर्म करण आदि कारकोका पहले ही अभाव होनेसे उसमे प्रमाण और उसके फलकी कल्पना नहीं हो सकेगी ।

और यदि वस्तुको सर्वथा अनित्य माना जावेगा तो क्या दोष होगा उसके लिये भी स्वामी यही कहते हैं—

'क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भव. ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥ ४१ ॥

भावार्थ—यदि वस्तुको सर्वथा क्षणिक माना जायगा कि पदार्थ क्षणक्षणमे विलकुल नष्ट होता है तो यह दोष आएगा कि जीवके परलोककी व ससार व मोक्षकी सिद्धि न होगी तथा प्रत्यभिज्ञान न होगा कि यह वही वस्तु है जिसको पहले देखा था न किसी पदार्थके लिये विचार या तर्क हो सकेगा और न घट पट बनानेके कार्यका आरंभ हो सकेगा न कार्य बनके उससे कोई फलकी साधना की जा सकेगी । परंतु यदि वस्तुको गुणोके सदा स्थिर रहनेकी अपेक्षासे नित्य माना जावे और उन गुणोंमे समय समय पर्याय विनशती उपजती है इससे अनित्य माना जावे तब ही

उसमेंसे कार्य हो सक्ते हैं। वास्तवमे यही अनेक धर्मात्मक सिद्धांत ठीक है। इसीसे हरएक सत्तारूप द्रव्यपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय रूप और गुणोकी अपेक्षा ध्रौव्य रूप सिद्ध होती है। ऐसा ही सत्ताका स्वभाव है। द्रव्य सत् स्वरूप है और सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। यही बात यथार्थ है।

इस तरह स्वरूप सत्ताको कहते हुए प्रथम गाथा, महासत्ताको कहते हुए दूसरी गाथा, जैसे द्रव्य स्वतःसिद्ध है वैसे उसकी सत्ता गुण भी स्वत सिद्ध है ऐसा कहते हुए तीसरी गाथा, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुए भी सत्ता हीको द्रव्य कहते हुए चौथी गाथा इस तरह चार गाथाओके द्वारा सत्ता लक्षणके व्याख्यानकी मुख्यता करके दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

उत्थानिका—आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनोमे परस्पर अपेक्षापना है ऐसा दिखलाते है—

ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ ९ ॥

न भवो भगविहीनो भंगो वा नास्ति संभवविहीनः।
उत्पादोपि च भगो न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥ ९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(भग विहीणो भवो ण) व्ययके विना उत्पाद नहीं होता है (वा) तथा (संभवविहीणो भगो णत्थि) उत्पादके विना भंग या व्यय नही होता है (य) और (उप्पादो वि) उत्पाद तथा (भंगो) व्यय (धोव्वेण अत्थेण विणा ण) ध्रौव्य पदार्थके विना नहीं होते।

विशेषार्थ वृत्तिकार सम्यक्तकी उत्पत्तिका द्रष्टांत देकर इन

उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी परस्पर अपेक्षाको बताते हैं–निर्दोष परमात्माकी रुचिरूप सम्यक्त अवस्थाका उत्पाद सम्यक्तसे विपरीत मिथ्यात्त्व पर्यायके नाशके विना नहीं होता है क्योकि उपादान कारणके अभावसे कार्य नही वन सकेगा। जब उपादान कारण होगा तब ही कार्य होसक्ता है। जैसे मिट्टीके पिडका नाश हुए विना घड़ा नहीं पैदा होसक्ता है। मिट्टीका पिंड उपादान कारण है। दूसरा कारण यह है कि जो मिथ्यात्व पर्यायका नाश है वही सम्यक्तकी पर्यायका प्रतिभास है क्योंकि ऐसा सिद्धांतका वचन है कि "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभाव" अन्य भाव रूप स्वभाव ही अभाव होता है अर्थात् सर्वथा अभाव नही होता–अन्य अवस्थारूप परिणमना ही अभाव है जैसे घटका उत्पन्न होना ही मिट्टीके पिंडका भंग है। यदि मिथ्यात्व पर्यायके भग रूप सम्यक्तके उपादान करणके अभावमे भी शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रुचिरूप सम्यक्तका उत्पाद हो जावे तब तो उपादान कारणसे रहित आकाशके पुष्पोंका भी उत्पाद हो जावे सो ऐसा नहीं हो सक्ता है। इसी तरह पर द्रव्य उपादेय है–ग्रहण योग्य है ऐसे मिथ्यात्वका नाश पूर्वमें कहे हुए सम्यक्त पर्यायके उत्पाद विना नहीं होता है क्योकि भगके कारणका अभाव होनेसे भंग नहीं बनेगा जैसे घटकी उत्पत्तिके अभावमे मिट्टीके पिंडका नाश नही बनेगा। दूसरा कारण यह है कि सम्यक्त रूप पर्यायकी उत्पत्ति मिथ्यात्त्व रूप पर्यायके अभाव रूपसे ही देखनेमे आती है क्योकि एक पर्यायका अन्य पर्यायमे पलटना होता है। जैसे घट पर्यायकी उत्पत्ति मिट्टीके पिंडके अभाव रूपसे ही होती है। यदि सम्यक्तकी उत्पत्तिकी

अपेक्षाके विना मिथ्यात्त्व पर्यायका अभाव होता है ऐसा माना-जाय तो मिथ्यात्त्व पर्यायका अभाव हो ही नही सक्ता क्योंकि अभावके कारणका अभाव है अर्थात् उत्पाद नही है । जैसे घटकी उत्पत्तिके विना मिट्टीके पिडका अभाव नही होसक्ता इसी तरह परमात्माकी रुचिरूप सम्यक्तका उत्पाद तथा उससे विपरित मिथ्यात्त्व पर्यायका नाश ये दोनो वाते इन दोनोके आधारभूत परमात्म रूप द्रव्य पदार्थके विना नही होती । क्योकि द्रव्यके अभावमे व्यय और उत्पादका अभाव है। मिट्टी द्रव्यके अभाव होने-पर न घटकी उत्पत्ति होती है न मिट्टीके पिडका भंग होता है । जैसे सम्यक्त और मिथ्यात्व पर्याय दोनोमे परस्पर अपेक्षापना है ऐसा समझकर ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीन दिखलाए गए हैं इसी तरह सर्व द्रव्यकी पर्यायोमे देख लेना व विचार लेना चाहिये, ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ—इस गाथामे आचार्यने उत्पाद व्यय ध्रौव्यको एक दूसरेकी अपेक्षासे अर्थात् एक दूसरेके आलम्बनसे होना सिद्ध किया है । स्वतन्त्र न उत्पाद होसक्ता है न व्यय और न ध्रौव्य ही रह सक्ता है । वास्तवमे वात इतनी है कि पदार्थमे समय समयमें कोई न कोई अवस्था होती रहती है । एक अवस्थाकी तरफ दृष्टि देकर यदि विचार करेगे तो विदित होगा कि वहां ये तीनो ही हैं । जिस अवस्थाका व्यय होकर कोई अवस्था वनी है उसका तो नाश या व्यय हुआ है, जो अवस्था पैदा हुई है उसका उत्पाद है और दोनो अवस्थाओका आधारभूत पदार्थ वरावर विद्य-मान है यही ध्रौव्य है । यदि उत्पाद न माने तो व्यय न होगा ।

व्यय न माने तो उत्पाद न होगा। ध्रौव्य न माने तो उत्पाद व्यय किसमें होगा। इसलिये यह बात बिलकुल यथार्थ है कि एक सम-यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनोको ही किसी भी सत् पदार्थमे मानना होगा। अन्यथा कोई कार्य नहीं होसक्ता। जैसे जब एक काष्टकी चौकी बनी है तब काष्ठके तखतेकी दशाको बिगाडकर बनी है। जब तखतेका नाश हुआ तब ही चौकीकी उत्पत्ति हुई तथा तखते और चौकी दोनोका आधारभूत लकडी ध्रौव्य रूपसे मौजूद है ही। गोरसको विलोकर जब मक्खन बना तब मक्खनका उत्पाद हुआ सो दूधकी दशाको नाशकर हुआ है और गोरस दूधमें भी था और इस मक्खनमें भी है। वृत्तिकारने सम्यक्तकी उत्पत्तिका उदा-हरण दिया है कि जब सम्यग्दर्शन गुण आत्मामे प्रगट होता है तब मिथ्यात्त्वके उदयका अभाव अवश्य होता है और आत्मा दोनो अवस्थाओमे विद्यमान रहता है। इस कथनसे यह बात दिखलाई है कि किसी पदार्थका सर्वथा नाश या अभाव नहीं होसक्ता है और न कोई पदार्थ अकस्मात् विना कारणके उत्पन्न होसक्ता है तथा जिसमें नाशपना और उत्पाद होता है वह पदार्थ बना रहता है। मूल पदार्थ यदि न बना रहे तो कोई भी अवस्था उसमें हो नही सक्ती। इस कथनसे और भी स्पष्टकर दिया गया है कि यह जगत् अनादिअनन्त और अकृत्रिम है। कारण यही है कि सत् पदार्थ सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे रहता है। जिन पदार्थोंका जगतमे समावेश है वे सब पदार्थ सत् हैं और उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप हैं। यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कथन परस्पर सापेक्ष है इसी बातको स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें इस भांति दर्शाया है—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो जो कार्यका उत्पाद होता है वह नियमसे अपने उपादान कारणको क्षय करके होता है। यह नाश और उत्पाद अपने२ लक्षणकी अपेक्षा अलग२ हैं परंतु जाति अर्थात् सत्तारूप द्रव्यकी अपेक्षा या प्रमेयपनेकी अपेक्षा ये दोनो भिन्न नहीं हैं—एक रूपका रूपान्तर हुआ है। यदि इनको एक दूसरेकी अपेक्षा विना स्वतंत्र माने तो ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनो ही आकाशके पुष्प समान हो जावेंगे अर्थात् कुछ भी नहीं रहेंगे। इसीके वतानेको लौकिक दृष्टान्त देते हैं—

घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोहमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जैसे कोई सुनार सुवर्णके घटको तोडकर उससे मौलि या मुकुट बना रहा था उस समय उसके पास तीन आदमी तीन अभिप्रायके आए। एक तो सुवर्णका घट लेना चाहता था वह इस सुवर्णके घटको नष्ट होते देखकर मनमे शोक करता है। दूसरा सुवर्णका मौलि लेना चाहता था वह अपनी इच्छानुकूल मौलिको वनते देखकर हर्ष करता है। तीसरा मात्र सुवर्ण चाहता था वह घटका नाश होते न खेद करता न मौलिके वनते हुए हर्ष करता किन्तु माध्यस्थ या उदासीन रहता है क्योकि उसको तो सुवर्ण मात्र चाहिये वह चाहे जिस अवस्थामे मिले। इस दृष्टांतसे आचार्यने यह दिखलाया कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य परस्पर अपेक्षा सहित हैं, स्वतंत्र अलग२ नहीं पाए जा सक्ते हैं। तथा स्वरूपके लक्ष-

णकी अपेक्षा तीनों भिन्न २ हैं परन्तु एक द्रव्यमें एक समयमें पाए जाते हैं इससे भिन्न नहीं हैं। इस कारण ये कथंचित् भिन्न व कथंचित् अभिन्न हैं। दूसरा दृष्टांत देते हैं—

पयो व्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

भावार्थ—जिसको यह व्रत है कि मै दूधको खाऊंगा दही न खाऊंगा वह दहीको नही खाता है और जिसको दही खानेका व्रत है वह दही खाता है दूधको नही खाता है परन्तु जिसको यह व्रत है कि मैं गोरसको नही खाऊगा वह न दहीको खाता है न दूधको पीता है इसलिये यह सिद्ध है कि पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। जब दूधका दही बनता हो तब दूध चाहनेवालेको खेद, दही चाहनेवालको हर्ष व दोनो न चाहनेवालेको माध्यस्थ भाव रहेगा। ऐसा वस्तुका स्वभाव जानकर अपने आत्माको सत् पदार्थ निश्चय करके अपनी संसार अवस्थाको नाशकर मुक्तावस्थाके उत्पादका दृढ़ उद्योग हमको करना चाहिये और वह उद्योग एक साम्यभाव है जो रत्नत्रयकी एकतारूप आत्माकी परिणतिमे झलकता है इसलिये साम्य या स्वात्मानुभवका लाभ करना चाहिये ॥ ९ ॥

उत्थानिका—आगे यह बताते है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका द्रव्यके साथ परस्पर आधार आधेय भाव है इसलिये अन्वयरूप द्रव्यार्थिक नयसे वे द्रव्य ही हैं—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ॥
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥१०॥

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः।
द्रव्यं हि सन्ति नियतं तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम् ॥१०॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (पज्जएसु) पर्यायोंमे (विज्जंते) रहते हैं। (पज्जाया) पर्यायें (णियदं हि) निश्चयसे ही (दव्वं) द्रव्यमे (संति) रहती हैं। (तम्हा) इस कारणसे (सव्वं) वे सब पर्यायें (दव्वं) द्रव्य (हवदि) हैं।

विशेषार्थ-वृत्तिकार सम्यग्दर्शन पर्यायका दृष्टांत देकर बताते है कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप आत्मतत्वका निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानरूपसे उत्पाद, उसी ही समयमें स्वसंवेदन ज्ञानसे विलक्षण अज्ञान पर्यायरूपसे व्यय तथा इन दोनोका आधारभूत आत्मद्रव्यपनेकी अवस्था रूपसे ध्रौव्य ऐसे ये तीनों ही भेद पर्यायोंमे रहते है अर्थात् सम्यक्त पूर्वक निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान पर्यायमे उत्पाद है तथा स्वसंवेदन रहित अज्ञान पर्यायरूपमे व्यय तथा इन दोनोका आधाररूप आत्मद्रव्यपनेकी अवस्था रूपसे ध्रौव्य अपनी अपनी पर्यायोमे रहते है। और ये ऊपर कहे हुए लक्षण सहित ज्ञान, अज्ञान और इन दोनोका आधाररूप आत्म द्रव्यपना ऐसो ये पर्यायें निश्चय करके अपने २ संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिके भेदसे भेदरूप है तथापि आत्माके प्रदेशोमे होनेसे अभेदरूप हैं इसलिये जब निश्चयसे ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य आधार आधेय भावसे द्रव्यमे रहते हैं तब यह स्वसवेदन ज्ञान आदि पर्यायरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनो अन्वय द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्य हैं। पूर्वकथित उत्पाद आदि तीनोंका तैसे ही स्वसंवेदन ज्ञान आदि तीनो पर्यायोका अनुगत आकारमे व अन्वय रूपसे जो आधार हो सो अन्वय द्रव्य कहलाता है। अन्वय द्रव्य जिसका विषय हो उसको अन्वय द्रव्यार्थिक नय कहते है। जैसे यहां ज्ञान अज्ञान पर्यायोमें तीन

भेद कहे गए तैसे ही सर्व द्रव्यकी पर्यायोमे यथासंभव जान लेना चाहिये यह अभिप्राय है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यसे भिन्न नही हैं । ये तीनों ही द्रव्यमें होते हैं । इनके विना द्रव्य नहीं और द्रव्यके विना ये नही । जैसे बीजका नाश अकुरका फूटना तथा वृक्षत्वका ध्रौव्य वृक्षके विना नहीं और वृक्ष इनके विना नहीं होता है । मिट्टीके पिडका नाश, घटकी उत्पत्ति तथा मिट्टीपनेका ध्रौव्य मिट्टी द्रव्यके विना नही और मिट्टी इनके विना नहीं । दूधका नाश घीका उत्पाद, गोरसपनेका ध्रौव्य गोरस द्रव्यके विना नहीं और गोरस इन तीनके विना नहीं है । इसी तरह वृत्तिकारके अनुसार मिथ्यात्वका नाश, सम्यक्तकी उत्पत्ति, आत्मापनेका ध्रौव्य आत्म द्रव्यके विना नही और आत्मा इन विना नहीं । ऐसा हरएक द्रव्यका अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ आधार आधेय भाव है। पर्यायार्थिक नयसे अर्थात् अंश भेद या अंश कल्पनाकी दृष्टिसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य दिखते हैं परन्तु द्रव्यार्थिक नयसे ये भेद नही दिखते–द्रव्य अखंड एकरूप बराबर झलकता है। जो अनेक समयोंमें एकसा चला आवे उसको अन्वय कहते हैं। अभिप्राय कहनेका यह है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्य ही निश्चयसे हैं द्रव्यसे किसी तरह बिल्कुल भिन्न नही है। भेद दृष्टिमे संज्ञा, संख्या, लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है परन्तु प्रदेशोकी अपेक्षा भेद नही है । श्री आप्तमीमांसामें श्री समतभद्राचार्यने इसी बातको बतलाया है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

भावार्थ–वस्तु सामान्यपने न उपजती है, न नष्ट होती है क्योकि प्रगटपने अन्वय स्वरूप है, बराबर बनी रहती है किन्तु विशेषपने अर्थात् पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न भी होती है व्यय भी होती है। भेदरूप एक समयमें देखा जावे तो एक साथ सत्‌रूप द्रव्यमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य दीखेंगे। सत्ता मात्र द्रव्यकी दृष्टिमें मात्र अभेदरूप एक द्रव्य ही दीखेगा। यदि द्रव्यका उत्पाद माना जाय तो असत्‌का उत्पाद हो जायगा सो असंभव है। यदि द्रव्यका नाश माना जाय तो सत्‌का नाश होजायगा सो भी नहीं होसक्ता इसलिये पर्यायोमे ही उत्पाद व्यय होता है द्रव्यमें नही। द्रव्य सदा बना रहता है। द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। ये तीनो प्रत्येक विशेषण है द्रव्य विशेष्य है। ऐसी वस्तुका स्वरूप जानकर हमारा कर्तव्य है कि पर्यायोके उत्पाद विनाशमें हर्ष शोक न करके संसारकी अवस्थाओंमे साम्यभाव रक्खें और द्रव्य दृष्टिसे देखते हुए छः द्रव्योको पृथक्२ देखकर उनमेसे निज आत्म द्रव्यको स्वाभाविक शुद्ध स्वरूपमें तन्मय देखकर उसीके मननसे व अनुभवसे अपना हित करें। यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

उत्थानिका–आगे फिर भी उत्पाद व्यय ध्रौव्यका अन्य प्रकारसे द्रव्यके साथ अभेद दिखाते हैं अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्यका समयभेद नही है ऐसा बताते हैं व जो समयभेद माने उसे निराकरण करते हैं या खण्डन करते है—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एकम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥ ११ ॥

समवेत खलु द्रव्य संभवस्थितिनाशसज्ञितार्थैः ।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्य खलु तत्त्रितयम् ॥११॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(दव्वं) द्रव्य (खलु) निश्चयसे (एकम्मि चेव समये) एक ही समयमे परिणमन करनेवाले (संभव-ठिदिणाससण्णिदट्ठेहि) उत्पाद स्थिति व नाश नामके भावोसे (समवेद) एक रूप है अर्थात् अभिन्न है (तम्हा) इसलिये (दव्व) द्रव्य (खु) प्रगट रूपसे (तत्तिदयं) उन तीन रूप है ।

विशेषार्थ-यहा वृत्तिकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यको आत्मा द्रव्यके साथ लगाकर स्थापित करते है । आत्मा नामा द्रव्य जव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक निश्चल और विकार रहित अपने आत्माके अनुभवमई लक्षणवाले वीतराग चारित्रकी अवस्थासे उत्पन्न होता है अर्थात् जव सम्यग्दृष्टी और ज्ञानी आत्मामे वीतराग चारित्रकी पर्यायका उत्पाद होता है तव ही रागादिरूप पर्यायका जो परद्रव्योके साथ एकता करके परिणमन कररहा था-नाश होता है और उसी वक्त इन दोनों उत्पाद और व्ययका आधाररूप आत्म द्रव्यकी अवस्थारूप पर्यायसे ध्रौव्यपना है । इस तरह वह आत्म-द्रव्य अपने ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी पर्यायोसे एक रूप है या अभिन्न है । यही वात निश्चयसे है । ये तीनो पर्यायें वौद्धमत की तरह भिन्न २ समयमें नही होती हैं किन्तु एक ही समयमें होती है । जैसे जव अंगुलीको टेढ़ा किया जावे तव एक ही समयमे टेढेपनेकी उत्पत्ति और सीधेपनका नाश तथा अगुलीपनेका ध्रौव्य है । इसी तरह जब कोई ससारी जीव मरण करके ऋजु-गतिसे एक ही समयमें जाता है तब जो समय मरणका है वही

समय ऋजुगति प्राप्तिका है तथा वह जीव अपने जीवपनेसे विद्य-
मान है ही । तैसे ही जब क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानके
अंतिम समयमे केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है तव ही अज्ञान पर्या-
यका नाश होता है तथा वीतरागी आत्माकी स्थिति है ही। इसी
तरह जब अयोगी केवलीके अन्त समयमे मोक्ष होती है तब जिस
समय मोक्ष पर्यायका उत्पाद है तब ही चौदहवें गुणस्थानकी पर्या-
यका नाश है तथा दोनो ही अवस्थाओमे आत्मा ध्रुवरूप है ही ।
इस तरह एक ही समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध होते हैं । इस
लिये जब पूर्वमे कहे प्रमाण एक ही समयमें तीन प्रकारसे द्रव्य
परिणमन करता है तब संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिसे इन तीन
पर्यायोमें भेद होते हुए भी प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद है इसलिये
द्रव्य प्रगट रूपसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं । जैसे यहां आत्मामें
चारित्रपर्यायकी उत्पत्ति और अचारित्रपर्यायका नाश समझाते हुए
तीनो ही भंग अभेदपने दिखाए गए हैं ऐसे ही सर्व द्रव्योंकी
पर्यायोमे भी जानना चाहिये । ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ-इस गाथामे आचार्यने द्रव्यका लक्षण और भी
अच्छी तरह स्पष्ट किया है । सत्ता रूप द्रव्य एक ही समयमें
उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है । ये तीनो भग द्रव्यमे ही होते
हैं इनकी सज्ञा व द्रव्यकी सज्ञा जुदी है, इनका अभिप्राय व
द्रव्यका अभिप्राय जुदा है तथापि जो द्रव्यके प्रदेश हें वे ही
इन उत्पाद व्यय ध्रौव्यके प्रदेश है इस कारण द्रव्यके साथ इनकी
अभिन्नता या एकता है । एकता होनेपर भी ऐसा नही है कि
जिस समय उत्पाद होता है उस समय व्यय तथा ध्रौव्य नही होते

अथवा जिस समय व्यय होता उस समय उत्पाद और ध्रौव्य नहीं होते अथवा जब ध्रौव्य होता तब उत्पाद व्यय नहीं होते । किन्तु वस्तुका स्वभाव यह है कि ये तीनों द्रव्यमें एक ही समयमे होते है । द्रव्य अपने सामान्य द्रवण या परिणमन स्वभावसे सदाकाल परिणमन करता रहता है चाहे उसमें स्वाभाविक सदृश परिणमन हो, चाहे वैभाविक विसदृश परिणमन हो। हरएक समयमें द्रव्य जब जिस अवस्थाविशेषंको झलकाता है तब ही पूर्व अवस्थाविशेषका नाश होता है और वह द्रव्य स्थिर रहता है । द्रव्यका ध्रौव्य रहते हुए किसी पर्यायका नाश सो ही किसी अन्य पर्यायका उत्पाद है अथवा किसी पर्यायका उत्पाद सो ही किसी पर्यायका नाश है । सूर्योद-यका होना सो ही रात्रिका नाश है, अथवा रात्रिका नाश सो ही सूर्योदय होना है । दिशाओका ध्रौव्य है ही । चनेके दानेका नाश सो ही वेसनका उत्पाद है अथवा वेसनका उत्पाद सो ही चनेके दानेका नाश है तथा चनेके परमाणुओंका ध्रौव्य है ही। इसी तरह आत्मामें क्रोधका नाश सो ही उत्तम क्षमाका उत्पाद है, मानका नाश सो ही उत्तम मार्दवका उत्पाद है, मायाका नाश सो ही उत्तम आर्जवका उत्पाद है, उत्तम शौचका उत्पाद सो ही लोभका नाश है, सम्यग्दर्शनका उत्पाद सो ही मिथ्यात्त्वका नाश है, पंचमगुण-स्थानका नाश सो ही सप्तम गुणस्थानका उत्पाद है। अव्रतका नाश सो ही व्रतभावका उत्पाद है। इन उत्पाद व नाशोंके एक समयमें होते हुए आत्मा ध्रौव्य रूप है ही, इस तरह आत्मा व अनात्मा-रूप सम्पूर्ण द्रव्य हरएक समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं । इसी तीनरूप स्वभावके होते हुए ही द्रव्य जगतमें कार्यको प्रगट

कर सक्ता है। यदि द्रव्यको ऐसा न माने और उसको बिलकुल नाश होनेवाला, फिर नए सिरेसे उत्पन्न होनेवाला मान लें तो सत् द्रव्यका नाश व असत् द्रव्यका उत्पाद हो जायगा जो बिलकुल असंभव है। द्रव्यके भीतर पर्यायोंमें ही उत्पाद व्यय है। द्रव्य और उसके गुण सदा ध्रौव्य रहते हैं।

इससे तात्पर्य यह है कि आत्माकी संसार पर्याय नष्ट होकर सिद्ध पर्याय होसक्ती है तथा दोनो पर्यायोंमें वही आत्मा बना रहेगा—इससे हम ससारी आत्माओंको उद्यम करके अपनी इस दुःखमय ससार पपर्यायका नाश करना चाहिये और परमानंदमई सिद्ध पर्यायको पैदा करना चाहिये। इसका उपाय सम्यग्ज्ञान पूर्वक साम्यभावका अभ्यास है। इस अभ्यासमें सदा लीन रहना चाहिये ॥ ११ ॥

इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप द्रव्यका लक्षण है। इस व्याख्यानकी मुख्यताके तीन गाथाओमें तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे इस बातको दिखलाते हैं कि द्रव्यकी पर्यायोकी अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है, द्रव्यसे भिन्न नहीं है—

पादुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तंपि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ १२ ॥

प्रादुर्भवति चान्यः पर्याय॰ पर्यायो व्येति अन्यः ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्य नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥ १२ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दव्वस्स) द्रव्यकी (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पर्याय (पादुब्भवदि) प्रगट होती है (य) और (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पूर्व पर्याय (वयदि) नष्ट होती

है (तंपि) तौभी (दव्वं) द्रव्य (णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं) न तो नाश हुआ है और न उत्पन्न हुआ है।

विशेषार्थ—वृत्तिकार आत्म द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि शुद्ध आत्मा द्रव्यके जब कोई अपूर्व और अनन्त ज्ञान सुख आदि गुणोकी स्थान तथा अविनाशी परमात्म स्वरूपकी प्राप्तिरूप स्वभाव द्रव्य पर्याय अथवा मोक्ष अवस्था प्रगट होती है तब इस मोक्ष पर्यायसे भिन्न तथा निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिरूप मोक्ष पर्यायकी उपादान कारणरूप पूर्व पर्याय नाश होती है। तथापि वह परमात्मा द्रव्य शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है। अथवा ससारी जीवकी अपेक्षा जब देव आदि रूप विभाव द्रव्य पर्याय उत्पन्न होती है तब ही मनुष्य आदिरूप पर्याय नष्ट होती है। तथा वह जीव द्रव्य निश्चयसे न उपजा है न विनशा है। इसी तरह पुद्गल द्रव्यपर जब विचार किया जाय तो मालूम होगा कि दो अणुका स्कंध, चार अणुका स्कंध आदि स्कन्धरूप स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्याय जब कोई उत्पन्न होती है तब पूर्व पर्यायको नाश करके ही पैदा होती है। तौ भी पुद्गल द्रव्य निश्चयसे न उपजता है न नष्ट होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होनेके कारण द्रव्यकी पर्यायोंका नाश और उत्पाद होने पर भी द्रव्यका नाश नहीं होता है। इस हेतुसे द्रव्यकी पर्यायें भी द्रव्य लक्षण या स्वरूप होती है अर्थात् द्रव्यसे जुदी नहीं हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ- इस गाथामे आचार्यने द्रव्यके स्वरूपको और भी स्पष्ट प्रगट कर दिया है कि द्रव्य न कभी उपजता है न नष्ट होता

है। जो आत्मा निगोदमें था वही आत्मा उन्नति करते २ सिद्ध अवस्थामे पहुंच जाता है। आत्म द्रव्यका न कभी उत्पाद है न कभी व्यय है। किन्तु द्रव्य अवस्थाओको पलटा करता है इसलिये जो जो पर्याय होती है उस हीका उत्पाद है और उससे पहले जो पर्याय थी उस हीका व्यय है। एक द्रव्य दो पर्यायोंमें नहीं रह सक्ता है। कोई संसारी जीव मनुष्य था मरकर देव हुआ। देव आयुका उदय होना सो ही मनुष्य आयुका नाश होना है। देव अवस्था विना मनुष्य अवस्थाके नाश हुए कभी नहीं पैदा होसक्ती। इसी तरह जिस समय कोई साधु सर्व कर्म—बंधनोंको नाशकर मुक्त होता है और तब परमात्म पद या सिद्ध पद प्रगट होता है तब ही उससे पूर्वकी संसार पर्यायका नाश होता है। चौदहवें गुणस्थान तक इस जीवको संसारी कहेंगे क्योंकि वहांतक इसके साथ द्रव्य कर्मबन्ध भी है और शरीर भी है। इस गुणस्थानके छोड़ते ही सिद्ध पर्याय प्रगट होती है तब सिद्ध पर्यायका जन्म व संसार पर्यायका नाश कहा जाता है। इन दशाओंमें—पर्यायोंमें उत्पाद व्यय हुआ किन्तु आत्मा न कभी उपजा न नष्ट हुआ है। इसी तरह पुद्गल द्रव्यका एक स्कंध ९० परमाणुओका था उसमेंसे ९ परमाणु निकल गए तथा ७ परमाणु मिल गए इस तरह जब वह स्कंध ९२ परमाणुओंका प्रगटा उस समयकी पर्यायका उत्पाद हुआ तब ही ९० परमाणुओंके स्कंधकी पर्यायका नाश हुआ। परमाणु सब अविनाशी हैं। परमाणु न उपजे न नष्ट हुए अथवा किसी विशेष स्कधमे जो स्पर्श रस गंध वर्ण है वह पलटता रहता है। स्कंध बना रहता है। जैसे कोई आमका फल हरा था जब वह पीला हुआ

तब वह हरेपनेको नाश करके ही पीला हुआ है। इस तरह अवस्था बदलते हुए भी आमका उस क्षण न नाश हुआ न उत्पाद ।

इस कथनसे आचार्यने यह दिखला दिया है कि इस जगतके सर्व ही द्रव्य उत्पाद व्यय करते हुए भी सदा बने रहते हैं। यही जगतका स्वरूप है। यह जगत इसी कारण नित्यानित्त्य है। द्रव्योंके बने रहनेके कारण नित्य जब कि पर्यायोंके उपजने व विनशनेकी अपेक्षा अनित्य है। न यह सर्वथा अनित्त्य है न सर्वथा नित्त्य है।

श्री समंतभद्राचार्यने स्वयंभूस्तोत्रमे यही बात बताई है—

स्थितिजनननिरोधलक्षण, चरमचर च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकललाञ्छनं, वचनमिद वदता वरस्य ते ॥

भावार्थ-हे मुनिसुव्रतनाथ! आप उपदेष्टाओमे श्रेष्ठ हैं। आपका जो यह उपदेश है कि यह चेतन व अचेतन रूप जगत प्रत्येक क्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणको रखनेवाला है वह इस बातका चिह्न है कि आप सर्वज्ञ हैं। क्योकि जैसा वस्तु स्वरूप है वैसा आपने जाना है तथा वैसा ही उपदेश किया है।

तात्पर्य्य यह है कि ससारकी क्षणभगुर पर्यायोमे हमे मोही न होकर अपने आत्मद्रव्यके अविनाशी स्वभावपर ध्यान देकर उसकी शुद्धिके लिये जगतका स्वरूप समता भावसे विचारकर राग-द्वेष छोड़ देना चाहिये और स्वचारित्रमे तन्मय होकर परम स्वाधीनताका लाभ करना चाहिये ॥ १२ ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपको गुण-पर्यायकी मुख्यतासे बताते हैं।

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेवेत्ति ॥ १३ ॥

परिणमति स्वयं द्रव्य गुणतश्च गुणान्तरं सदविशिष्टम् ॥
तस्माद्गुणपर्याया भणिताः पुनः द्रव्यमेवेति ॥ १३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(सदवसिट्ठं) अपनी सत्तासे अभिन्न (दव्वं) द्रव्य (गुणदो) एक गुणसे (गुणंतरं) अन्य गुणरूप (सयं) स्वयं-आप ही (परिणमदि) परिणमन कर जाता है । (तम्हा) इस कारणसे (य पुण) ही तब (गुणपज्जाया) गुणोकी पर्यायें (दव्वमेवेत्ति) द्रव्य ही हैं ऐसी (भणिया) कही जाती हैं ।

विशेषार्थ-वृत्तिकार समझाते हैं कि एक जीव द्रव्य अपने चैतन्य स्वरूपसे भिन्न न होकर अपने ही उपादान कारणसे आप ही केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वीज जो वीतराग स्वसंवेदन गुणरूप अवस्था उसको छोड़कर सर्व प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान गुणकी अवस्थाको परिणमन कर जाता है इस कारणसे जो गुणकी पर्यायें होती है वे भी द्रव्य ही है, पूर्व सूत्रमे कहे प्रमाण केवल द्रव्यकी पर्यायें ही द्रव्य नही हैं अथवा संसारी जीव द्रव्य मति स्मृति आदि विभाव ज्ञान गुणकी अवस्थाको छोडकर श्रुतज्ञानादि विभाव ज्ञान गुणरूप अवस्थाको परिणमन कर जाता है ऐसा होकर भी जीव द्रव्य ही है । अथवा पुद्गल द्रव्य अपने पहलेके सफेद वर्ण आदि गुण पर्यायको छोड़कर लाल आदि गुण पर्यायमें परिणमन करता है ऐसा होकर भी पुद्गल द्रव्य ही है । अथवा आमका फल अपने हरे गुणको छोड़कर वर्णगुणकी पीत पर्यायमें परिणमन कर

जाता है तौ भी आम्र फल ही है। इस तरह यह भाव है कि गुणकी पर्यायें भी द्रव्य ही है।

भावार्थ–आचार्यने इससे पहलेकी गाथामें द्रव्यकी पर्यायें द्रव्यसे अभिन्न होकर द्रव्य ही हैं ऐसा बताया था। इस गाथामें यह बताते हैं कि द्रव्यमे जितने गुण होते है वे सब जुदे २ परिणमन करते हैं। उन गुणोकी जो जो अवस्थाए होती हैं उनको गुण पर्यायें कहते हैं। जैसे द्रव्यके गुण द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही हैं अथवा द्रव्यकी पर्याय द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही है तैसे गुणोकी पर्यायें भी द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही है।

द्रव्य अपने गुणोंसे और गुणोकी पर्यायोसे जुदा नहीं है क्योंकि गुण और पर्यायरूप ही द्रव्य है। इसीको वृत्तिकारने दृष्टान्त देकर बताया है कि ज्ञान गुण जब वीतराग स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञानकी अवस्थासे बदलकर केवलज्ञानकी अवस्थामे आता है अथवा मतिज्ञानकी स्मृतिरूप अवस्थाको छोडकर श्रुतज्ञानकी पर्यायमें आता है तब इन गुण पर्यायोमे जीव द्रव्य बराबर मौजूद है अथवा एक आमका फल अपनी सत्तासे रहता हुआ ही अपने स्पर्शादि गुणोंकी पर्यायोमे पलटता है–हरे वर्णसे पीला होजाता है।

जैसे द्रव्यमे द्रव्य समस्तकी अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है अर्थात् द्रव्यकी पूर्व पर्यायका व्यय, वर्तमान पर्यायका उत्पाद और द्रव्यकी थिरता, तैसे ही हरएक गुणमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं–पूर्व गुणकी पर्यायका व्यय, वर्तमान पर्यायका उत्पाद और गुणकी थिरता। द्रव्यकी पर्यायें जैसे द्रव्यसे जुदी नही हैं वैसे गुणकी पर्यायें द्रव्यसे जुदी नहीं हैं।

यहां तात्पर्य्य यह है कि द्रव्य अनेक गुणोंका समुदाय है। एक समयमें जैसे अनेक गुण द्रव्यमे होते हैं वैसे ही अनेक पर्यायें भी द्रव्यमे एक समयमें होती हैं। उन अनेक पर्यायोका द्रव्य ही आधार है। वे पर्यायें द्रव्यसे जुदी नही है, किन्तु जैसे गुण समुदाय द्रव्य ही है तैसे पर्याय समुदाय द्रव्य ही है। अनेक गुणोंकी एक समयवर्ती पर्यायोको ही द्रव्यकी एक समयवर्ती पर्याय कहते हैं। पर्यायोंमें भेद अपेक्षा अनेकपना है अभेद अपेक्षा एकपना है। ऐसे ही गुणोमे भेद अपेक्षा अनेकपना है अभेद अपेक्षा एकपना है। जब हमने कहा कि यह जीव द्रव्य मनुर्ष्य पर्यायको छोडकर देव पर्यायमें बदला तब अभेदसे तो एक पर्याय बदली ऐसा झलकता है परन्तु भेदसे देखते हुए मनुष्य जीवमें जो अनेक गुणोकी पर्यायें थी वे ही देव जीवमें पलट गई हैं। अर्थात् जैसे मनुप्य पर्याय अनेक पर्यायोंका समूह है वैसे देव पर्याय अनेक पर्यायोका समूह है। अथवा जैसे गेहूके आटेसे रोटी बनाई, इसमे आटेकी पर्याय पलटकर रोटीकी पर्याय होगई। अभेदसे यह एक ही पर्याय है, परन्तु जब भेद द्वारा विचार करे तब जितने गुण आटेमे हैं वे सब अपनी पर्यायोसे पलटे हैं अर्थात् आटेमें जो अनेक पर्यायें थी वे ही अनेक पर्यायें रोटीमें परिणमन कर गईं। इसका भाव यह हुआ कि द्रव्यकी एक पर्याय गुणोकी अपेक्षा अनेक पर्यायरूप है। जिस समय एक जीव छद्मस्थ अल्पज्ञानीसे सर्वज्ञ परमात्मा अरहंत होता है, तब जीव द्रव्यकी अपेक्षा अन्तरात्माकी पर्याय पलटकर परमात्माकी पर्याय उत्पन्न हुई। जब उस जीव द्रव्यके अनेक गुणोंकी अपेक्षा विचार करें तब यह कहना होगा कि अंतरात्माके गुणोकी पर्यायें पलटकर

परमात्माके गुणोकी अवस्थामें हो गई। जैसे ज्ञान गुणमे मति श्रुतादिसे पलटकर केवलज्ञान पर्यायका होना, दर्शनगुणमें चक्षु अचक्षु आदिको छोडकर केवल दर्शन पर्यायका होना, वीर्यगुणमें अल्प वीर्यको पलटकर अनत वीर्यरूप होना, सुख गुणमें परोक्ष सुखको छोडकर प्रत्यक्ष अनन्त सुखकी पर्यायमे होना इत्यादि। जिससे मतलब यह सिद्ध होता है कि जैसे अतरात्मा जीवकी पर्याय समुदायसे एक है तथापि अनेक गुणोकी अपेक्षा अनेक है ऐसे परमात्माजीवकी पर्याय समुदायसे एक है तथापि अनेक गुणोंकी अपेक्षा अनेक है। और जैसे परमात्मा द्रव्यकी पर्याव जीव द्रव्यसे अभिन्न है वैसे परमात्माके अनेक गुणोकी पर्यायें भी परमात्मा द्रव्यसे भिन्न नही है। इससे यही सिद्ध किया गया कि गुणोंकी पर्यायें भी द्रव्य ही हैं वे द्रव्यको छोडकर पृथक् नही हो सक्ती है। ऐसी द्रव्यकी महिमाको जाननेका मतलब यह है कि हम द्रव्यके स्वभावका मनन करके रागद्वेष त्यागें और वीतरागभावमे रहकर निजानन्दकी प्राप्ति करके संसार-भ्रमणका अभाव करें ॥ १३ ॥

इस तरह स्वभावरूप या विभावरूप द्रव्यकी पर्यायें तथा गुणोकी पर्यायें नयकी अपेक्षासे द्रव्यका लक्षण है। ऐसे कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओसे चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इस सम्बन्धमे फिर भी अन्य प्रकारसे युक्ति दिखलाते है-

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कधं दव्व।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १४ ॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम् ।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥ १४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) यदि (सद्दव्वं) सत्तारूप द्रव्य (ण हवदि) नहीं होवे तो (तं दव्वं असद्धुवं कधं हवदि) वह द्रव्य निश्चयसे असत्तारूप होता हुआ किस तरह होसक्ता है (वा पुणो अण्णं हवदि) अथवा फिर वह द्रव्य सत्तासे भिन्न हो जावे, क्योंकि ये दोनो बातें नहीं होसक्तीं (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) इसलिये द्रव्य स्वय सत्ता स्वरूप है ॥ १४ ॥

विशेषार्थ-यहां वृत्तिकार परमात्म द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि यदि वह परमात्म द्रव्य परम चैतन्य प्रकाशमई स्वरूपसे अर्थात् अपने स्वरूप सत्ताके अस्तित्व गुणसे सत् रूप न होवे तव वह निश्चयसे नही होता हुआ किस तरह परमात्म द्रव्य होसके ? अर्थात् परमात्म द्रव्य ही न होवे । यह वात प्रत्यक्षसे विरोध रूप है, क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञानसे परमात्मा है ऐसा अनुभवमें आता है । यदि कोई विना विचारे ऐसा माने कि सत्तासे द्रव्य जुदा है तो उसकी अपेक्षासे, यदि द्रव्य सत्ता गुणके अभावमे भी रहता है ऐसा माना जावे तो क्या२ दोष आवेंगे उसका विचार किया जाता है। यदि केवलज्ञान, केवलदर्शन गुणोके साथ अवश्य रहनेवाले अपने स्वरूपकी सत्तासे जुदा ही द्रव्य ठहर सक्ता है ऐसा माना जावे तो जब उसके स्वरूपका अस्तित्त्व नही है तव अपने स्वरूपकी सत्ताके विना द्रव्य नही रह सक्ता अर्थात् द्रव्यका ही अभाव मानना पड़ेगा । अथवा यदि ऐसा माना जाता है कि अपने२ स्वरूपके अस्तित्वसे सत्ता और द्रव्यमे संज्ञा, लक्षण प्रयोजनादिकी

अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्नता नहीं है—एकता है तब तो हमको भी सम्मत है क्योंकि द्रव्यका ऐसा ही स्वरूप है। इस अवसर पर बौद्धमतके अनुसार कहनेवाला तर्क करता है कि ऐसा मानना चाहिये कि सिद्ध पर्यायकी सत्तारूपसे द्रव्य उपचारमात्र है, मुख्यतासे नहीं है? इसका समाधान आचार्य करते हैं— कि यदि सिद्ध पर्यायका उपादान कारणरूप परमात्म द्रव्यका अभाव होगा तो सिद्ध पर्यायकी सत्ता ही नही संभव है। जैसे वृक्षके विना फलका होना सम्भव नहीं है।

इसी प्रस्तावमें नैयायिक मतके अनुसार कहनेवाला कहता है कि परमात्मा द्रव्य है किंतु वह सत्तासे भिन्न रहता है, पीछे सत्ताके समवाय (संवन्ध) से वह सत् होता है। आचार्य इस शंकाका भी समाधान करते हैं। पूछते हैं कि सत्ताके समवायके पुर्व द्रव्य सत् है या असत् है? यदि सत् है तो सत्ताका समवाय वृथा है क्योंकि द्रव्य पहलेसे ही अपने अस्तित्वमें है? यदि सत्ताके समवायसे पहले द्रव्य नहीं था तब आकाश पुष्पकी तरह न विद्यमान होते हुए द्रव्यके साथ किस तरह सत्ताका समवाय होगा? यदि कहो कि सत्ताका समवाय हो जावेगा तब फिर आकाश पुष्पके साथ भी सत्ताका समवाय हो जावेगा, परन्तु ऐसा होना संभव नहीं है। इसलिए अभेद नयसे शुद्ध स्वरूपकी सत्तारूप ही परमात्म द्रव्य है जैसे यहां परमात्म द्रव्यके साथ शुद्ध चेतना स्वरूप सत्ताका अभेद व्याख्यान किया गया तैसे ही सर्व चेतन द्रव्योंका अपनी२ सत्तासे अभेद व्याख्यान करना चाहिये। ऐसे ही अचेतन द्रव्योंका अपनी२ सत्तासे अभेद है ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्य सत्ता और द्रव्यका ध्रुव संबंध है इस बातको स्पष्ट करते हैं। सत्ता गुण है, द्रव्य गुणी है। इस लिये संज्ञादिकी अपेक्षा गुण गुणीमे भेद होते हुए भी प्रदेशोकी अपेक्षा भेद नही है। द्रव्य गुणका आधार है। जहां द्रव्य है वहां गुण है। यदि कोई तर्क करे कि सत्तारूप द्रव्य नहीं है तब यह बडा भारी दोष आवेगा कि द्रव्य असत् होकर द्रव्य ही नहीं रहसक्ता क्योकि जिसमें अस्तित्त्व नही वह कोई वस्तु नहीं हो सक्ती है। ऐसा माननेसे द्रव्यका नाश हो जायगा। और यदि सत्ता और द्रव्य दो भिन्न २ माने जावें तो भी दोनोका अभाव हो जावेगा, क्योकि द्रव्यके विना सत्ता कहां रहेगी और सत्ता विना द्रव्य कैसे ठहर सकेगा। सत्तारूप द्रव्य है इसीसे वह ध्रुव रहता है। इसलिये यही निश्चित है कि द्रव्य स्वय सत्तारूप है।

यदि बौद्धमतके अनुसार द्रव्यको क्षणभर ठहरनेवाला माना जावे ध्रुव न माना जावे तो उस द्रव्यसे कार्य नही होसक्ता। तब फिर यह जीव संसारी है–दुखी है। इसको अपना संसार मेटकर मुक्त होना चाहिये यह उपदेश नही बन सक्ता। जो जीव संसारी है वही जीव मुक्त होता है। जीवकी सत्ता ध्रुव माननेसे ही संसार और मुक्ति अवस्था बन सक्ती है।

जैसा कि स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है:–

यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत् ।
मोपादान नियामो भून्माऽऽश्वासः कार्यं जन्मनि ॥ ४२ ॥

भावार्थ–यदि द्रव्यकी सत्ता ध्रुव न मानी जावे और द्रव्यको सर्वथा असत् माना जावे तो उस द्रव्यसे कोई काम नहीं होसक्ता।

सुवर्णकी सत्ता ध्रुव होनेसे ही उसमेंसे अनेक आभूषण बननेका काम होसक्ता है और तब वह असत् द्रव्य आकाशके पुष्प समान हो जावेगा। तथा उपादानकारणका नियम न रहेगा अर्थात् घड़ा मिट्टीसे बनता है यह नियम न रहेगा। जब मिट्टी अपनी सत्ता न रक्खेगी तब उससे घड़ा बनेगा ऐसा नियम नहीं ठहर सक्ता है। और न मनमें यह विश्वास होसक्ता है कि अमुक कार्य अमुक कारणसे होगा। रोटी गेहूंसे बनती है ऐसा विश्वास होनेपर ही लोग गेहूंको खरीदकर लाते हैं। इस विश्वासका कारण गेहूंकी सत्ता है। इसलिये बौद्धमतके अनुसार माननेसे द्रव्यकी सत्ता नहीं ठहर सक्ती। यदि नैयायिकके अनुसार पहले सत्ता और द्रव्यको जुदा जुदा माना जावे फिर समवाय द्वारा उनका मेल माना जावे तब भी द्रव्यकी सिद्धि नहीं होसक्ती। द्रव्यमें सत्ता नहीं हो तो वह कैसे ठहर सक्ता है। सत्ता विना द्रव्यका अस्तित्व ही नहीं होसक्ता। और न सत्ता द्रव्यके विना पाई जासक्ती है। इसलिये यही बात निश्चित है सत्ता गुण है। द्रव्य गुणी है। दोनोंका अभेद है।"

उत्थानिका—आगे आचार्य पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण कहते हैं—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कधमेगं ॥ १५ ॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य।
अन्यत्वमतद् भावो न तद् भवत् भवति कथमेकम् ॥१५॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(पविभत्तपदेसत्तं) जिसमें प्रदेशोंकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो (पुधत्तमिदि) वह पृथक्त्व

है ऐसी (वीरस्स हि सासणं) श्री महावीर भगवानकी आज्ञा है। (अतब्भावो) स्वरूपकी एकताका न होना (अण्णत्तम्) अन्यत्व है। (तब्भवं ण) ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नहीं हैं (कधमेगं भवदि) तब किस तरह दोनों एक हो सक्ते हैं।

विशेषार्थ–जहां प्रदेशोंकी अपेक्षा एक दूसरेमें अत्यन्त जुदायगी हो अर्थात् प्रदेश भिन्न भिन्न हो जैसे दन्ड और दन्डीमें भिन्नता है। इसको पृथकत्त्वनामका भेद कहते हैं। इस तरहका पृथकत्त्व या जुदापना शुद्ध आत्मद्रव्यका शुद्ध सत्ता गुणके साथ नही सिद्ध होता है क्योंकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न २ नहीं है। जो द्रव्यके प्रदेश हैं वेही सत्ताके प्रदेश हैं। जैसे शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुणका स्वरूप भेद है परन्तु प्रदेश भेद नही है ऐसे ही गुणी और गुणके प्रदेश भिन्न २ नही होते। ऐसी श्रीवीर नामके अंतिम तीर्थंकर परम देवकी आज्ञा है। जहां संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिसे परस्पर स्वरूपकी एकता नहीं है वहां अन्यत्व नामका भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुणमे है। यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्यमें प्रदेशोकी अपेक्षा भेद है वैसे संज्ञादि लक्षण रूपसे भी अभेद हो ऐसा मान-नेसे क्या दोष होगा? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा वस्तु स्वरूप नही है। वह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुणके साथ प्रदेशोकी अपेक्षा अभेद होते हुए भी सज्ञा आदिके द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मई नही है। तन्मय होना ही निश्चयसे एकताका लक्षण है किंतु संज्ञादि रूपसे एकताका अभाव है। सत्ता और द्रव्यमे नाना-पना है। जैसे यहां मुक्तात्मा द्रव्यमें प्रदेशोके अभेद होने पर भी

संज्ञादि रूपसे नानापना कहा गया है तैसे ही सर्व द्रव्योंका अपने अपने स्वरूप सत्ता गुणके साथ नानापना जानना चाहिये ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने भेदके दो भेद बताए हैं–एक पृथक्त्व, दूसरा अन्यत्व ।

जहां एक द्रव्यके प्रदेश दूसरे द्रव्यके प्रदेशोंसे भिन्न होते हैं वहां पृथकत्त्व नामका भेद है। जहां प्रदेश एक होनेपर भी गुण व गुणीमे या पर्याय व पर्यायवानमें संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद होता है वहांपर अन्यत्त्व नामका भेद होता है। जीव अनंतानंत है उन सबमें पृथकत्त्व है । हरएक जीव अपने २ प्रदेशोंको भिन्न२ रखता हुआ एक दूसरेसे पृथक् है। पुद्गलके परमाणु या बंध रूप स्कंध एक दूसरेसे प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्न भिन्न हैं इससे पृथक्२ हैं। कालाणु द्रव्य असंख्यात है इनमे भी परस्पर प्रदेश भेद है इससे पृथक् २ हैं । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एक एक ही अखण्ड द्रव्य हैं। अनंतानंतजीव, अनतानत पुद्गल, असख्यात कालाणु, धर्म, अधर्म, आकाश ये सब परस्पर पृथक्त्व नामके भेदको रखते हैं। ये सब सदा जुदे २ हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि छः द्रव्य कभी एक द्रव्य न थे, न हैं, न होवेंगे। इन छ. में भी जो जो द्रव्य अनेक हैं वे भी अपने बहुपनेको कभी नही छोडेंगे। द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ पृथक्त्व नामका भेद है। परन्तु जिन गुणोंको द्रव्य आश्रय देता है उनके साथ द्रव्यका कभी पृथकत्त्व न था न है न होगा। गुणोके अमिट समुदायको द्रव्य कहते हैं–जो द्रव्यके आश्रय हो और अपनेमें

अन्य गुण न रखते हो वे गुण हैं—दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध है, जो कभी छूट नहीं सक्ता । ऐसा होनेपर भी स्वरूपकी अपेक्षा द्रव्यका स्वरूप गुणके स्वरूपसे एक नहीं है । संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है जैसे वस्त्र द्रव्यका शुक्ल गुण है । वस्त्र और शुक्लपनेका प्रदेशभेद नहीं है तथापि स्वरूपभेद है—संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनसे भिन्नता है । वस्त्रकी संज्ञा वस्त्र है । शुक्ल गुणकी संज्ञा शुक्ल है । दोनोके नाम अलग २ हैं । वस्त्र किसी अपेक्षा एक व अनेक तंतुओंकी अपेक्षा अनेक हैं । शुक्ल गुण एक है यद्यपि अंशोकी अपेक्षा अनेक शुक्ल गुण भी होसक्ता है तथापि परस्पर सख्याकी रीति भिन्न २ है । वस्त्रका लक्षण तागोका समूह वंधनरूप है । शुक्ल गुणका लक्षण सफेदपनेको झलकाना है । वस्त्रका प्रयोजन शरीरको ढकना है—सर्दी मेटना है, लज्जा दूर करना है जब कि शुक्ल गुणका प्रयोजन उज्वलता रखकर मलीनता दूर रखना है । वस्त्रको जब हम आंखोसे देख सक्ते, हाथसे छूसक्के, नाकसे सूंघ सक्के, मुंह द्वारा स्वाद लेसक्के तब शुक्ल गुणको हम केवल आंखसे ही देख सक्के हैं । इस तरह गुण और गुणीमे स्वरूपकी अपेक्षा भेद होता है इस तरहके भेदको अन्यत्त्व कहते हैं ।

यहां द्रव्य गुणी व सत्ता गुणमें पृथक्त्त्व भेद नहीं है मात्र स्वरूप भेद है इस लिये अन्यत्त्व है । द्रव्य और सत्तामें संज्ञाका भेद है ही । द्रव्य कोई एक कोई अनेक हैं जब कि सत्ता गुण एक है यह सख्या भेद है । द्रव्यका लक्षण गुण पर्यायवान हैं या उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है । सत्ता गुणका लक्षण अस्तित्व रखना है । द्रव्यका प्रयोजन किसी खास अर्थ क्रियाको

करना है जैसे जीवका संसारीसे मुक्त होना, व पुद्गलका मिट्टीसे घड़ा बनना, सोनेसे आभूषण बनना, ईंटोंसे मकान बनना, सत्ता गुणका प्रयोजन नित्य पदार्थको बनाए रखना है।

इस तरह स्वरूप भेदसे अन्यत्त्व नामका भेद है तथापि प्रदेश भेद नहीं है इस तरह द्रव्यका सत्ताके साथ किसी अपेक्षा भेद है व किसी अपेक्षा अभेद है। सर्वथा अभेद होनेपर भिन्न २ नाम व काम नहीं हो सक्के तथा सर्वथा भेद होनेपर दोनोका ही अभाव हो जावेगा जैसा पहले कह चुके हैं। सत्ताके विना द्रव्य नहीं ठहर सक्ता तथा द्रव्यके विना सत्ता नहीं रह सक्ती। जैसे द्रव्य और गुणका प्रदेशभेद नहीं है किंतु स्वरूपभेद है वैसे द्रव्य और पर्यायका प्रदेश भेद नहीं है किंतु स्वरूप भेद है ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।
परिणामविशेषाच्च, शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥ ७१ ॥

भावार्थ—द्रव्य और पर्यायकी एकता है क्योंकि दोनों भिन्न २ नही मिलते। जहां द्रव्य है वहां पर्याय है। परिणामका विशेष है सो पर्याय है। परिणाम द्रव्यमें होता है, इस कारण भी एकता है, शक्तिमान द्रव्य है। जिसमें शक्तियें पाई जावें वह द्रव्य है। शक्तियें उसके गुण या पर्याय हैं इससे भी एकता है जैसे घीमें चिकनई, पुष्टता आदि शक्तियें हैं। इस श्लोकमे द्रव्यकी गुण या गुणविकार पर्यायके साथ एकता सिद्ध कीगई। आगे अनेकता बताते हैं—

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः ।
प्रयोजनादि भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२ ॥

भावार्थ–द्रव्य और पर्यायमें संज्ञाके विशेषसे, संख्याके विशेषसे, अपने २ लक्षणके विशेषसे तथा अपने २ प्रयोजनके विशेषसे एकता नहीं है–अनेकता है जैसे वृक्ष और उसके पत्रोंमें विशेषता है । यद्यपि वृक्ष और उसके पत्ते एक ही हैं तथापि दोनोंके नाममें फर्क है, संख्यामें अंतर है, वृक्ष एक है, पत्ते अनेक है । वृक्षका लक्षण मूल, धड, शाखा, पत्रादि सहित फलना है। पत्तोका लक्षण शाखाको शोभितकर हरेपने आदिको प्रगट करना है । वृक्षका प्रयोजन फल फूल व छाया देना है। पत्रोका प्रयोजन वृक्षको पवन देना व उसको फलनेमे सहाई होना है । इस तरह द्रव्यमें गुण या पर्यायसे अनेकता है ।

द्रव्य और पर्यायका नाम अलग२ है । द्रव्य एक है, पर्यायें अनेक हैं। यह संख्याका भेद है। द्रव्यका लक्षण गुण पर्यायवान है । पर्यायका लक्षण तद्भाव परिणाम है । द्रव्यका प्रयोजन एकपना या अन्यपनेका ज्ञान कराना है। पर्यायका प्रयोजन अनेकपना जुदापना बताना है । यहां श्लोकमे आदि शब्द है उससे मतलब यह है कि काल अपेक्षा भेद है द्रव्य त्रिकालगोचर है जब कि पर्याय वर्तमान-कालगोचर है । द्रव्य और पर्यायका भिन्न २ प्रतिभास है यह प्रतिभास भेद है । इस तरह द्रव्य और गुण या पर्याय प्रदेशोंके अपेक्षा एक हैं किन्तु स्वरूपादिकी अपेक्षा अनेक रूप हैं। दोनोमे एकता और अन्यत्त्व भिन्न २ अपेक्षासे है । न सर्वथा एक हैं न सर्वथा भिन्न २ हैं ।

स्याद्वादसे ही वस्तुका यथार्थ स्वरूप मालूम होता है। वृत्तिकारके अनुसार मुक्तात्मा द्रव्यको और उसकी स्वरूप सत्ताको प्रदेशापेक्षा

एक तथा स्वरूपापेक्षा भिन्न २ जानकर भावनाके समय भेदरूप तथा एकरूप विचार करना इसी तरह अपने आत्माके भी स्वरूपको विचार करना इसी विचारकी प्रणालीसे स्वस्वरूपमें अनुभव प्राप्त होगा यही स्वानुभव रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग है और निराकुल अतीन्द्रिय आनंदका देनेवाला है। तात्पर्य यह है कि आत्मद्रव्यका सच्चा स्वरूप समझकर उसीके मननसे अपना हित करना चाहिये।

उत्थानिका—आगे अन्यत्त्वका विशेष विस्तारके साथ कथन करते है—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो ।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१६॥

सदद्रव्यं सच्चगुणः सच्चैव च पर्याय इति विस्तारः ।
यः खलु तस्याभावः स तदभावेऽतद्भाव. ॥ १६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(सद्दव्वं) सत्तारूप द्रव्य है। (सच्च गुणो) और सत्तारूप गुण है, (सच्चेव पज्जओत्ति) तथा सत्तारूप पर्याय है ऐसा (वित्थारो) सत्ताका विस्तार है। (खलु) निश्चय करके (तस्स अभावो) जो उस सत्ताका परस्पर अभाव है (सो तदभावो) वह उसका अभावरूप (अतब्भावो) अन्यत्व है।

विशेषार्थ—जैसे मोतीके हारमे सत्ता गुणकी जगहपर जो उसमें सफेदीका गुण है सो प्रदेशोंकी अपेक्षा एक रूप है तौ भी उसको भेद करके इस तरह कहते हैं कि यह सफेद हार है, यह सफेद सूत है, यह सफेद मोती है तथा जो हार सूत या मोती है इन तीनोके साथ प्रदेशोका भेद न होते हुए सफेद गुण कहा जाता है यह एकता या तन्मयपनाका लक्षण है। अर्थात् हार

सूत तथा मोतीका शुक्ल गुणके साथ तन्मयपना है अर्थात् प्रदेशोंका अभिन्नपना या एकपना है तैसे मुक्त आत्मा नामके पदार्थमें जो कोई शुद्ध सत्ता गुण है वह प्रदेशोंके अभेद होते हुए इस तरह कहा जाता है। सत्ता लक्षण परमात्मा पदार्थ, सत्ता लक्षण उसके केवलज्ञानादि गुण, सत्तालक्षण सिद्ध पर्याय। जो कोई परमात्म पदार्थ व केवलज्ञानादि गुण व सिद्ध पर्याय है इन तीनोके साथ शुद्ध सत्ता गुण एक कहा जाता है यह तद्भाव या एकताका लक्षण है। तद्भावका प्रयोजन यह है कि परमातमा पदार्थ, केवलज्ञानादि गुण, सिद्धत्व पर्याय इन तीनोका शुद्ध सत्ता नामा गुणके साथ संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशोकी अपेक्षा तन्मयपना ही है अर्थात् एकता ही है—सत्ता गुण इन तीनोंमे व्यापक है।

निश्चय करके जो इस तद्भाव या एकताका संज्ञा संख्या आदिकी अपेक्षासे परस्पर अभाव है उसको तद्भाव या उस एकताका अभाव या अतद्भाव या अन्यत्व कहते हैं। इस अन्यत्त्वका संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा जो स्वरूप है उसको दृष्टांत देकर बताते हैं।

जैसे मोतीके हारमे जो कोई शुक्ल गुण है उसका वाचक जो शुक्ल नामका दो अक्षरका शब्द है उस शब्दसे हार, या सूत्र या मोती कोई वाच्य नहीं है अर्थात् शुक्ल शब्दसे हार, सूत्र या मोतीका ज्ञान नही होता है केवल सफेद गुणका ज्ञान होता है इसी तरह हार, सूत या मोती शब्दोंसे शुक्ल गुण नहीं कहा जाता है। इस तरह हार, सूत तथा मोतीके साथ शुक्ल गुणका प्रदेशोंकी

अपेक्षा अभेद या एकत्त्व होनेपर भी जो सज्ञा आदिका भेद है वह भेद पहले कहे हुए तद्भाव या तन्मयपनेका अभावरूप अतद्भाव है या अन्यत्त्व है अर्थात् सज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिका भेद है। तेसे मुक्त जीवमे जो कोई शुद्ध सत्तागुण है उसको कहनेवाले सत्ता शब्दसे मुक्त जीव नहीं कहा जाता न केवलज्ञानादि गुण कहे जाते न सिद्ध पर्याय कही जाती है। और न मुक्त जीव केवलज्ञानादि गुण या सिद्ध पर्यायसे शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है। इस तरह सत्ता गुणका मुक्त जीवादिके साथ परस्पर प्रदेशभेद न होते हुए भी जो कोई संज्ञा आदिकृत भेद है वह भेद उस पूर्वमे कहे हुए तद्भाव या तन्मयपनेके लक्षणसे रहित अतद्भाव या अन्यत्त्व कहा जाता है। अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि कृत भेद है ऐसा अर्थ है। जैसे यहां शुद्धात्मामें शुद्ध सत्ता गुणके साथ अभेद स्थापित किया गया तैसे ही यथासभव सर्व द्रव्योंमें जानना चाहिये यह अभिप्राय है—अर्थात् आत्माका और सत्ताका प्रदेशकी अपेक्षा अभेद है, मात्र संज्ञादि स्वरूपकी अपेक्षा भेद या अन्यत्व है। ऐसा ही अन्य द्रव्योंमें समझना।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने स्वरूपकी अपेक्षा गुण गुणीका अन्यत्व या भिन्नपना है इसको अच्छी तरह दर्शा दिया है। द्रव्य गुण पर्यायवान है सत्ता इनमें व्यापक है इससे हम ऐसा कह सक्के हैं कि सत्तारूप द्रव्य, सत्तारूप गुण, सत्तारूप पर्याय। जो प्रदेश द्रव्यकी सत्ताके है वे ही प्रदेश गुण और पर्यायकी सत्ताके हैं इस तरह सत्ताकी एकता द्रव्य गुण पर्यायके साथ है परन्तु जब गुण और गुणीको भेद करके विचारते है तो सत्ताका द्रव्यगुण

पर्यायके साथ भेद है । सत्ता नामकी संज्ञासे मात्र सत्पनेका बोध होता है द्रव्यगुण पर्यायका बोध नहीं होता है । इसी तरह द्रव्य गुण पर्यायसे द्रव्यगुण पर्यायका बोध होता है, सत्ताका बोध नहीं होता है। इस तरह संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा सत्ताका और द्रव्य आदिका अन्यपना है। इस तरह गुणगुणीका प्रदेशकी अपेक्षा अभेद है, परन्तु स्वरूपकी अपेक्षा भेद है ।

यहां वृत्तिकारने मोतीकी मालाका दृष्टांत दिया है उसका खुलासा यह है कि मोतीकी माला, सूत, तथा मोती इन तीनोंमें सफेदी गुण व्यापक है । प्रदेशोंकी अपेक्षा सफेदी और मोतीके हारकी एकता है किन्तु संज्ञा प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद है। अर्थात् सफेदी सिर्फ सफेदपनेको ही कहती है, यह नहीं बताती है कि हार सूत या मोती है—इसी तरह हार सूत या मोती अपने २ स्वरूपको बताते हैं, सफेदीको नहीं बताते है। इस तरह सफेदीका और हार, सूत, मोतीका अन्यपना है ।

यहां विशेषता यह झलकती है कि यदि सत्ताका विस्तार किया जावे तो द्रव्यकी सत्ता, गुणकी सत्ता और पर्यायकी सत्ता ऐसी तीन सत्ताएं हो जावेगीं। ये तीनों सत्ताएं भी परस्पर अपने स्वरूपसे भिन्न हैं यद्यपि प्रदेशोंका भेद नही है। जहां द्रव्यकी सत्ता है वहीं उसके गुणकी सत्ता है, वहीं उसके पर्यायकी सत्ता है तथापि स्वरूपकी अपेक्षा द्रव्यकी सत्ता है सो गुणकी सत्ता नही है न पर्यायकी सत्ता है । गुणकी सत्ता है सो द्रव्यकी सत्ता नही है न पर्यायकी सत्ता है सो द्रव्यकी सत्ता नही है न गुणकी सत्ता है । द्रव्य तो गुणोंका समुदाय परिणमनशील अन्वयरूप अर्थात् बराबर अखंड

रूपसे रहनेवाला है, गुण द्रव्यके आश्रय अन्य गुण रहित नित्य ठहरनेवाला है, पर्याय गुणका विकार क्षणभंगुर एक समय मात्र ठहरनेवाला है इस तरह इन तीनोंके स्वरूपमें परस्पर भेद है, प्रदेशभेद नहीं है। इसलिये इन तीनोंमें भी एकत्व और अन्यत्व है। और जब हम इन द्रव्यकी सत्ताके साथ एकताका विचार करते हैं तब प्रदेशोंकी अपेक्षा एकता है किन्तु स्वरूपकी अपेक्षा अन्यपन है। द्रव्य गुणी है सत्ता गुण है–द्रव्य गुणपर्यायवानपनेका बोधक है सत्ता मात्र अस्तिपनेको बताती है। इसी तरह गुणकी सत्ताके साथ सत्ताकी प्रदेशापेक्षा एकता है परन्तु स्वरूपकी अपेक्षा भिन्नता है। इसी तरह पर्यायकी सत्ताके साथ सत्ताकी प्रदेशापेक्षा एकता है परन्तु स्वरूपकी अपेक्षा भिन्नता है। जैसे मोतीकी सफेदी, सूतकी सफेदी, हारकी सफेदी इन तीनोमे अलग अलग एकत्व तथा अन्यत्व है जैसे मोतीका सफेदीके साथ प्रदेशभेद नही है इससे एकता है परन्तु नाम व प्रयोजनादिसे भेद है यही अन्यत्व है इसी तरह हारकी सफेदी व सूतकी सफेदीमें एकत्व और अन्यत्व जानना चाहिये। ऐसे ही सिद्धात्माकी सत्ता, केवलज्ञानादि गुणोकी सत्ता, सिद्धावस्थाकी सत्ता इन तीनोमें अलग २ एकत्व और अन्यत्व सिद्ध होसक्ता है। जैसे सिद्धात्माका और सत्ताका प्रदेश भेद न होनेसे एकत्व हैं परन्तु संज्ञा आदिसे भेद है इससे अन्यत्व है इसी तरह ज्ञानादि गुण तथा सिद्ध पर्यायके साथ सत्ताका एकत्व और अन्यत्व जानना चाहिये। यहां यह बात समझ लेनी कि यद्यपि एक गुणमें दूसरा गुण नहीं रहता है तथापि जब द्रव्यमें सर्व ही सामान्य तथा विशेष गुण द्रव्यके सर्वस्वमें व्यापक हैं

तब एक गुणमें भी अनेक गुणोका वैसा ही असर पडता है जैसे एक अखण्ड द्रव्यमे सब गुणोंका पड़ता है इसलिये यहां यह कहा गया कि द्रव्यकी सत्ता गुणकी सत्ता पर्यायकी सत्ता सो अपेक्षा, ठीक समझनेसे कोई विरोध नही होसक्ता। इस तरह वस्तुका स्वरूप समझकर एक मोक्षार्थी पुरुपको योग्य है कि वह निज आत्माके द्रव्य, गुण व पर्यायका भिन्न २ विचार करके व निजानुभव जगा-करके परमानन्दका लाभ करे ।

उत्थानिका—और भी गुण और गुणीमे प्रदेश भेद नहीं है परन्तु सज्ञादि कृत भेद है इस तरह अन्यत्वको दृढ़ करते हैं—

जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो ।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो ॥ १७ ॥

यद्द्रव्य तन्न गुणो योपिगुणः स न तत्त्वमर्थात् ।
एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ॥ १७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जं दव्व) जो द्रव्य है (तण्ण गुणो) वह गुण नहीं है (जो वि गुणो) जो निश्चयसे गुण है (सो अत्थादो ण तच्चम्) वह स्वरूपके भेदसे द्रव्य नही है (एसो हि अतब्भावो) ऐसा ही स्वरूप भेदरूप अन्यत्व है (णेव अभोवोत्ति) निश्चयसे सर्वथा अभाव नही है ऐसा (णिद्दिट्ठो) सर्वज्ञ द्वारा कहा गया है ॥

विशेषार्थ—वृत्तिकार मुक्त जीवपर घटाकर समझाते हैं कि जो द्रव्य है सो स्वरूपसे गुण नहीं है । जो मुक्त जीव द्रव्य है सो शुद्ध है वह मात्र गुण नहीं है । उस मुक्त जीव द्रव्य शब्दसे शुद्ध सत्ता गुण वाच्य नही होता है अर्थात नहीं कहा जाता है ।

इसी तरह जो शुद्ध सत्ता गुण है वह परमार्थसे मुक्तात्म द्रव्य नहीं होता है। शुद्ध सत्ता शब्दसे मुक्तात्मा द्रव्य नहीं कहा जाता। इस तरह गुण और गुणीमें स्वरूपकी अपेक्षा या संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है तौभी प्रदेशोंका भेद नहीं है इससे सर्वथा एकका दूसरेमें अभाव नहीं है ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है। यदि गुणीमें गुणका सर्वथा अभाव माना जावे तो क्या २ दोष होंगे उनको समझाते हैं। जैसे सत्ता नामके वाचक शब्दसे मुक्तात्मा द्रव्यवाच्य नहीं होता तैसे यदि सत्ताके प्रदेशोंसे भी सत्तागुणसे मुक्तात्म द्रव्य भिन्न होजावे तब जैसे जीवके प्रदेशोंसे पुद्गल द्रव्य भिन्न होता हुआ अन्य द्रव्य है तैसे सत्ता गुणके प्रदेशोसे सत्तागुणसे मुक्त जीव द्रव्यभिन्न होता हुआ जुदा ही दूसरा द्रव्य प्राप्त होजावे। तब यह सिद्ध होगा कि सत्तागुण रूप जुदा द्रव्य और मुक्तात्मा द्रव्य जुदा इस तरह दो द्रव्य होजावेंगे। सो ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। इसके सिवाय दूसरा दूषण यह प्राप्त होगा कि जैसे सुवर्णपना नामा गुणके प्रदेशोंसे सुवर्ण भिन्न होता हुआ अभावरूप होजायगा तैसे ही सुवर्ण द्रव्यके प्रदेशोसे सुवर्णपना गुण भिन्न होता हुआ अभाव रूप होजायगा तैसे सत्तागुणके प्रदेशोसे मुक्त जीवद्रव्य भिन्न होता हुआ अभावरूप होजायगा, तैसे ही मुक्त जीव द्रव्यके प्रदेशोंसे सत्ता गुण भिन्न होता हुआ अभावरूप हो जायगा, इस तरह दोनोंका ही शून्यपना प्राप्त हो जायगा। इस तरह गुणी और गुणका सर्वथा भेद माननेसे दोष आ जावेंगे। जैसे जहां मुक्त जीव द्रव्यमें सत्ता गुणके साथ संज्ञा आदिके भेदसे अन्यपना है किन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद या एकपना है ऐसा व्याख्यान किया गया तैसे

ही सर्व द्रव्योंमें यथासंभव जान लेना चाहिये ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने गुण और गुणीके सबन्धको और भी साफ कर दिया है। गुणी द्रव्य है जो अनेक गुणोका समुदायरूप अखंड पिंड है। गुण वह है जो द्रव्यमें पाया जाता है अपने स्वरूपसे एक है। गुणी द्रव्यका नाम जुदा है, गुणका नाम जुदा है—लक्षण, संज्ञा, प्रयोजन भी दोनोका जुदा जुदा है इस तरह संज्ञा, संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा गुणी द्रव्यमें और गुणमें अन्यत्त्व है किन्तु जैसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न है और ऐसी भिन्नता नहीं है। जैसे एक द्रव्यके प्रदेश दूसरे द्रव्यके प्रदेशोंसे बिलकुल भिन्न है ऐसी प्रदेशोकी भिन्नता द्रव्य और गुणमें नहीं है। जितने प्रदेश द्रव्यके है उतने ही प्रदेश गुणके हैं। जहां द्रव्य है वही गुण है। न द्रव्यके विना गुण कहीं पाया जाता है न गुणके विना द्रव्य कहीं पाया जाता है। दोनोंमें सदासे ही अमिट तादात्म्य सम्बन्ध है। मात्र स्वरूपसे भेद है। जैसे सोनेका पीलापन गुण है। दोनोमें एकता है। जहां सोना है वही उसका पीलापन है। सोनेके पीलापनसे जुदा सोना नहीं पाया जाता और न सोनेसे जुदा सोनेका पीलापन पाया जाता तथापि सोनेका नाम जुदा है पीलेपनका नाम जुदा है। सोनेका लक्षण पीलापन, भारीपन आदि अनेक गुणोका समूह है जब कि पीतपनेका लक्षण पीत वर्ण मात्रका बोध कराना है। सुवर्णकी संख्या एक व अनेक प्रकारकी खंडापेक्षा हो सक्ती है—पीतपनेकी संख्या अनेक सुवर्ण अंशोमें एक रह सक्ती है। सुवर्णका प्रयोजन शोभा आदिके लिये आभूषणादि बनाना है। पीतपनेका प्रयोजन

पीतता झलकाना है इस तरह संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षा सुवर्ण और पीतपनेमें भेद है ऐसे ही द्रव्य और गुणमें भेद या अन्यत्त्व है, प्रदेशोकी अपेक्षा भेद नही है।

यदि द्रव्य और गुणमें सर्वथा भेद माना जावे तो जैसे कोई द्रव्य अपने प्रदेशोसे एक द्रव्य है वैसे गुण भी अपने प्रदेशोंसे एक दूसरा द्रव्य हो जावे तब दो द्रव्य हो जावें। सो यह वस्तुका स्वरूप नहीं है। गुण द्रव्यमें ही पाए जाते हैं अलग अपनी सत्तामें नहीं रह सक्ते। दूसरा दोष यह होगा कि जैसे द्रव्य गुणके विना नहीं होसक्ता वैसे गुण भी द्रव्यके विना नहीं होसक्ता। इस तरह सर्वथा जुदा माननेसे दोनोंका ही अभाव या शून्यपना होजायगा। तीसरा दोष यह होगा कि द्रव्यका अभाव सो गुण और गुणका अभाव सो द्रव्य जैसे घटका अभाव पट और पटका अभाव घट, इस दोषको अपोहरूपत्त्व दोष कहते है। इस तरह गुणी और गुणमें सर्वथा भेद माननेसे दोष प्राप्त होते है। ऐसा ही वस्तुका स्वरूप निश्चय करना चाहिये। द्रव्य और गुण किसी अपेक्षा एक और किसी अपेक्षा अन्य हैं।

इसी तरह जीव द्रव्य अपने ज्ञान सुख वीर्यादि गुणोसे स्वरूपापेक्षा भेद रखता हुआ भी प्रदेशोसे अभेद है। पुद्गल अपने स्पर्श रस गन्ध वर्ण गुणसे व स्वरूपसे भेद रखता हुआ भी प्रदेशोंसे अभेद हैं। ऐसे ही अन्य द्रव्योका स्वरूप निश्चय करना चाहिये। इस तरह द्रव्यके अस्तित्वको कथन करते हुए प्रथम गाथा, एक-त्व लक्षण और अतद्भाव रूप अन्यत्व लक्षणको कहते हुए दूसरी, संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिसे भेदरूप अतद्भावको कहते

तीसरी, उसीके दृढ़ करनेके लिये चौथी। इस तरह द्रव्य और गुणमें अभेद है इस विषयमें युक्ति द्वारा कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंसे पाचमा स्थल पूर्ण हुआ ॥ १७ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठियं सहावे दव्वत्ति जिणोवदेसोयं ॥ १८ ॥

य खलु द्रव्यस्वभावः परिणामः स गुणः सदविशिष्ट ।
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ॥ १८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(खलु) निश्चयसे (जो दव्वसहावो परिणामो) जो द्रव्यका स्वभावमई उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणाम है (सो सदविसिट्ठो गुणो) सो सत्तासे अभिन्न गुण है। (सहावे अवट्ठियं दव्वति सत्) अस्तित्व स्वभावमे तिष्ठता हुआ द्रव्य सत् है या सत्तारूप है (जिणोवदेसोयं) ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है ॥ १८ ॥

विशेषार्थ–वृत्तिकार जीव द्रव्यपर घटाकर व्याख्या करते है कि जब आत्मामे पचेंद्रियके विषयोके अनुभवरूप मनके व्यापारसे पैदा होनेवाले सब मनोरथ रूप विकल्पजालोंका अभाव हो जाता है, तब चिदानंद मात्रकी अनुभूति रूप जो आत्मामें ठहरा हुआ भाव है उसका उत्पाद होता है और पूर्वमें कहे हुए विकल्पजालका नाश सो व्यय है, तथा इस उत्पाद और व्यय दोनोका आधार रूप जीवपना ध्रौव्य है। इस तरह लक्षणके धारी उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप जीव द्रव्यका जो कोई स्वभावभूत परिणाम है वही सत्तासे

अभिन्न गुण है । जीवमें उत्पादादि तीन रूप परिणमन है सो ही सत्‌गुण है जैसा कि कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" । ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि सत्ता ही द्रव्यका गुण है । इस तरह सत्ता गुणका व्याख्यान किया गया । परमात्मा द्रव्य अभेद नयसे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप स्वभावमे तिष्ठा हुआ सत् है ऐसा श्री जिनन्द्रका उपदेश है । "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो" इत्यादि आठवी गाथामें जो कहा था वही यहां कहा गया । मात्र गुणका कथन अधिक किया गया यह तात्पर्य है । जैसा जीव द्रव्यमें गुण और गुणीका व्याख्यान किया गया वैसा सर्व द्रव्यमे जानना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य गुणी है सत्ता गुण है, दोनोकी एकता है—सत्ताविना द्रव्य नहीं और द्रव्य विना सत्ता नहीं होती है—सत्ता गुण द्रव्यमें प्रधान है, द्रव्य सत्तामें सदा रहता है । क्योकि हरएक द्रव्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाए जाते हैं इसलिये हरएक द्रव्य सत् है । द्रव्यमें अर्थ क्रिया होना तब ही संभव है जब द्रव्य परिणमन करे अर्थात् पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको प्राप्त हो तो भी ध्रौव्य रहे । मिट्टी अपने ढेलेपनकी हालतको छोडकर ही घडेकी अवस्थाको पैदा करती है तो भी आप बनी रहती है । द्रव्यमें इन तीन प्रकार परिणामका होना ही द्रव्यके अस्तित्वका ज्ञान कराता है, क्योंकि हरएक द्रव्य सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप रहता है इसलिये वह सदा ही सतरूप है ।

ऐसा स्वरूप द्रव्यका माननेसे ही संसार अवस्थाका नाश होकर सिद्ध पर्यायका उत्पन्न होना तथा आत्माका दोनों अवस्थामें नित्य

बना रहना संभव है। इसी ही स्वरूपको माननेसे ही एक तत्वज्ञानी सविकल्प अवस्थाको नाशकर निर्विकल्प अवस्थामे पहुंच जाता है।

इस तरह द्रव्य गुणी है, सत्ता गुण है। दोनोका प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद है और संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है।

उत्थानिका—आगे गुण और पर्यायोसे द्रव्यका अभेद दिखलाते हैं—

णत्थि गुणोत्ति व कोई, पज्जाओत्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्त पुणभावो, तम्हा दव्वं सय सत्ता ॥ १९ ॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम् ।
द्रव्यत्व पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्य स्वय सत्ता ॥ १९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(इह) इस जगतमे (दव्वं विणा) द्रव्यके विना (कोई गुणोत्ति व पज्जाओत्ति णत्थि) न कोई गुण होता है न कोई पर्याय होती है (पुण दव्वत्त भावो) तथा द्रव्यपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे परिणमनपना द्रव्यका स्वभाव है (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता रूप है ।

विशेषार्थ—यहां मुक्तात्मा द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि मुक्तात्मा द्रव्यमें केवलज्ञानादि रूप गुणोंके समूह तथा परमपदकी प्राप्ति रूप मोक्ष पर्याय ये दोनो ही परमात्मा द्रव्यके विना नही पाए जाते क्योंकि गुण और पर्यायोका द्रव्यके प्रदेशोसे भेद नही है किंतु एकत्त्व है। तथा मुक्तात्मा द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यमई शुद्ध सत्तास्वरूप है इस लिये अभेदनयसे सत्ता ही द्रव्य है या द्रव्य ही सत्ता है। जैसे मुक्तात्मा द्रव्यमें गुणपर्यायोंके साथ अभेद व्याख्यान किया तैसे यथासम्भव सर्व द्रव्योमें जान लेना चाहिये ।

भावार्थ–इस गाथामें इस बातको स्पष्ट किया गया है कि द्रव्य गुण पर्याय मय है। द्रव्यमे ही गुण होते हैं और द्रव्यमें ही पर्यायें होती है। गुण और पर्यायें द्रव्यको छोडकर स्वतंत्र नहीं हो सक्के। वास्तवमे अनेक गुणोंका अखंड समुदाय द्रव्य है अर्थात् द्रव्यमे जितने गुण हैं वे सब द्रव्यके सर्व प्रदेशोमे व्यापक हैं। उन सर्व गुणोंके ऐसे समूहको द्रव्य कहते है। गुणोमें जो समय समय उत्पाद व्यय होता है इससे पर्यायें होती और नष्ट होती हैं–ये पर्यायें गुणोके ही विकार है। जब गुण द्रव्यमें ही पाए जाते है तब उन गुणोकी पर्यायें भी द्रव्यमें ही पाई जाती है। जो द्रव्यके प्रदेश हैं वे ही गुणोंके प्रदेश तथा वे ही पर्यायोकेप्रदेश हैं। एक आम्रफलमे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण हैं उनकी चिकनी, मीठी, सुगंधित तथा पीत अवस्था पर्यायें है अथवा आम्रका छोटेसे बड़ा होना पर्याय है। ये गुण पर्यायें आम्र द्रव्यमें ही होती हैं। सुवर्णमें पीतपना भारीपना आदि गुण तथा उसकी कुडल व मुद्रिका आदि पर्यायें सुवर्णके विना नही होसक्ती है। आत्मामें चेतना, आनन्द, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र गुण तथा अशुद्ध या शुद्ध पर्यायें आत्मा विना नहीं होसक्के हैं। इस तरह यह बात सिद्ध है कि हरएक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंसे अभेद है–ऐसा गुण पर्यायवान द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। क्योकि पर्यायें क्षण क्षणमें नष्ट होकर नवीन पैदा होती रहती है और गुण सह-भावी है–सदा ही द्रव्यमें नित्य या ध्रौव्य रहते हैं इसलिये द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। तथा जिसमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है उसीको सत् या सत्तारूप कहते हैं इसलिये द्रव्य स्वयं

सत् या सत्तारूप है अर्थात् द्रव्य गुणी है सत्ता उसका गुण है। द्रव्यका सत्तासे अभेद है। सत्तामई द्रव्य है इसीसे वह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होकर गुण पर्यायवान है। ऐसा द्रव्यका स्वरूप निश्चय करना योग्य है।

श्री तत्वार्थसारमे श्री अमृतचंद्र महाराज कहते हैः—

समुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च ।
भावान्तरपरिप्राप्तिर्निजां जातिमनुज्झतः ॥ ६ ॥

स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि ।
विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते ॥ ७ ॥

समुत्पादव्ययाभावो यो हि द्रव्यस्य दृश्यते ।
अनादिना स्वभावेन तद्ध्रौव्यं ब्रुवते जिनाः ॥ ८ ॥

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया ।
द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात्समुदायस्तयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥

सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः ।
व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः ॥ १० ॥

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः ।
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता ॥ ११ ॥

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः ।
वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः ॥ १२ ॥

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य संभवः ।
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च ॥ १३ ॥

भावार्थ—वीतराग जिनेन्द्रोंने उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणकाधारी गुण पर्यायवान द्रव्यको कहा है। जीव तथा अजीव द्रव्यका अपनी अपनी जातिको न छोड़ते हुए अन्य २ रूप अवस्थाको प्राप्त करना सो उत्पाद है। अपनी २ जातिमें विरोध न डालते हुए दोनों प्रकारके द्रव्यका अपनी २ पूर्व अवस्थाका त्यागना उसको व्यय कहते हैं। अनादिसे अपने २ स्वभावकी अपेक्षा द्रव्यका उत्पाद और व्ययका जो अभाव है उसको श्री जिनेन्द्रोंने ध्रौव्य कहा है। अर्थात् द्रव्योंमें अवस्थाका उत्पाद व्यय होते हुए भी द्रव्योंके स्वभावोंका स्थिर रहना ध्रौव्य है। द्रव्यका विधान या स्थापन करनेवाला गुण है। अर्थात् गुणोंका और द्रव्यका सदा हीसे एक रूप तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यमें जो विक्रिया या अवस्था होती है वह पर्याय है। द्रव्य इन दोनों गुण पर्यायोंका अयुत सिद्ध समुदाय है अर्थात् अमिट अनादि समुदाय है। कभी गुण या पर्याय कहींसे आकर द्रव्यमें मिले नहीं। सामान्य, अन्वय, उत्सर्ग शब्द गुणके वाचक हैं तथा व्यतिरेक, विशेष, भेद शब्द पर्यायके वाचक हैं। गुणोंके विना द्रव्य नहीं होता है न द्रव्यके विना गुण होते हैं इस लिये द्रव्य और गुणोंकी एकता है। पर्यायके विना भी द्रव्य नहीं होता न द्रव्यके विना पर्याय होती है इस लिये महर्षियोंने द्रव्य और पर्यायका अविनाभावपना या एकपना बताया है। सत् रूप पदार्थका नाश नहीं होता असत् रूप पदार्थका जन्म नहीं होता। सत् रूप पदार्थ ही अपने गुणपर्यायोंमें उत्पाद व्यय करते रहते हैं। इस तरह निःसंदेह होकर ऐसा द्रव्यका स्वरूप समझकर अपनी ही आत्माकी तरफ लक्ष्य देना चाहिये। अपनी आत्माकी

जो अशुद्ध संसार पर्याय है उसको त्यागने योग्य निश्चयकर उसकी शुद्ध पर्यायकी प्राप्तिका यत्न करना योग्य है जिसमें इस आत्माके सर्व गुण शुद्ध स्वभावमें परिणमन करते हुए अपनी सुन्दरतासे परमरमणीकताको विस्तारें। इस लिये अपने शुद्ध स्वभावपर लक्ष्य देते हुए व संसारमें रागद्वेष न करते हुए हमको साम्यभावरूप वीतराग विज्ञानमय भावका मनन करना चाहिये। यही शुद्ध पर्याय होनेका मत्र है ॥ १९ ॥

इस तरह गुण और गुणीका व्याख्यान करते हुए प्रथम गाथा तथा द्रव्यका अपने गुण व पर्यायोंसे भेद नही है ऐसा कहते हुए दूसरी गाथा इस तरह स्वतंत्र दो गाथाओंसे छठा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे द्रव्यका द्रव्यार्थिक नयसे सत् उत्पाद और पर्यायार्थिक नयसे असत् उत्पाद दिखलाते हैं—

एवं विहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्ध पाडुब्भाव सदा लहदि ॥ २० ॥

एव विध स्वभावे द्रव्य द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम् ।
सदसदभावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते ॥ २० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(एवं विहं) इस तरहके (सहावे) स्वभावको रखते हुए (दव्वं) द्रव्य (दव्वत्थ पज्जयत्थेहि) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (सदसब्भावणिबद्धं) सद्भावरूप और असद्भाव रूप (पाडुब्भावं) उत्पादको (सदा लहदी) सदा ही प्राप्त होता रहता है।

विशेषार्थः—जैसे सुवर्ण द्रव्यमें जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे विचार किया जाता

है उस समय ही कटक रूप पर्यायमें जो सुवर्ण है वही सुवर्ण उसकी कंकन पर्यायमें है–दूसरा नहीं है । इस अवसरपर सद्भाव उत्पाद ही है क्योंकि द्रव्य अपने द्रव्यरूपसे नष्ट नही हुआ किन्तु बराबर बना रहा । और जब पर्याय मात्रकी अपेक्षासे विचार किया जाता है तब सुवर्णकी जो पहले कटकरूप पर्याय थी उससे अब वर्तमान-की ककन रूप पर्याय भिन्न ही है । इस अवसरपर असत् उत्पाद है क्योकि पूर्व पर्याय नष्ट होगई और नई पर्याय पैदा हुई । तैसे ही यदि द्रव्यार्थिक नयके द्वारा विचार किया जावे तो जो आत्मा पहले गृहस्थ अवस्थामे ऐसा ऐसा गृहका व्यापार करता था वही पीछे जिन दीक्षा लेकर निश्चय रत्नत्रय मई परमात्माके ध्यानसे अनन्त सुखामृतमें तृप्त रामचंद्र आदि केवली पुरुष हुआ–अन्य कोई नही–यह सत् उत्पाद है । क्योकि पुरुषकी अपेक्षा नष्ट नही हुआ । और जब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा की जाती है तब पहली जो सराग अवस्था थी उससे यह भरत, सगर, रामचंद्र, पांडव आदि केवली पुरुषोंकी जो वीतराग परमात्म पर्याय है सो अन्य है वही नही है–यह असत् उत्पाद है। क्योकि पूर्व पर्यायसे यह अन्य पर्य्याय है । जैसे यहां जीव द्रव्यमें सत् उत्पाद और असत् उत्पादका व्याख्यान किया गया तैसा सर्व द्रव्योमें यथासंभव जान लेना चाहिये ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्य उत्पादके दो भेद भिन्न२ अपेक्षासे द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं । एक सत् उत्पाद दूसरा असत् उत्पाद। जो थी वही उपजनी इसको सत् उत्पाद और जो न थी वह उपजनी इसको असत् उत्पाद कहते

हैं। द्रव्यमें जितनी पर्यायें संभव हैं वे सब उसमें सत्तारूपसे या शक्ति रूपसे मौजूद रहती हैं उन्ही पर्यायोंमेंसे कभी कोई कभी कोई पैदा या प्रगट हुआ करती है, शेष पर्यायें उसमे शक्ति रूपसे रहती हैं। इससे द्रव्य अपनी समस्त पर्यायोका समुदाय है। द्रव्य अपनी किसी भी पर्यायमे हो वह द्रव्य ही है—द्रव्यपनेसे अलग नहीं है। द्रव्यने स्वयं ही अपनी पर्यायको धारण किया है इससे वह द्रव्य ही है. इस द्रव्यकी अपेक्षा या दृष्टिको ध्यानमें लेकर जब देखा जायगा तब द्रव्य अपनी हरएक पर्यायमें द्रव्य ही दिखलाई पडेगा। इस दृष्टिसे द्रव्यके उत्पादको सत् या सद्भाव उत्पाद कहते हैं, परन्तु जब पर्याय मात्रका विचार करे तो द्रव्यमें एक पर्याय एक समयमें प्रगट रहेगी दूसरी अप्रगट रहेगी, तब जो प्रगट होगी वह वही प्रगट हुई जो पहले प्रगट नहीं थी तथा जब यह पर्याय प्रगट हुई तब पहली पर्याय नष्ट होगई या अप्रगट होगई इसलिये इस पर्यायकी दृष्टिमें जो द्रव्यकी पर्यायें होती हैं उनको असत् या असद्भाव उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टीके पिडसे घट बनाया। इसमें घटकी पर्यायकी प्रगटता मिट्टीकी अपेक्षा सत् उत्पाद है क्योकि मिट्टी ही घट रूप परिणमी है तथा पिडकी दशामे घट न था इस अपेक्षा घटका उपजना असत् उत्पाद है। एक जीव निगोदकी पर्यायमें था वही जीव भ्रमण करते करते पंचेंद्री पशु होगया—यह पशु पर्याय उस जीवकी अपेक्षा सत् उत्पाद है परन्तु नवीन पर्यायकी अपेक्षा असत् उत्पाद है। द्रव्य जितनी भी पर्यायें धारण करे अपने स्वभाव या गुणको नहीं त्याग बैठता है। इसी बातको बतानेवाला सत् उत्पाद है। जीवकी हरएक पर्यायमें चेतनपना बना रहेगा। पुद्गलकी

हरएक पर्यायमें मूर्तिकपना बना रहेगा। अवस्था क्षणभंगुर है-समय समय भिन्न २ होती है, इसको जतानेवाला असत् उत्पाद है। श्री रामचंद्रजी मुक्त हुए तब मोक्ष पर्यायमें वही जीव है जो रामके शरीरमें था यह सत् उत्पाद है तथापि ससार अवस्थासे मोक्ष अवस्था हुई जो पहले प्रगट न थी सो असत् उत्पाद है। यहां तात्पर्य यह लेना चाहिये कि हमारी आत्मामें भी मोक्ष पर्याय शक्तिरूपसे मौजूद है इसलिये हमको उसकी प्रगटताके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये और साम्यभावके अभ्यासमें नित्य लवलीन रहना चाहिये ॥ २० ॥

उत्थानिका-आगे पहले कहा हुआ सत् उत्पाद द्रव्यसे अभिन्न है ऐसा खुलासा करते हैं-

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥ २१ ॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुनः ।
किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न जहदन्यः कथं भवति ॥ २१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जीवो) यह आत्मा (भवं) परिणमन करता हुआ (णरोऽमरो वा परो) मनुष्य, देव या अन्य कोई (भविस्सदि) होवेगा (पुणो भवीय) तथा इस तरह होकर (किं दव्वत्तं पजहदि) क्या वह अपने द्रव्यपनेको छोड़ बैठेगा ?, (ण जहं अण्णो कहं होदि) नहीं छोड़ता हुआ वह भिन्न कैसे होवेगा ? अर्थात् द्रव्यपनेसे अन्य नहीं होगा।

विशेषार्थ-यह परिणमन स्वभाव जीव विकार रहित शुद्धोपयोगसे विलक्षण शुभ या अशुभ उपयोगसे परिणमन करके मनुष्य,

देव, पशु या नारकी अथवा निर्विकार शुद्धोपयोगमें परिणमन करके सिद्ध हो जावेगा । इस प्रकार होकरके भी अथवा वर्तमान कालमे होता हुआ भाविकालमें होगा व भूतकालमे हुआ था इस तरह तीनो कालोमे पर्यायोको वदलता हुआ भी क्या अपने द्रव्यपनेको छोड देता है ? द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यपनेको कभी नही छोड़ता है तब अपनी अनेक भिन्न २ पर्यायोंमें दूसरा कैसे हो सक्ता है ? अर्थात दूसरा नहीं होता किंतु द्रव्यकी अन्वयरूप शक्तिसे सद्भाव उत्पादरूप वही अपने द्रव्यसे अभिन्न है । यह भावार्थ है ।

भावार्थ–यहां आचार्यने सत उत्पादका दृष्टांत देकर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य नित्य है और सतरूप है कभी अपनी सत्ताको छोडता नही–अपनी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोमे वही है–अन्य कभी नहीं होता है । बौद्ध मतकी तरह क्षणिक नहीं है किन्तु द्रव्यपनेकी अपेक्षा नित्य है । यही जीव अपने अशुद्ध उपयोगसे चार गतिका कर्म बाध उस कर्मके उदयसे कभी मनुष्य, कभी देव, कभी पशु, कभी नारकी होजाता है तथा यही जीव अपने शुद्धोपयीगके बलसे कर्मोंको नाशकर सिद्ध होजाता है । इन अनेक अवस्थाओंमें वही जीव प्रगट हुआ है यह सत उत्पाद है। जीवने अपने गुणोंको किसी भी पर्यायमें नही छोड़ा है । इसी तरह पुद्गल पर भी लगा सक्के हैं । पुद्गलके परमाणु परस्पर मिलने या विछुड़नेसे नाना प्रकारके स्कंध बन जाते हैं कभी कार्माण वर्गणा रूप कभी तैजस वर्गणारूप, कभी आहार वर्गणारूप, कभी भाषा वर्गणारूप तथा कभी मनोवर्गणा रूप, तथापि पुद्गल रूप ही रहते है–वे परमाणु अपने स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणोंको कभी नहीं

त्यागते हैं। उनका हरएक पर्यायमे सत् उत्पाद ही होता है। इस कथनसे यह वात भी स्पष्ट कर दी है कि जीवकी सर्व पर्यायें जीव रूप तथा पुद्गलकी सर्व पर्यायें पुद्गल रूप होगी एक द्रव्यकी पर्यायें अन्य द्रव्य रूप नहीं हो सक्ती हैं। जीव कभी पुद्गल नहीं होगा, पुद्गल कभी जीव नहीं होगा ऐसा वस्तुका स्वभाव समझकर हमको उचित है कि हम अपने आत्म द्रव्यको शुद्ध अवस्थामें रखनेके लिये साम्यभावका अभ्यास करें ॥२१॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यके असत् उत्पादको पूर्व पर्यायसे भिन्न निश्चय करते हैं—

मणुओ ण होदि देवो, देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एव अहोज्जमाणो अणण्णभाव कधं लहदि ॥ २२ ॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा।
एवमभवन्ननन्यभाव कथ लभते ॥ २२ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—(मणुओ) मनुष्य (देवो ण होदि) देव नहीं होता है। (वा देवो) अथवा देव (मानुसो व सिद्धो वा) मनुष्य या सिद्ध नही होता है। (एवं अहोज्ज माणो) ऐसा नही होता हुआ (अणण्ण भावं कधं लहदि) एक पनेको कैसे प्राप्त हो सक्ता है?

विशेषार्थ—देव मनुष्यादि विभाव पर्यायोसे विलक्षण तथा निराकुल स्वरूप अपने स्वभावमें परिणमन रूप लक्षणको धरनेवाला परमात्मा द्रव्य यद्यपि निश्चय नयसे मनुष्यपर्यायमें तथा देवपर्यायमें समान हैं तथापि व्यवहारनयसे मनुष्य देव नही होता है क्योंकि देव पर्यायके कालमें मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति नहीं है तथा मनुष्य पर्यायके

कालमें देव पर्यायकी प्राप्ति नहीं है । इसी तरह कोई चार भेदोंसे देव है सो न मनुष्य है न अपने आत्माकी प्राप्तिरूप सिद्ध अवस्थामे रहनेवाला सिद्ध है क्योंकि पर्यायोका परस्पर भिन्न २ काल है जैसे सुवर्ण द्रव्यमें कुन्डल कंकण आदि पर्यायोका भिन्न २ काल है । इस तरह एक दूसरे रूप न होता हुआ एकपनेको कैसे प्राप्त होसक्ता है ? किसी भी तरह नहीं प्राप्त होसक्ता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि असद्भाव उत्पाद या असत् उत्पाद पूर्व २ पर्यायसे भिन्न २ होता है ।

भावार्थ-पहली गाथामें सत् उत्पादको द्रव्यकी अपेक्षा कहा था । यहां असत् उत्पादको पर्यायकी अपेक्षा कहते हैं । यद्यपि द्रव्यमे शक्ति रूपसे उसमें होने योग्य अनंत पर्यायें वास करती हैं परन्तु उनमेसे एक समयमें एक ही पर्यायकी प्रगटता होती है । जब एक पर्याय प्रगट होती है तब ही पहली पर्याय नष्ट होजाती है इस तरह जब पर्यायकी अपेक्षा विचार किया जावे तो इस पर्यायको असत् उत्पाद कहेंगे । जो मनुष्य पर्यायमे जीव है वह पर्यायकी अपेक्षा मनुष्य पर्यायमे है न वह देव, नारकी या तिर्यंच पर्यायमें है । इसी तरह जो देव है वह देव पर्याय हीमें हैं अन्य नरक, पशु व मनुष्य या सिद्ध पर्यायमे नही है क्योंकि देवगतिमें जो जो अवस्था शरीर व विभूतिकी होती है वह अवस्था अन्य गतिमें नही होती । सिद्ध पर्यायमे शुद्ध अवस्था है । वह संसार पर्यायमें नहीं होती है इस लिये सिद्ध जीवका पर्यायकी अपेक्षा असत् उत्पाद हुआ ऐसा समझना चाहिये । इस कथनका तात्पर्य यही है कि पर्याय बदलती है मूल द्रव्य नही बदलता है ।

द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य है, जिससे स्थूलपने यह भी समझना चाहिये कि अभी हमारा आत्मा जिस मनुष्य पर्यायमे है वह पर्याय कभी न कभी अवश्य बदल जायगी, यद्यपि हम नष्ट नहीं होंगे। इससे हमको इस पर्यायमे जो कुछ तप संयम व्रतादि बन सक्ता है सो अच्छी तरह कर लेना चाहिये, जिससे भविष्यमे योग्य पर्यायकी प्राप्ति हो।

उत्थानिका—आगे एक द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ अनन्यत्व नामका एकत्व है तथा अन्यत्व नामका अनेकत्व है ऐसा नयोकी अपेक्षा दिखलाते है। अथवा पूर्वमे कहे गए सद्भाव उत्पाद और असद्भाव उत्पादको एक साथ अन्य प्रकारसे दिखाते हैं—

दव्वट्ठिएण सव्वं सव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्कालं तम्मयत्तादो ॥ २३ ॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥ २३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दव्वट्ठिएण) द्रव्यार्थिक नयसे (तं सव्वं) वह सव (दव्व) द्रव्य (अणण्णं) अन्य नहीं है—वही है (पुणो) परंतु (पज्जयट्ठिएण) पर्यायार्थिक नयसे (अण्णम् य) अन्य भी (हवदि) है—क्योंकि (तक्काले तम्मयत्तादो) इस कालमें द्रव्य अपनी पर्यायसे तन्मई हो रहा है ॥

विशेषार्थ—वृत्तिकार जीव द्रव्यपर घटाते हैं कि शुद्ध अन्वय रूप द्रवार्थिक नयसे यदि विचार किया जाय तो सर्व ही कोई विशेष या सामान्य जीव नामा द्रव्य अपनी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव रूप विभाव पर्यायोंके समूहोंके साथ तथा केवलज्ञान

दर्शन सुख वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय शक्ति रूप सिद्ध पर्यायके साथ अन्य अन्य नही है किन्तु तन्मय है–एक है । जैसे कुंडल कंकण आदि पर्यायोंमें सुवर्णका भेद नहीं है । वही सुवर्ण है । परंतु यदि पर्यायकी अपेक्षासे विचार किया जावे तो वह द्रव्य अपनी अनेक पर्यायोके साथ भिन्न२ ही है, क्योकि जैसे अग्नि तृणकी अग्नि, काष्ठकी अग्नि, पत्रकी अग्नि रूप अपनी पर्यायोंके साथ उस समय तन्मयी होकर एक रूप भी है और भिन्न २ रूप भी है । तैसे यह जीव द्रव्य अपनी पर्यायोके साथ अन्य अन्य होकर भी भिन्न२ रूप भी है और एक रूप भी है । इससे यह बात कही गई कि जब द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुकी परीक्षा की जाती है तब पर्यायोमे सन्तान रूपसे सर्व पर्यायोंका समूह द्रव्य ही प्रगट होता है । परंतु जब पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है तब वही द्रव्य पर्याय पर्याय रूपमें भिन्न२ झलकता है । और जब परस्पर अपेक्षासे दोनों नयोंके द्वारा एक ही काल विचार किया जाता है तब वह द्रव्य एक ही काल एक रूप और अनेक रूप मालूम होता है । जैसे यहां जीव द्रव्यके सम्बन्धमे व्याख्यान किया गया तैसे सर्व द्रव्योमें यथा-संभव जान लेना चाहिये–यह अर्थ है ।

भावार्थः–इस गाथामे आचार्यने अभेद और भेद स्वभावोको जो हरएक द्रव्यमें पाए जाते है अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है । द्रव्य अपनी सर्व भूत, वर्तमान, भविष्यकी पर्यायोके साथ तन्मय रहता है–वही होता है–इस अपेक्षासे द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ अभेद है । परंतु हरएक पर्याय अपनी पूर्व या उत्तर पर्यायसे

भिन्न २ है इसलिये वह द्रव्य अपनी हरएक विशेष अवस्थामें एकरूप नही किन्तु भिन्न २ है--इस तरह पर्यायोंकी अपेक्षा भेद है। वास्तवमें द्रव्यमें एक ही समयमें अभेद स्वभाव और भेद स्वभाव दोनों ही पाए जाते हैं। इन दो भिन्न २ स्वभावोंको जब हम अपनी पर्यायको देखनेवाली दृष्टिको बन्द कर द्रव्य सामान्यको देखनेवाली दृष्टिसे अर्थात् द्रव्यार्थिक नयसे देखते हैं तव हमको वह द्रव्य हरएक पर्यायमें वही झलकता है अर्थात् उस समय द्रव्यका अभेद स्वभाव प्रगट होता है। परन्तु जब हम द्रव्यको देखनेवाली दृष्टिको बंदकर पर्यायको देखनेवाली दृष्टिसे या पर्यार्थिक नयसे देखते हैं तब हमको वह द्रव्य हरएक पर्यायमें अन्य २ ही झलकता है अर्थात् उस समय द्रव्यका भेद स्वभाव ही प्रगट होता है। परंतु जब हम दोनो दृष्टियोसे एक काल देखने लगजावें तब वह द्रव्य एक काल द्रव्यकी अपेक्षा अभेद रूप और पर्यायकी अपेक्षा भेद रूप दिखता है। जैसे एक जीव जो निगोद पर्यायमें था वही एकेन्द्री, द्वेन्द्री, तेन्द्री, चौंद्री, पचेंन्द्री होकर मनुष्य हो, रत्नत्रय धर्मका लाभ पाकर केवलज्ञानी हो, सिद्ध होजाता है--वही जीव है यह प्रतीति अभेद स्वरूपकी बतानेवाली है परंतु जब पर्याय पर्यायका मिलान करते हैं तो बडा भेद है--एकेन्द्रीकी जो अवस्था है वह द्वेन्द्रिय त्रस आदिकी नहीं, द्वेन्द्रिय त्रसकी जो अवस्था है वह एकेन्द्रिय तेन्द्रिय आदिकी नहीं, पशुकी जो अवस्था है वह मनुष्यकी नहीं, मनुष्यकी जो अवस्था है वह देव आदिकी नही, मिथ्यादृष्टीकी जो अवस्था है वह सम्यग्दृष्टीकी नहीं, गृहस्थकी जो अवस्था है वह साधुकी नहीं, साधुकी जो

अवस्था है वह केवलज्ञानीकी नही, केवलज्ञानी अरहंतकी जो अवस्था है वह सिद्ध भगवानकी नहीं। इसतरह पर्यायकी अपेक्षा वही जीव अपनी भिन्न२ पर्यायोमें भिन्न२ ही झलकता है—अर्थात् जीवका भेद स्वभाव प्रगट होता है। जब एक काल दोनोंका विचार करते हैं तो भिन्न२ अपेक्षासे वही जीव अभेदरूप तथा भेदरूप मालूम होता है। इसी तरह मिट्टी अपने प्याले, गिलास, कलस, घड़े, थाली आदि अनेक अवस्थाओको रखती हुई भी मिट्टीके स्वभावकी अपेक्षा एक रूप मिट्टी ही है, परतु जब अलग अलग हरएक मिट्टीकी अवस्थाको देखा जाता है तब प्याला है सो ग्लास आदि नहीं, ग्लास है सो प्याला आदि नही, कलस है सो प्यालाआदि नही, घडा है सो कलस आदि नही, थाली है सो घडा आदि नहीं। इसतरह हरएक मिट्टीकी पर्याय भिन्न२ ही झलकती है, परंतु जब एक मिट्टी और उसकी प्याले आदि पर्यायोकी अपेक्षा एक साथ विचार किया जावे तब मिट्टीमें अभेद रूप और भेद रूप दोनो बातें दिखलाई पडती हैं।

इन्ही तीनो भंगोका जब कथनकी अपेक्षा विचार किया जावे तब इसीके सात भंग बन जाते हैं जिसका वर्णन आगेकी गाथामे है। हरएक दो भिन्न२ स्वभावोंको समझने समझानेमें सात भंगोका विचार हो सक्ता है। यहांपर द्रव्यके अभेद और भेद स्वभावको बताया गया है। ये दोनो ही स्वभाव द्रव्यमें एक काल पाए जाते हैं।

इसी बातका विशेष वर्णन स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्त-मीमांसामें किया है कि यदि द्रव्यमें सर्वथा भेद माना जावे तो इस

तरह दोष आएगा। जैसा कहा है:—

> सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः ।
> प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ २९ ॥

भावार्थ—यदि द्रव्यको अपनी पर्यायोंसे भी एक रूप न माना जावे तो पर्यायोंकी संतान न ठहरे। क्रम रूप होनेवाली पर्यायोंमें जो द्रव्य अन्वय रूप बराबर बना रहता है उसको संतान कहते हैं। तथा समुदाय कहना भी न बनेगा। अर्थात् यदि द्रव्यको अपने गुणोंसे तथा गुणके विकार पर्यायोंसे सर्वथा भेद मानें तो यह द्रव्य गुणोंका या पर्यायोंका समुदाय है ऐसा नहीं बनेगा। वैसे ही साधर्म भाव भी न बनेगा। जितनी पर्यायें जिस द्रव्यकी होती हैं उन पर्यायोंमें द्रव्यका समान जातीय स्वभाव पाया जाता है। जैसे जीवकी देव मनुष्यादि पर्यायोंमें ज्ञानपना, पुद्गलकी घटपट आदि पर्यायोमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णपना, सत्ताकी अपेक्षा सर्व द्रव्योंमे सत् पना, ऐसा साधर्मीपना नही ठहरेगा यदि सर्वथा भेद माना जावे। तैसे ही परलोक भी न बनेगा—मरकर नया जन्म धारना परलोक है। सो यदि एक आत्मा अपनी देव मनुष्यादि पर्यायोंमें नहीं रहे तब यह नही मान सके कि अमुक जीवने पुण्य बाधके देव पर्याय पाई। परन्तु जब संतान समुदाय, साधर्म्य और परलोक अवश्य हैं तब अवश्य द्रव्यमें अभेद स्वभाव मानना होगा। सर्वथा द्रव्यका भेद अपने स्वभावों या पर्यायोसे नहीं हो सक्ता है। इसी तरह यदि कोई द्रव्यका सर्वथा अभेद स्वभाव माने तो क्या दोष आवेगा उसके लिये स्वामी समंतभद्रजी यही कहते हैं—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥
कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्या द्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

भावार्थ–यदि सर्वथा अभेद या अद्वैतका एकान्त पक्ष लिया जावे तो जो कारक और क्रियाके भेद प्रत्यक्ष सिद्ध हैं सो नहीं रहेंगे। अर्थात् यह जीव कर्ता है, इसने अपने भाव किये इससे कर्म है, जीवने अपने ज्ञानसे जाना इससे करण है इत्यादि कारक नहीं बनेंगे और न अभेद एक रूप द्रव्यमें क्रिया कोई हो सक्ती है जैसे ठहरना, चलना, आदि और न अभेदसे कोई वस्तु पैदा हो सक्ती है। मिट्टीसे घडे, सुवर्णके कुंडल, जीवके क्रोधादि भाव नही पैदा हो सक्के हैं। इसी तरह सर्वथा एक या अभेद रूप द्रव्यको माननेसे उसके द्वारा होनेवाले पुण्य या पाप कर्म, उनके सुख दुःख फल, यह लोक, परलोक, अज्ञानावस्था तथा सम्यज्ञानावस्था, तथा बन्ध और मोक्ष–इत्यादि कुछ भी नही बनेगा। इसी लिये द्रव्यका स्वभाव किसी अपेक्षा अभेद तथा किसी अपेक्षा भेद रूप है ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ २३ ॥

इसतरह सत् उत्पादको कहते हुए प्रथम, सत् उत्पादका विशेष कथन करते हुए दूसरी तैसे ही असत् उत्पादका विशेष वर्णन करते हुए तीसरी तथा द्रव्य और पर्यायोका एकत्व और अनेकत्व कहते हुए चौथी इसतरह सत् उत्पाद, असत् उत्पादके व्याख्यानकी मुख्यतासे गाथा चारमे सातवां स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे सर्व खोटी नयोके एकान्त रूप विवादको मेटनेवाली सप्तभंगी नयका विस्तार करते हैं–

अत्थित्ति य णत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ २४ ॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनापि तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥ २४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(दव्व) द्रव्य (केणवि पज्जाएण) किसी एक पर्यायसे (दु) तो (अत्थित्ति) अस्ति रूप ही है (य) और किसी एक पर्यायसे (णत्थित्ति य) नास्ति रूप ही है तथा किसी एक पर्यायसे (अवत्तव्वमिदि) अवक्तव्य रूप ही (हवदि) होता है। (पुणो तदुभयम्) तथा किसी एक पर्यायसे अस्ति नास्ति दोनो रूप ही हैं (वा अण्ण) अथवा किसी अपेक्षासे अन्य तीन रूप अस्ति एव अवक्तव्य, नास्ति एव अवक्तव्य तथा अस्ति नास्ति एव अवक्तव्य रूप (आदिट्ठम्) कहा गया है।

विशेषार्थ–यहा स्याद्वादका कथन है। स्यात्का अर्थ कथंचित् है अर्थात् किसी एक अपेक्षासे–वादके अर्थ-कथन करनेके हैं। वृत्तिकार यहां शुद्ध जीवके सम्बन्धमें स्याद्वादका या सप्तभंगका प्रयोग करके बताते है। शुद्ध जीव द्रव्य अपने ही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावके चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप ही है अर्थात् जीवमे अस्तिपना है। शुद्ध गुण तथा पर्यायोका आधारभूत जो शुद्ध आत्मद्रव्य है वह स्वद्रव्य है, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेश है सो स्वक्षेत्र कहा जाता है। वर्तमान शुद्ध पर्यायमे परिणमन करता हुआ वर्तमान समय स्वकाल कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य यह स्वभाव है इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा शुद्ध जीव है अथवा शुद्ध जीवमें अस्तित्व स्वभाव है। यह स्यात्

अस्ति एव प्रथम भंग है। तथा पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल व परभाव रूप परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप ही है। अर्थात् शुद्ध जीवमें अपने सिवाय सर्व द्रव्योंके द्रव्यादि चतुष्टयका अभाव है। यह स्यात् नास्ति एव दूसरा भंग है। एक समयमें ही जीव द्रव्य किसी अपेक्षासे अस्तिरूप ही है व किसी अपेक्षासे नास्ति रूप ही है तथापि वचनोंसे एक समयमे कहा नहीं जासक्ता इससे अवक्तव्य ही है। यह तीसरा स्यात् अवक्तव्य एव भंग है। वह परमात्म द्रव्य स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति रूप है पर द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति रूप है ऐसे क्रमसे कहते हुए अस्तिनास्ति स्वरूप ही है यह चौथा स्यात् अस्तिनास्ति एव भंग है। इस तरह प्रश्नोत्तर रूप नय विभागसे जैसे ये चार भंग हुए तैसे तीन भंग और हैं जिनको संयोगी कहते हैं। स्व द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति ही है परन्तु एक समयमें स्व द्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति और पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति होने पर भी अवक्तव्य है इससे स्यात् अस्ति एव अवक्तव्य है यह पांचवां भंग है। पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति रूप ही है परंतु एक समयमें स्व पर द्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तिनास्ति होने पर भी अवक्तव्य है इससे स्यात् नास्ति एव अवक्तव्य है यह छठा भंग है। क्रमसे कहते हुए स्व द्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति रूप ही है तथा पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति रूप ही है तथापि एक समयमें अस्तिनास्ति रूप कहा नहीं जासक्ता इससे स्यात् अस्तिनास्ति एव अवक्तव्य रूप है यह सातवां भंग है। पहले पंचास्तिकाय ग्रंथमें स्यात् अस्ति इत्यादि प्रमाण वाक्यसे प्रमाण सप्तभंगीका व्याख्यान

किया गया यहां स्यात् अस्ति एवके द्वारा जो एवका ग्रहण किया गया है वह नय सप्तभंगीके बतानेके लिये किया गया है। जैसे यहां शुद्ध आत्म द्रव्यमें सप्तभंगी नयका व्याख्यान किया गया तैसे यथा संभव सर्व पदार्थोंमे जान लेना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने सप्तभंग वाणीका स्वरूप इसी लिये दिखाया है कि इसकी पहली गाथामें जो द्रव्यमें द्रव्यकी अपेक्षा अभेद स्वभाव तथा पर्यायोंकी अपेक्षा भेद स्वभाव बताया है इसकी सिद्धि सात भंगोंसे शिष्यके प्रश्नवश होसक्ती है उसको स्पष्ट कर दिया जाय।

शिष्यने प्रश्न किया कि द्रव्यका क्या स्वरूप है? आचार्य उत्तर देते हैं कि द्रव्य अपने गुण व पर्यायोंमें अन्वय रूप सदा चला जाता है इससे अभेद स्वरूप ही है, परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा भेद स्वरूप ही है। तथापि यदि अभेद स्वरूपको और भेद स्वरूपको दोनोंको एक काल कहनेकी चेष्टा करें तो कह नहीं सक्ते इससे अवक्तव्य स्वरूप ही है। इस तरह स्याद् अभेदः एव, स्यात् भेदः एव, स्यात् अवक्तव्यम् एव। तीन भंग हुए।

शिष्यका प्रश्न—क्या ये अभेद तथा भेद दोनों स्वरूप है?

उत्तर—यह द्रव्य किसी अपेक्षासे अभेद व किसी अपेक्षा भेदः इस तरह दोनों स्वरूप ही है। यह चौथा भंग स्यात् अभेदः भेदः एव है।

शिष्य—प्रश्न—तब फिर जो आपने अवक्तव्य कहा था, क्या यह अभेद स्वरूपको नहीं रखता है?

उत्तर—अवश्य अभेद स्वरूको रखता है तथापि एक सम-

यमें कहनेकी अपेक्षा अवक्तव्य है। यह स्यात् अभेदः एव अवक्तव्यं पांचवां भंग है।

शिष्य प्रश्न—क्या अवक्तव्य होते हुए भेद स्वरूपको नहीं रखता है?

उत्तर—अवश्य भेद स्वरूपको रखता है परंतु एक समयमें कहनेकी अपेक्षा अवक्तव्य है। यह स्यात् भेदः एव अवक्तव्यं छठा भंग है।

शिष्य प्रश्न—क्या अवक्तव्य होते हुए ये दोनो स्वभावोंको नही रखता है?

उत्तर—यह अवश्य दोनो स्वभावोंको रखता है परंतु एक समयमें कहनेके अभावसे अवक्तव्य है। यह स्यात् अभेद भेद एव अवक्तव्यं सातवां भंग है। जहां एक पदार्थमे तीन स्वभाव पाए जांयगे वहां उसके सात भंग वन सक्ते हैं—जैसे यह कागज लाल, पीला, हरा हैं—एक तरफ लाल है, दूसरी तरफ पीला है और किनारेपर हरा है। ये तीन भंग तो ये हुए, चार इस तरहपर होंगे कि ये लाल और पीला है, लाल हरा है, पीला हरा है तथा लाल पीला हरा है। इसको इस तरह कह सक्ते है। किनारोको छोड़कर दोनो तरफकी अपेक्षासे देखो तो ये लाल और पीला है। एक एक तरफको अलग२ देखो तो यह लाल हरा है तथा पीला हरा है। यदि सव तरफकी वात एक साथ देखो तो यह कागज लाल पीला हरा है।

अथवा हमारे पास नोन, मिर्च, खटाई हो तो इसको सात अवस्थाओमें रख सक्ते हैं—

१ अलग नोन २ अलग मिर्च २ अलग खटाई ४ नोन

मिर्च साथ ५ नोन खटाई साथ, ६ मिर्च खटाई साथ तथा ७ नोन मिर्च खटाई साथ। इससे अधिक भिन्न अवस्था तीन वस्तुओंकी नहीं होसक्ती।

इसी तरह दो विरोधी स्वभाव और एक अवक्तव्य ये तीन स्वभाव द्रव्यमे होकर उसका कथन सात तरहसे किया जासक्ता है, आठ तरहसे नहीं होसक्ता है। यदि छः तरहसे करें तो एक भेद शेष रह जायगा। दूसरा दृष्टान्त हम ले सक्ते है कि किसीने हमको शक्कर चने और बादाम तीन वस्तुएं दी और कहा कि इसकी मिश्रित मिठाइयें ऐसी बनाओ जो एक दूसरेसे भिन्न हों। ऐसी दशामे हम चार प्रकारकी ही बना सक्ते हैं जैसे शक्कर और चनेके मिलानेसे एक प्रकारकी, शक्कर और बादामके मिलानेसे दूसरे प्रकारकी, चने और बादामको मिलाकर तीसरे प्रकारकी तथा शक्कर चने और बादामको मिलाकर चौथे प्रकारकी इस तरह तीन अलग व चार मिश्र ऐसे सात भेद तीनके होसक्ते हैं। हरएक द्रव्यमें एक, अनेक, अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, इत्यादि दो दो विरोधी स्वभाव पाए जाते है। तीसरा स्वभाव अवक्तव्य है। अवक्तव्य एक अनेक, अस्ति नास्ति, नित्त्य अनित्त्य, सबके साथ लगानेसे तीन स्वभाव होजावेंगे इनका खुलासा करनेके लिये सात तरहका उपाय है जिससे शिष्यके दिलमे विना शकाके पदार्थ जम जावे। जैसे द्रव्य द्रव्यकी अपेक्षा नित्त्य है, पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। दोनोंको एक साथ एक समयमें नही कह सक्ते इससे द्रव्य अवक्तव्य है।

शिष्यको समझानेके लिये इस तरह चार भंग कहेंगे। द्रव्य

नित्य और अनित्य दोनो स्वभाव है। जब नित्य है तब अवक्तव्य भी है। जब अनित्य है तब अवक्तव्य भी है। तथा जब नित्य अनित्य दोनो रूप है तब अवक्तव्य भी है। इस तरह सात भंग हो जांयगे। एक स्वभाव रूप पदार्थको माननेसे पदार्थसे कोई भी काम नहीं लिया जासक्ता।

श्री समन्तभद्राचार्यजीने आप्तमीमांसामें स्याद्वादका अच्छा स्वरूप बताया है:—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैत सहावाच्यमशक्तितः ।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगा स्वहेतुतः ॥ १६ ॥

भावार्थ—अपने स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सर्व वस्तु सत-रूप ही है इस बातको कौन बुद्धिमान न मानेगा तथा इसके विरुद्ध पर स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा सर्व वस्तु परस्पर असतरूप ही है। यदि द्रव्यमें अपने स्वरूपकी अपेक्षा सत् और पर स्वरूपकी अपेक्षा असत् न हो तो द्रव्य ठहर ही नहीं सक्ता है। जब हमने कहा कि घड़ा है तब घडेपनेके अस्तित्वको रखता हुआ वह घडा अप-नेसे भिन्न कपड़ा, मकान आदि अन्य सर्व परके अभावको या नास्तित्वको भी रख रहा है। तब ही हम यह कह सक्ते है कि यह घड़ा है तथा घडेके सिवाय और कुछ नहीं है। इसी दो प्रकारके स्वभावको क्रमक्रमसे एक साथ बतानेके लिये तीसरा भंग यह कहा जायगा कि द्रव्य स्वस्वरूपसे अस्ति तथा पर स्वरूपसे नास्ति स्वरूप है यह तीसरा भंग अस्ति नास्ति बनता है। यद्यपि

द्रव्यमें दो स्वभाव है पन्तु एक साथ नहीं कहे जासक्ते क्योंकि वचनोंमे ऐसी शक्ति नही है इसलिये चौथा भंग अवक्तव्य हो जाता है। इसी तरह अपनी २ भिन्न अपेक्षाके कारण अवक्तव्यके आगेके शेष तीन भग बन जांयगे अर्थात् स्वरूपसे अस्ति है तथापि दोनों अस्तिनास्तिको एक समय रखते हुए अवक्तव्य है। यह अस्ति च अवक्तव्य पाचवा भंग हुआ—पर स्वरूपसे नास्ति है तथापि दोनों अस्ति नास्तिको एक समय रखते हुए अवक्तव्य है यह नास्ति च अवक्तव्य नामका छठा भंग है। क्रमसे कहते हुए स्वरूपसे अस्ति तथा पर स्वरूपसे नास्ति है तथापि एक समय दोनोंको रखते हुए अवक्तव्य है यह अस्ति नास्ति च अवक्तव्य नामका सातवां भंग हुआ। आगे कहते हैं—

विधेय प्रतिपेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः।
साध्यधर्मों यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो कोई विशेष्य पदार्थ शब्दसे कहनेमे आवेगा वह साध्य असाध्य स्वरूप अवश्य होगा। जैसे साध्यका स्वभाव अपने लिये तो हेतु है परन्तु परके लिये अहेतु है। जहा अग्निपना साधन करेंगे वहां धूम हेतु है यही हेतु जलपना साधनेमें अहेतु है-हेतु नहीं है। किसी अपेक्षासे धूम हेतु है, किसी अन्य अपेक्षा धूम अहेतु है। इसी तरह जीव अपने स्वरूपसे साध्य है, परन्तु अजीवके स्वरूपसे असाध्य है अर्थात् जीवमे जीवकी अपेक्षा अस्तिपना तथा अजीवकी अपेक्षा नास्तिपना है। ऐसा यदि न हो तथा दोनों एक स्वरूप हो तव न जीव शब्द कह सके न अजीव शब्द कह सक्के। स्वयंभूस्तोत्रमे भी स्वामीने श्री पुष्पदन्त

भगवानकी स्तुति करते हुए कहा है—

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्तथा प्रतीतेस्तव तत्कथंचित् ।
नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ॥४२॥

भावार्थ—जीवादि पदार्थ अपने स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति रूप हैं तथा पर स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति रूप हैं। आपके मतमें जो जीवादिका स्वरूप है वह एक समयमें प्रमाण दृष्टिसे अस्ति नास्ति रूप प्रतिभासता है। भिन्न २ अपेक्षासे वस्तु तत् तथा अतत् स्वभावसिद्ध है। अस्ति तथा नास्ति धर्मकी सर्वथा भिन्नता नहीं है। यदि सर्वथा भिन्न माने जावे तौ दोनोंकी शून्यता आजावेगी क्योंकि अस्ति विना नास्ति नहीं। नास्ति विना अस्ति नहीं होसक्ते। और यदि दोनोकी सव तरहसे अभिन्नता या एकता मानी जायगी तव भी दोनोंका अभाव हो जायगा। एक द्रव्यमें रहते हुए अपेक्षाकी भी एकता माननेसे कुछ न रहेगा। इसलिये अस्तिधर्म नास्तिधर्मसे किसी अपेक्षा भेद रूप व किसी अपेक्षा अभेद रूप है। इस स्याद्वाद कथनसे ही अपना आत्मा सर्व अनात्म द्रव्योसे व सर्व रागादि नैमित्तिक भावोसे जुदा भासता है और उस आत्माका पृथक् अनुभव होता है। स्याद्वादका प्रयोजन यथार्थ वस्तु स्वभावका ज्ञान प्राप्त करना व अन्यको प्राप्त कराना है।

तात्पर्य यह है कि स्याद्वादके द्वारा यथार्थ स्वरूप समझकर हमें निज हितमें प्रवर्तना योग्य है।

इस तरह सप्तभंगीके व्याख्यानकी गाथाके द्वारा आठवां स्थल पूर्ण हुआ। इस तरह जैसा पहले कह चुके है पहले एक

नमस्कार गाथा कही, फिर द्रव्य गुण पर्यायको कथन करते हुए दूसरी कही, फिर स्वसमय परसमयको दिखलाते हुए तीसरी, फिर द्रव्यके सत्ता आदि तीन लक्षण होते हैं इसकी सूचना करते हुए चौथी, इस तरह स्वतंत्र गाथा चारसे पीठिका कही। इसके पीछे अवान्तर सत्ताको कहते हुए पहली, महासत्ताको कहते हुए दूसरी, जैसा द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे सत्ता गुण भी है ऐसा कहते हुए तीसरी, उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना होते हुए भी सत्ता ही द्रव्य है ऐसा कहते हुए चौथी इस तरह चार गाथाओंसे सत्ताका लक्षण मुख्यतासे कहा गया। फिर उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणको कहते हुए गाथा तीन, तथा द्रव्य पर्यायको कहते हुए व गुण पर्यायको कहते हुए गाथा दो, फिर द्रव्यके अस्तित्वको स्थापन करते हुए पहली, पृथक्त्व लक्षणधारी अतद्भाव नामके लक्षणको कहते हुए दूसरी, संज्ञा लक्षण प्रयोजनादि भेद रूप अतद्भावको कहते हुए तीसरी, उसीके ही दृढ़ करनेके लिये चौथी इस तरह गाथा चारसे सत्ता और द्रव्य अभेद हैं इसको युक्तिपूर्वक कहा गया। इसके पीछे सत्ता गुण है द्रव्य गुणी है ऐसा कहते हुए पहली, गुण पर्यायोंका द्रव्यके साथ अभेद है ऐसा कहते हुए दूसरी ऐसी स्वतन्त्र गाथाएं दो हैं। फिर द्रव्यके सत् उत्पाद असत् उत्पादका सामान्य तथा विशेष व्याख्यान करते हुए गाथाएं चार हैं। फिर सप्तभंगीको कहते हुए गाथा एक है, इस तरह समुदायसे चौबीस गाथाओंके द्वारा आठ स्थलोंसे सामान्य ज्ञेयके व्याख्यानमे सामान्य द्रव्यका वर्णन पूर्ण हुआ।

इसके आगे इसी ही सामान्य द्रव्यके निर्णयके मध्यमें सामान्य भेदकी भावनाकी मुख्यता करके ग्यारह गाथाओ तक व्याख्यान

करते हैं। इसमे क्रमसे पांच स्थान हैं। पहले वार्तिकके व्याख्यानके अभिप्रायसे सांख्यके एकांतका खंडन है। अथवा शुद्ध निश्चयनयसे फल कर्म रूप है शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है ऐसी गाथा एक है। फिर इसी अधिकार सूत्रके वर्णनके लिये "कम्मं णाम समक्खं" इत्यादि पाठ क्रमसे चार गाथाएं हैं। इसके आगे रागादि परिणाम ही द्रव्य कर्मोंके कारण हैं इसलिये भाव कर्म कहे जाते हैं इसतरह परिणामकी मुख्यतासे "आदा कम्म मलिमसो" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर कर्मफल चेतना, कर्म चेतना, ज्ञान चेतना इसतरह तीन प्रकार चेतनाको कहते हुए "परिणमदि चदेणाए" इत्यादि तीन सूत्र हैं। फिर शुद्धात्माकी भेद भावनाका फल कहते हुए "कत्ताकरणं" इत्यादि एक सूत्रमें उपसंहार है या संकोच है—इसतरह भेद भावनाके अधिकारमे पांच स्थलसे समुदाय पातनिका है ॥ २४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि नारक आदि पर्याय कर्मके आधीन हैं इससे नाशवंत हैं। इस कारण शुद्ध निश्चयनयसे ये नारकादि पर्यायें जीवका स्वरूप नहीं है ऐसी भेद भावनाको कहते हैं:—

एसोत्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥२५॥

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता ।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निःफलः परमः ॥ २५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(एसोत्ति णत्थि कोई) कोई भी मनुष्यादि पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो (ण सहावणिव्वत्ता किरिया णत्थि) और रागादि विभाव स्वभावसे होनेवाली क्रिया नहीं है ऐसा नहीं है अर्थात् रागादि रूप क्रिया भी अवश्य है।

(किरिया हि अफला णत्थि) यह रागादि रूप क्रिया निश्चयसे विना फलके नहीं होती है अर्थात् मनुष्यादि पर्यायरूप फलको देती है (जदि परमो धम्मो णिप्फलो) यदि उत्कृष्ट वीतराग धर्म मनुष्यादि पर्यायरूप फल देनेसे रहित है ।

विशेषार्थ—जैसे टकोत्कीर्ण (टाकीसे उकेरेके समान अमिट) ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप परमात्मा द्रव्य नित्य है वैसे इस संसारमें मनुष्य आदि पर्यायोंमेंसे कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो । तब क्या मनुष्यादि पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली संसारकी क्रिया भी नहीं है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादिकी परिणति रूप सांसारिक क्रिया नहीं है ऐसा नहीं है । इन मनुष्यादि चारों गतियोंको उत्पन्न करनेवाली रागादि क्रिया अवश्य है । यह क्रिया शुद्धात्माके स्वभावसे विपरीत होनेपर भी नर नारकादि विभाव पर्यायके स्वभावमे उत्पन्न हुई है । तब क्या यह रागादि क्रिया निष्फल रहेगी ?–इसके उत्तरमें कहते हैं कि वह मिथ्यात्व रागादिमें परिणतिरूप वैभाविक क्रिया यद्यपि अनन्त सुखादि गुणमई मोक्षके कार्यको पैदा करनेके लिये निष्फल है तथापि नाना प्रकारके दुःखोंको देनेवाली अपनी अपनी क्रियासे होनेवाली कार्यरूप मनुष्यादि पर्यायको पैदा करनेके कारण फल सहित है, निष्फल नहीं है—इस रागादि क्रियाका फल मनुष्यादि पर्यायको उत्पन्न करना है। यह बात कैसे मालूम होती है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि वीतराग परमात्माकी प्राप्तिमे परिणमन करनेवाली क्रिया जिसको आगमकी भाषामें परम यथाख्यात चारित्र रूप परमधर्म कहते हैं, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयकी प्रगटता रूप

कार्य समयसारको उत्पन्न करनेके कारण फल सहित है तथापि नर नारक आदि पर्यायोंके कारणरूप ज्ञानावरणादि कर्मबंधको नहीं पैदा करती है इसलिये निष्फल है। इससे यह ज्ञात होता है कि नरनारक आदि सांसारिक कार्य मिथ्यात्व रागादि क्रियाके फल हैं।

अथवा इस सूत्रका दूसरा व्याख्यान ऐसा भी किया जासक्ता है—कि जैसे शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव रागादि विभाव भावोंसे नहीं परिणमन करता है तैसे ही अशुद्ध नयसे भी नहीं परिणमन करता है ऐसा जो सांख्यमत कहता है उसका निषेध है, क्योंकि जो जीव मिथ्यात्व व रागादि विभावोंमें परिणमन करते हैं उन्हींको नर नारक आदि पर्यायोकी प्राप्ति है ऐसा देखा जाता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्य इस बातको स्पष्ट करते हैं कि यह संसारी जीव अपने मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि भावोके फलसे ही मनुष्यादि पर्यायोंके फलको पाता है। जबतक जिस आयुका उदय रहता है तबतक ही यह जीव किसी मनुष्य या देव आदि पर्यायमें रहता है। ये नरनारकादि पर्यायें नित्य नहीं हैं। इस संसारकी नर नारक देव मनुष्य चारों ही गतिरूप पर्यायें जीवके रागादिभावोंसे बांधे हुए कर्मोंके आधीन है। इन रागादि भावोंका कर्ता यह संसारी जीव है। सांख्यमत जैसे इस जीवको सर्वथा रागादिका अकर्ता कहता है सो बात नहीं है। यह जीव परिणमनशील है। जब यह अपने वीतराग परम धर्ममें परिणमन करता है तब यह मनुष्यादि पर्यायोंमे जानेवाले कर्मोको नहीं बांधता है किन्तु अपने इस परम धर्ममई वीतराग भावसे अरहंत या सिद्ध परमात्मा होजाता है। जब वीतराग भावसे शुद्ध होता है तब रागादिभावोंसे अशुद्ध

होता है अर्थात् कर्म बाधता है यह बात सिद्ध है। कर्मके फलसे मनुष्यादि गति पाकर सांसारिक दुःखसुखको भोगता है। जैसा कर्मका उदय क्षणिक है वैसे ये नरनारकादि पर्यायें भी क्षणिक हैं।

तात्पर्य्य यह है कि संसारका भ्रमण अपने ही मिथ्यात्व व रागादि भावोकी क्रियाका फल है तथा संसारका नाश होकर परमात्मपदका लाभ वीतरागरूप परमधर्मसे होता है ऐसा जानकर ससारके नाशके लिये वीतराग धर्ममे वर्तन करना योग्य है।

इस कथनसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि यह संसारी जीव अनादिकालसे रागादिरूप परिणमन कर रहा है इसीसे नाना प्रकार कर्मबंध देव, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा नरक गतिमें वारवार चक्कर लगाया करता है। जब अपने आत्माके श्रृद्धान ज्ञान चरित्रमें तन्मई होगा तब आप ही अपने शुद्ध भावोसे कर्मबंध काटकर मुक्त हो जायगा। यदि यह विभाव और स्वभावरूप परिणमन करनेकी शक्ति न रखता तो न कभी संसारी रहता और न कभी संसारीसे सिद्ध होता। यह भी झलका दिया है कि वीतरागरूप धर्ममें क्रिया करना संसाररूपी कार्य पैदा करनेके लिये निष्फल है।

श्री योगेन्द्रदेवने अमृताशीतिमे बंध मोक्षके सम्बन्धमे अच्छा वर्णन किया है—

इदमिदमतिरम्यं नेदमित्यादिभेदा—द्विदधति पदमेते रागरोषादयस्ते।
तदलममलमेकं निष्कलं निष्क्रियस्सन् भज भजसि समाधेः सत्फलं येन नित्यम् ॥ ६६ ॥

तावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते यावद् द्वैतस्य गोचरं।
अद्वये निष्कले जाते निष्क्रियस्य कुतः क्रिया ॥ ६७ ॥

अहमहमिह भावाद् भावना यावदन्तर्भवति भवति बंधस्तावदेषोऽपि नित्यः ।
क्षणिकमिदमशेषं विश्वमालोक्य तस्माद्भज शरणमवन्ध्यः शान्तये त्वं समाधेः६८

भावार्थः—यह बहुत रमणीक है, यह बहुत सुन्दर है तथा यह अशोभनीक है, यह कुत्सित है इत्यादि भेदोके कारण तेरेमे ये रागद्वेषादि अपना पैर रखते हैं इससे आत्मकार्य सिद्ध न होगा । इसलिये तू रागादि क्रियाओंको छोडकर निष्क्रिय होता हुआ सर्व शरीरादि पर पुद्गलसे रहित निर्मल एक आत्माको भज । इसी उपायसे तू समाधि भावका अविनाशी और सच्चा फल प्राप्त करेगा। जबतक तेरेमें द्वैतभाव हो रहा है अर्थात् तू रागद्वेषमें वर्त रहा है तबतक क्रियाएं हो रही हैं । जब तुझे अद्वैतरूप एक कर्मबन्धादि रहित शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो जावेगी तब तू निष्क्रिय हो जायगा और फिर कहां तेरेमें क्रिया मिल सक्ती है ? इस जगतमे मैं ऐसा हूं, मैं ऐसा हूं इस भावसे जबतक अंतरगमें भावना रहती है तबतक यह बंध बराबर होता रहता है इसलिये तू इस सर्व लोकको क्षणभंगुर देखकर तथा निश्चल एकाग्र होकर अर्थात् पूजा बन्दनाका भाव भी छोड़कर तू शांतिकी प्राप्तिके लिये समाधिकी शरणमें जा ॥२९॥

इस गाथामें यह बता दिया है कि नर नारकादि पर्यायें व उनके कारण रागादि भाव इस आत्माका निज स्वभाव नही है—शुद्ध निश्चय नयसे आत्मा इन सर्व अशुद्ध कारण तथा कार्योंसे भिन्न है ।

ऐसे प्रथम स्थलमें सूत्ररूप गाथा वर्णन की ।

उत्थानिका—आगे इसी सूत्रका विशेष कहते हुए बताते हैं कि ये मनुष्य आदि पर्यायें कर्मोंके द्वारा पैदा होती हैं—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइय वा सुरं कुणदि ॥ २६ ॥
कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन ।
अभिभूय नरं तिर्यंचं नैरयिकं वा सुरं करोति ॥ २६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अध) तथा (णामसमक्खं कम्म) नाम नामका कर्म (सहावेण) अपने कर्म स्वभावसे (अप्पणो सभाव) आत्माके स्वभावको (अभिभूय) ढककर (णरं तिरिय णेरइय वा सुरं कुणदि) उसे मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी या देवरूप कर देता है ।

विशेषार्थ—कर्मोंसे रहित परमात्मासे विलक्षण ऐसा जो नाम नामका कर्म जो नामरहित गोत्ररहित परमात्मासे विपरीत है अपने ही सहभावी ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्वभावसे शुद्धबुद्ध एक परमात्मस्वभावको आच्छादन कर उसे नर, नारक, तिर्यञ्च या देवरूपमें कर देता है । यहां यह अर्थ है—जैसे अग्नि कर्त्ता होकर तेलके स्वभावको तिरस्कार करके वत्तीके आधारसे उस तेलको दीपककी शिखारूपमें परिणमन कर देती है तैसे कर्मरूपी अग्नि कर्ता होकर तेलके स्थानमें शुद्ध आत्माके स्वभावको तिरस्कार करके वत्तीके समान शरीरके आधारसे उसे दीपककी शिखाके समान नर, नारकादि पर्यायोंके रूपसे परिणमन कर देती है । इससे जाना जाता है कि मनुष्य आदि पर्यायें कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हैं ।

भावार्थ—इस गाथामे आचार्यने इस वातको और भी स्पष्ट कर दिया है कि सिद्ध अवस्थाके सिवाय और सर्व ससारीक पर्यायें इस जीवके कर्मोंके उदयसे होती हैं । सिद्धगतिरूप पर्याय जब कर्मोंके क्षयसे होती है तब मनुष्यगति, देवगति, पशुगति, तथा

नरकगति–मनुष्यादि आयु तथा गति जाति शरीर अंगोपांग स्पर्श आदि नाम कर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे होती हैं। यदि नाम कर्मका उदय न हो तो आत्माके प्रदेशोंमे कोई भी सकम्पपना या हलन-चलन न हो। आकारके पलटनेरूप व्यजन पर्याय जिसमे आत्माके प्रदेश सकोच विस्ताररूप होजाते हैं, नामकर्मके उदयसे ही होती है। यह नाम कर्म अघातिया है–आत्माके ज्ञानादि गुणोका घातक नही है परन्तु नाम कर्मके साथमे जो मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अंतराय कर्म हैं उनका जितना उदय है उसके कारण आत्माके शुद्ध गुण ढकरहे है या कलुषित होरहे हैं। इसलिये यह जीव नाम, गोत्र, वेदनी, आयु इन अघातिया कर्मोंके उदयसे जव मनुष्य आदि शरीरको व उसमें अच्छे या बुरे सम्बन्धोंको प्राप्त करता है तव वहां घातिया कर्मोंका उदय होनेसे आत्माकी शक्ति बहुभाग या अल्पभाग ढकी रहती है। इन घातिया कर्मोंमे मुख्य प्रवल मोह कर्म है। इस मोहके आधीन हो यह अज्ञानी आत्मा रागद्वेष, मोह भावोको कर लेता है। इन रागादि अशुद्ध भावोंके कारण फिर भी कभी आठ कभी सात प्रकार कर्मोंको वाध लेता है और उन कर्मोंके उदयसे फिर नर, नारकादि गतियोमे जाता है। वहां फिर अच्छे बुरे संयोग पाकर राग द्वेष मोह करलेता है। इस तरह इस संसारमें अनादिकालसे प्रवाहरूप यह आत्मा कर्मोको आप ही वाधकर आप ही उसके फलसे चार गतियोंमे दुःख उठाता है। जैसे तेल अग्निके सम्बन्धसे बत्तीके द्वारा दीपकी शिखारूप हो जाता है ऐसे यह ससारी आत्मा कर्मोंके उदयरूप अग्निके संबन्धसे शरीर द्वारा मनुष्यादि

पर्यायरूप प्रगट होता रहता है। यदि अग्निका सम्बन्ध न हो तो तेल अपने द्रवण व सचिक्कण स्वभावको बिगाड़कर कभी दीपशिखामे परिणमन न करे ऐसे ही जो कर्मोका बन्ध न हो तो कभी आत्मा मनुष्यादि गतियोंको धारण न करे। वास्तवमे पुद्गल कर्म ही भवभवमें जीवको फिरानेवाले हैं—

श्री समयसारकलशमे श्री अमृतचंद्रजी कहते हैं—

अस्मिन्ननादिनि महत्त्वविवेकनाट्ये ।
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ॥
रागादिपुद्गल विकारविरुद्धशुद्ध—
चैतन्यधातुमयमूर्तिरय च जीवः ॥ १२ ॥

भावार्थ—इस अनादिकालके महान अज्ञानके नाट्यरूप ससारमे वर्णादिरूप पुद्गल ही नृत्य कररहा है दूसरा कोई नही। अर्थात् पुद्गलके निमित्तसे ही जीव ससारचक्रमें घूम रहा है। यदि जीवके यथार्थ स्वभावका विचार करें तो यह जीव रागद्वेषादि पुद्गलके विकारोसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुकी एक अपूर्व मूर्ति है।

श्री अमितगति आचार्य सुभाषितरत्नसदोहमें कर्मोदयकी महिमा बताते है—

दैवायत्त सर्व जीवस्य सुखासुख त्रिलोकेऽपि ।
बुद्ध्वेति शुद्धधिषणाः कुर्वन्ति मनः क्षति नात्र ॥ ३६७॥

भावार्थ-तीन लोकमें, सर्व ही जीवोके जो कुछ सुख या दुःखकी अवस्था होती है सो सर्व कर्मोके उदयसे होती है, ऐसा जानकर निर्मल बुद्धिवाले कभी मनमें खेद नही करते हैं—वस्तुका स्वरूप विचारकर समताभाव रखते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्यजीने स्वयंभूस्तोत्रमें भी कहा है—

अलघ्य शक्तिर्भवितव्यतेय हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा ।
अनीश्वरो जंतुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३३॥

भावार्थ—कर्मके उदयकी शक्तिको लांघना बहुत कठिन है । जितने कार्य हैं वे बाह्य और अंतरंग निमित्तोके होनेपर होते हैं । एक अहंकारी पुरुष जिसको कर्मके उदयकी अपेक्षा नहीं है केवल अपने पुरुषार्थके अहंकारसे पीडित है, सुख आदिके लिये कार्योंको करनेमें सहकारी कारणोको मिलाकर भी कार्यमे असफल होकर लाचार हो जाता है । श्री सुपार्श्वनाथ आपने ऐसा यथार्थ उपदेश दिया है । प्रयोजन यह है कि संसारी जीव अपने ही भावोंसे बांधे हुए कर्मोंके कारण ही चारो गतिमें भ्रमण करते हैं इस लिये संसारके भ्रमणसे बचनेके लिये कर्मबंधके कारण राग, द्वेष, मोहादि भावोंको दूर करना चाहिये ॥ २६ ॥

उत्थानिका—आगे शिष्यने प्रश्न किया कि नरनारकादि पर्यायोंमें किस तरह जीवके स्वभावका तिरस्कार हुआ है । क्या जीवका अभाव होगया है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णाम कम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥ २७ ॥

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवः खलु नामकर्मनिर्वृत्ताः ।
न हि ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि ॥ २७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव पर्यायमें तिष्ठनेवाले (जीवा) जीव (खलु) प्रगटपने (णाम कम्मणिव्वत्ता) नाम कर्म द्वारा उन गतियोंमें रचे

गए हैं । इस कारण (ते) वे जीव (सकम्माणि परिणममाणा) अपने२ कर्मोंके उदयमें परिणमन करते हुए (लद्धसहावा ण हि) अपने स्वभावको निश्चयसे नहीं प्राप्त होते हैं ।

विशेषार्थ—नर, नारक, तिर्यञ्च, देव ये चारों गतिके जीव अपने अपने नर नारकादि गति शरीर आदि रूप नाम कर्मके उदयसे उन पर्यायोमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे अपने२ उदय प्राप्त कर्मोंके अनुसार सुख तथा दुःखको भोगते हुए अपने चिदानंदमई एक शुद्ध आत्म स्वभावको नही पाते हुए रहते है। जैसे माणिकका रत्न सुवर्णके कङ्कणमे जड़ा हुआ अपने माणिक्यपनेके स्वभावको पूर्णपने नहीं प्रगट करता हुआ रहता है उस समय मुख्यता कंकण-की है, माणिक्य रत्नकी नहीं है, उसी तरह इन नर नारकादि पर्या-योमें जीवके स्वभावकी मात्र अप्रगटता है । जीवका अभाव नहीं होजाता है । अथवा यह भाव लेना चाहिये कि जैसे जलका प्रवाह वृक्षोंके सीचनेमे परिणमन करता हुआ चदन व नीम आदि वनके वृक्षोंमे जाकर उन रूप मीठा, कड़ुवा, सुगंधित, दुर्गंधित होता हुआ अपने—जलके कोमल, शीतल, निर्मल स्वभावको नहीं रखता है, इसी तरह यह जीव भी वृक्षोके स्थानमे कर्मोंके उदयके अनुसार परिणमन करता हुआ-परमानन्दरूप एक लक्षणमई सुखामृतका स्वाद तथा निर्मलता आदि अपने निज गुणोंको नही प्राप्त करता है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि कर्मोंके उदयके कारणसे जीवका अभाव नहीं होता न उसके भीतर पाए जानेवाले गुणोंका अभाव होता है । कर्मोंके उदयके असरसे वे गुण प्रगट नही होते । ये संसारी जीव नामकर्मके उदयसे ही एक

शरीरमें आकर अपने साथ बंधे हुए आठ प्रकारके कर्मोके उदयके अनुसार कर्मोका फल सुख दुःख भोगते हैं। उस दशामे जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी है उनको अपने स्वभावका श्रद्धान तक नही होता है, परन्तु जो योग्य कारणोंको पाकर सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हो जाते है उनको अपने स्वभावका लाभ हो जाता है। वे श्रद्धावान व ज्ञानवान होकर अपने आत्मानन्दका अनुभव भी करते हैं तथा चारित्रको बढ़ाते हुए वे चार घातिया कर्मोको नाशकर केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा हो जाते हैं—वहां उनको साक्षात् आत्माका लाभ हो जाता है, क्योंकि इस अनन्तानन्त संसारी जीवराशिमे सम्यग्दृष्टी बहुत थोडे होते हैं इससे बहुतकी अपेक्षा लेकर आचार्यने कहा है कि चार गतिके जीव कर्मोके उदयमें तन्मय होते हुए तथा कभी अपनेको सुखी व कभी दुःखी मानते हुए आकुलित रहते हैं—तब वे अपने आत्माके शुद्ध स्वभावको न पाते हुए संसार भ्रमणके कारण—बीज रूप रागद्वेष मोह भावोंका अन्त नही कर पाते हैं। ऐसी दशामे यद्यपि अनादिकालसे जीव मिथ्यादृष्टी व अज्ञानी हैं तथापि जीवके स्वाभाविक गुणोका अभाव जीवकी सत्तासे नहीं होजाता है। सर्व ही ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुण आत्मामे ही रहते हैं परंतु उनके ऊपर ज्ञानावरणीय आदि घातिया कर्मोंका परदा ऐसा पड़ जाता है कि जिसके कारण इन गुणोका औपाधिक या हीन शक्तिरूप प्रगटपना रहता है। कर्मोंमे यह शक्ति नही है कि जीवके गुणोंका सर्वथा नाश करके उसको गुण रहित अवस्तु करदें। जैसे एक अच्छा भला आदमी भंगको पीकर कुछ कालके लिये मदोन्मत्त होजाता है परतु जब भंगका नशा उतर जाता है तब

फिर जैसाका तैसा समझदार होकर अपना काम करने लगता है। वैसेही अनादिकालसे मोहके नशेमें चूर यह आत्मा अपने विभावमें वर्तन कर रहा है, मोहका नशा उतरते ही अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है। वृत्तिकारने दो दृष्टान्त दिये हैं एक तो माणिकरत्नका-यह रत्न किसी अंगूठीमें जडा हुआ अपने कुछ भागको मात्र छिपा देता है। जब उसको अंगूठीसे अलग करो तब फिर वह सर्वांग स्वभावमें झलकता है, इसी तरह कर्म बन्धनमे पडा हुआ यह आत्मा अपने स्वभावको छिपाए रहता है। बन्धके हटते ही स्वभाव जैसेका तैसा प्रगट होजाता है। दूसरा पानीका, कि पानी स्वभावसे शीतल मीठा व निर्मल होता है परन्तु नीममें जाकर अपने स्वभावको छिपाकर कडुवा, नीबूमे जाकर खट्टा, आवलेमे जाकर कषायला, ईषमे जाकर बहुत मीठा इत्यादि रूप हो जाता है। कोई प्रयोग करे तो वही पानी फिर अपने स्वभावमें आसक्ता है। इसी तरह यह ससारी जीव जो स्वभावसे सिद्ध भगवानके समान है कर्मोंके मध्यमें पडा हुआ अज्ञानी व रागी द्वेषी हो रहा है। कर्मोंके संयोगके दूर होते ही फिर स्वभावमें शुद्ध होजाता है। इससे यही सिद्ध किया गया कि कर्म हमारे स्वभावको तिरस्कार कर देते हैं परन्तु अभाव नहीं कर सक्के हैं। श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें कहते हैं—कि यह प्राणी अपनी भूलसे ही संसारमे भ्रमण कर रहा है।

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽ योऽहमस्ति न ॥ २४३ ॥

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात्।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणाः ॥ २५४ ॥

अनादिचयसंबद्धो महामोहो हृदि स्थितः ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्द्ध्वं विशुद्ध्यति ॥ २५५ ॥

भावार्थ—यह भ्रममें पड़ा हुआ प्राणी अपनेको दूसरा—दूसरेको अपना मानकर संसारसमुद्रमें गोते खा रहा है। मैं वास्तवमें अन्य नहीं हूं, मै मैं ही हूं, अन्य अन्य ही है, अन्य मेरे रूप नहीं है यही बुद्धि अपना उद्धार करनेवाली है। मैं इस शरीरके संयोगसे उसी तरह संतापित रहा हूं जिस तरह अग्निके संयोगसे जल तप्त होजाता है। मोक्षके इच्छुकोंने इस देहके ममत्वको त्यागा है तब वे शांत हुए है। हृदयमें अनादिकालका संवद्ध किये हुए महामोहरूपी पिशाच चला आया है। जिन्होंने सम्यक् प्रकार ध्यानके वलसे उसे अन्त कर दिया है उनको पूर्ण शुद्धता प्राप्त हो जाती है।

स्वामी समतभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें श्री अनंतनाथकी स्तुति करते हुए कहते है—

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिर हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोर्भूभगवाननन्तजित् ॥६६॥

भावार्थ—अनादिकालसे अनंत दोषोंके स्थान रूप शरीरको रखनेवाला जो मोह रूपी पिशाच हृदयमें वास कररहा था उसीको आपने तत्वकी रुचिमें प्रसन्नता लाभ करके जीत लिया इसीलिये हे भगवान ! आप अनंतजित हैं।

तात्पर्य यह है कि कर्मोंसे हमारा स्वभाव ढक रहा है उसीकी प्रगटता मोहके त्यागसे होने लगती है जिसका उपाय हमको करना चाहिये ॥ २७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि द्रव्यकी अपेक्षा जीव नित्य है तथापि पर्यायकी अपेक्षा विनाशीक या अनित्त्य है—

जायदि णेव ण णस्सदि, खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ, संभवविलयत्ति ते णाणा ॥२८॥

जायते नैव न नश्यति खणभगसमुद्भवे जने कश्चित् ।
यो हि भवः सो विलयः सभवविलयाविति तौ नाना ॥२८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ--(खणभगसमुब्भवे जणे) क्षण क्षणमें नाश होनेवाले लोकमे (कोई णेव जायदि ण णस्सदि) कोई जीव न तो उत्पन्न होता है और न नाश होता है। कारण (जो हि भवो सो विलओ) जो निश्चयसे उत्पत्ति रूप है वही नाश रूप है। (ते संभव विलयत्ति णाणा) वे उत्पाद और नाश अवश्य भिन्न २ हैं।

विशेषार्थ--क्षण क्षणमें जहां पर्यायार्थिक नयसे अवस्थाका नाश होता है ऐसे इस लोकमें कोई भी जीव द्रव्यार्थिक नयसे न नया पैदा होता है न पुराना नाश होता है। इसका कारण यह है कि द्रव्यकी अपेक्षा जो निश्चयसे उपजा है वही नाश हुआ है। जैसे मुक्त आत्माओंका जो ही सर्व प्रकार निर्मल केवल ज्ञानादिरूप मोक्षकी अवस्थासे उत्पन्न होना है सो ही निश्चय रत्नत्रयमई निश्चय मोक्ष मार्गकी पर्यायकी अपेक्षा विनाश होना है। वे मोक्ष पर्याय और मोक्ष मार्ग पर्याय यद्यपि कार्य और कारण रूपसे परस्पर भिन्न २ हैं तथापि इन पर्यायोंका आधार रूप जो परमात्मा द्रव्य है सो वही है अन्य नहीं है। अथवा जैसे मिट्टीके पिडके नाश होते हुए और घटके बनते हुए इन दोनोंकी आधारभूत मिट्टी वही है। अथवा मनुष्य पर्यायको नष्ट होकर देव पर्यायको पाते हुए इन दोनोका आधार रूप संसारी जीव द्रव्य वही है।

पर्यायार्थिक नयसे विचार करें तो वे उत्पाद और व्यय परस्पर भिन्न २ हैं। जैसे पहली कही हुई बातमें जो कोई मोक्ष अवस्थाका उत्पाद है तथा मोक्षमार्गकी पर्यायका नाश है ये दोनो ही एक नहीं है किन्तु भिन्न२ हैं। यद्यपि इन दोनोंका आधाररूप परमात्म द्रव्य भिन्न नहीं है अर्थात् वही एक है–इससे यह जाना जाता है कि द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यमें नित्यपना होते हुए भी पर्यायकी अपेक्षा नाश है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने जगतमें द्रव्योका स्वभाव स्पष्ट किया है हरएक द्रव्य सत् है और नित्य है। न कभी पैदा होता है न नाश होता है। इसलिये जब द्रव्यको द्रव्यार्थिक नयसे देखा जावे तब यह द्रव्य सदाकाल अपनी सत्ताको प्रगट करेगा और यदि उस द्रव्यको पर्यायकी अपेक्षासे देखा जावे तो वह द्रव्य अपनी अनंत अगली व पिछली पर्यायोमें भिन्न २ दिखलाई देगा क्योंकि द्रव्य नित्य होने पर भी समय समय एक अवस्थासे अन्य अवस्था रूप होता है।

ये पर्यायें हरएक समयमे ही नष्ट होती हैं। जब दूसरी पर्याय पैदा होती है तब पहली पर्याय नष्ट होती है। पर्यायदृष्टिसे द्रव्य अनित्य है। यह सर्व लोक द्रव्योंका समुदाय है। जब द्रव्योंकी पर्यायें अनित्य या विनाशीक है तब यह लोक भी अनित्य, विनाशीक, या क्षणभंगुर है।

इसी लोकमें हरएक जीव भी द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है परन्तु पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। एक ही जीव अनादिकालसे निगोद, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वेन्द्रिय,

तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेंद्रियरूप तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारकीकी पर्यायोंमें अनन्तवार उत्पन्न होकर मरा है वही जीव इस समय इस मेरी मनुष्यपर्यायमें है। यहां भी यह वाल अवस्थासे वदलता युवा वस्थामें आता है फिर युवावस्थासे वृद्धावस्थामें समय समय वद-लता जारहा है। इसकी हरएक पर्याय क्षणभगुर है जब कि जीव नित्य है। मोक्षपर्याय या सिद्धपर्याय जब पैदा होती है तब ही ससार पर्याय जो चौदहवें अयोग केवली गुणस्थानके अत समयमें जहा शेष तेरह प्रकृतियें नाश होती हैं-समाप्त होती है। अर्थात मोक्षमार्ग बदलकर मोक्षरूप पर्याय हो जाती है। पुद्गलमें यदि सुवर्ण धातुको द्रव्य माना जावे तो उस सुवर्णके पहले कड़े बनाओ, फिर तोडकर भुजवध बनाओ फिर मुद्रिका बनाओ इत्यादि चाहे जितनी अवस्थाओमें बदलो वह सुवर्णका सुवर्ण ही रहेगा। सुवर्णकी अपे-क्षासे नित्य है यद्यपि अपनी अवस्थाको बदलनेकी अपेक्षा अनित्य है। द्रव्यकी अपेक्षा हरएक द्रव्यकी पर्यायमें एकता है जब कि पर्यायकी अपेक्षा अनेकता या भिन्नता है। ऐसा ही जगतका स्व-भाव है। यह पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। जो कुछ रचना नगर मकान, कपडे, वर्तन आदिकी व चेतन पुरुष, स्त्री, घोड़ा, हाथी, ऊट, बंदर, आदिकी देख रहे हैं सो सब क्षणभंगुर है-इन अव-स्थाओंको नित्य मानना अज्ञान है व इनके मोहमें फस जाना मूढ़ता या मिथ्यात्व है। मोही प्राणी इन ही अवस्थाओंमें राग करके इनका बना रहना चाहता है परन्तु वे एकसी रह नहीं सक्ती हैं-अवश्य बदल जाती है तब इस मोहीको महा कष्ट होता है। एक गृहस्थ अपनी पत्नीके शरीरकी सुन्दरतासे अधिक मोह कर रहा

है । कालांतरमें रोगके कारण सुन्दरता विगड़ जाती या शरीर छूट जाता है तब उसको महान कष्ट होता है । संसारमें दुःखोंका कारण पर्यायोमें राग द्वेष मोह है । जो ज्ञानी जगतकी क्षणभंगुरताका निश्चय करके द्रव्यको नित्य मानते हुए उसकी पर्यायोंको विनाशीक मानते हैं वे दिखनेवाली अवस्थाओंमे रागद्वेष नही करके समता-भाव रखते हैं इसलिये वे ज्ञानी सदा शांत और संतोषी रहते हैं । यह जगत उत्पाद द्रव्य ध्रौव्य स्वरूप है यही सत्य ज्ञान है । स्वामी समंतभद्र श्री मुनिसुव्रतनाथकी स्तुति करते हुए कहते हैं–

स्थितिजननिरोधलक्षणं, चरमचर च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलाछनं, वचनमिद वदतां वरस्य ते ॥११४॥

हे मुनिसुव्रतनाथ जिनेन्द्र ! आप तत्त्वके उपदेशकर्ताओंमें बड़े हैं । आपका जो यह वचन है कि यह चेतन अचेतनरूप जगत् प्रतिक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप है सोही इस बातका लक्षण है कि आप सर्वज्ञ हैं–सर्वज्ञने ऐसा ही देखा सो ही कहा, वैसा ही हम इस जगतको अनुभव कर रहे हैं ॥ २८ ॥

तात्पर्य यह है कि पर्यायबुद्धि छोड़कर मूल द्रव्यपर ध्यान रख पर्यायोमें रागद्वेष त्याग तत्वके विचारमें संलग्न रहना चाहिये।

उत्थानिका–आगे इस विनाश स्वरूप जगतके लिये कारण क्या है उसको संक्षेपमें कहते हैं अथवा पहले स्थलमें अधिकार सूत्रसे जो यह सूचित किया था कि मनुष्यादि पर्यायें कर्मोंके उदयसे हुई हैं इससे विनाशीक हैं इसी ही बातको तीन गाथाओंसे विशेष करके व्याख्यान किया गया अब उसीको संकोचते हुए कहते हैं–

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥ २९ ॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति संसारे।
संसारः पुनः क्रिया संसरतो द्रव्यस्य ॥ २९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्हा दु) इसी कारणसे (संसारे) इस संसारमें (कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभावसे थिर नहीं है। (पुण) तथा (संसरमाणस्स दव्वस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्यकी (क्रिया) क्रिया (संसारो) संसार है।

विशेषार्थ–जैसा पहले कह चुके हैं कि मनुष्यादि पर्यायें नाशवन्त हैं इसी कारणसे ही यह बात जानी जाती है कि जैसे परमानन्दमई एक लक्षणधारी परम चैतन्यके चमत्कारमे परिणमन करता हुआ शुद्धात्माका स्वभाव थिर है, वैसा नित्य कोई भी जीव पदार्थ इस संसार रहित शुद्धात्मासे विपरीत ससारमे नित्य नहीं है। तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी मुक्तात्मासे विलक्षण संसारमें भ्रमण करते हुए इस संसारी जीवकी जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्माकी परिणतिसे विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभाव पर्यायमें परिणमन रूप क्रिया है सो ही संसारका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप संसार ही जगतके नाशमें कारण है।

भावार्थ–पहले कह चुके है कि इस जगतमें द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ नित्य है परतु पर्यायोकी अपेक्षा अनित्य हैं। इसी वातसे यह फल निकाला जाता है कि इस चतुर्गतिमें भ्रमण रूप संसारमें कोई भी जीव अपने स्वभावमे स्थिर नही है। वास्तवमे संसार

ही उसीको कहते हैं जहां यह जीव द्रव्य मनुष्यादि पर्यायोंको धारण करकर उन पर्यायोके अनुकूल कार्य करता रहे। संसार ही विभाव क्रिया रूप है। यह जीव अनादिसे रागद्वेष मोहरूप परिणमन करता है इसी परिणमनसे गति आदि शुभ अशुभ कर्म बांधता है और उस कर्मके अनुसार चार गतिमेंसे किसी गतिमें कुछ कालके लिये जाता है। वहां फिर रागद्वेष मोहके द्वारा गति आदि कर्म बांधता है उस कर्मके अनुसार फिर किसी गतिमें चला जाता है, वहां फिर कर्म बांधता है, इस तरह संसारका प्रवाह बराबर चल रहा है। यह संसार रागद्वेष मई क्रियारूप है। जहां रागद्वेष रूप क्रियाका बिलकुल अभाव है वहां ससारका भी अभाव है। मुक्तात्मामें रागद्वेष रूप क्रिया नही होती है। इसीसे सिद्ध भगवान सदाकाल अपने वीतराग परमानंदमई स्वभावमें स्थिर रहते हैं। वे कर्मबंध रहित है इसीसे क्रिया रहित हैं। संसारी जीव कर्मबंध सहित हैं, इसीसे क्रिया रूप हैं। इससे यह तात्पर्य है कि रागद्वेष मोहरूप क्रिया ही संसारके भ्रमणका हेतु है। वास्तवमे इसी रागद्वेष मोहके परिणमनको ही संसार कहते है। इसलिये निज अविनाशी ज्ञानानंदमई स्वभावके लाभके लिये हमको राग द्वेषके परिणमनको त्यागकर वीतरागमई समताभावमें ही वर्तन करना चाहिये। यही वर्तन संसारके नाशका उपाय है। स्वामी समंतभद्र स्वयंभूस्तोत्रमे संसारका स्वरूप कहते हैं:—

अनित्यमत्राणमहं क्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसाय दोषम् ।
इद जगज्जन्मजरान्तकार्त निरजना शांतिमजीगमस्त्वम् ॥१२॥

हे श्री संभवनाथ ! यह प्रतीतिमें आनेवाला संसार अनित्य

है तथा अशरण है और इस अहंकारके कारण कि मैं पर पदार्थका कर्त्ता हूं मिथ्या अभिप्रायके दोपसे भरा हुआ है अर्थात् संसारी जीव अनित्य और अशरण होकरके भी रातदिन धनादिके उपार्जन, रक्षण आदि अहंकार रूप मिथ्या भावमें अत्यन्त लगे हुए हैं इसीसे यह जगत् अर्थात् जगतके प्राणी जन्म, जरा मरणसे पीडित हैं परन्तु आपने कर्मोंके बन्धनसे रहित परम शांतिरूप कल्याणके स्थान स्वाधीन पदको जगतके प्राणियोंको प्राप्त कराया है अर्थात् आपका उपदेश ध्यानमे लेकर अनेक ससारी प्राणी भवसागरके पार पहुंच-कर परम सुखी होगए हैं।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें संसारका स्वरूप बताते हैं।

तादात्म्य तनुभिः सदानुभवन पाकस्य दुःकर्मणो।
व्यापारः समय प्रति प्रकृतिभिर्गाढ स्वयं बंधनम्॥
निद्राविश्रमण मृते प्रतिभय शश्वन्मृतिश्च ध्रुव।
जन्मिन् जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्र महत्॥५८॥

हे ससारी प्राणी! यह ससार ऐसा है कि जहां तू शरीरसे एकमेक होरहा है, पाप कर्मोंके फलको भोगता है। समय २ स्वयं कर्मोंकी प्रकृतियोसे अच्छी तरहसे बन्धनमें पड़ना यही तेरा व्यापार है। निद्रासे विश्राति लेता है। मरणसे सदा भय करता है तौभी जहां सदा जन्म मरण होता रहता है तथापि तू ऐसे संसारमें रमता है यही बड़ा आश्चर्य है।

प्रयोजन यह है कि संसारको कष्टोंका मूल जानकर इससे उदासीन होना योग्य है॥ २९॥

इस तरह शुद्धात्मासे भिन्न कर्मोंसे उत्पन्न मनुष्यादि पर्याय

नाशवंत हैं इस कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि संसारका कारण ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म है और इस द्रव्य कर्मके बंधका कारण मिथ्या-दर्शन व राग आदि रूप परिणाम है-

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्त ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥३०॥

आत्मा कर्ममलीमसः परिणामं लभते कर्मसयुक्तम् ।
ततः श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणामः ॥३०॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(आदा कम्ममलिमसो) आत्मा द्रव्य कर्मोसे अनादि कालसे मैला है इसलिये (कम्मसंजुत्तं परि-णामं) मिथ्यात्व आदि भाव कर्म रूप परिणामको (लहदि) प्राप्त होता है । (तत्तो) उस मिथ्यात्व आदि परिणामसे (कम्मं सिलि-सदि) पुद्गल कर्म जीवके साथ बध जाता है (तम्हा) इसलिये (परिणामो) मिथ्यात्व व रागादि रूप परिणाम (कम्मं तु) ही भाव कर्म है अर्थात् द्रव्य कर्मके बन्धका कारण है ।

विशेषार्थ-निश्चय नयसे यह दोष रहित परमात्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला होनेपर भी व्यवहार नयसे अनादि कर्म बन्धके कारण कर्मोंसे मैला होरहा है। इसलिये कर्म रहित परमात्मासे विरुद्ध कर्म सहित मिथ्यात्व व रागादि परिणामको प्राप्त होता है-इस परि-णामसे द्रव्य कर्मोको बांधता है । और जब निर्मल भेद विज्ञानकी ज्योतिरूप परिणाममें परिणमता है तब कर्मोंसे छूट जाता है, क्योंकि रागद्वेप आदि परिणामसे कर्म बंधता है। इसलिये राग आदि विकलपरूप

जो भाव कर्म या सराग परिणाम सो ही द्रव्य कर्मोंका कारण होनेसे उपचारसे कर्म कहलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि राग आदि परिणाम ही कर्म बंधका कारण है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने संसारके बीजको बताया है। यह आत्मा इस अनादि अनंत जगतमें यद्यपि अपने स्वभावकी अपेक्षा निश्चय नयसे सिद्ध परमात्माके समान शुद्ध बुद्ध आनन्द-मई तथा कर्मबंधसे रहित है तथापि अपने विभावकी अपेक्षा व्यव-हार नयसे अनादि कालसे ही प्रवाहरूप कर्मोंसे मैला चला आरहा है। कभी शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ ऐसा कभी नहीं होसक्ता है। शुद्ध सुवर्ण अशुद्ध नहीं होसक्ता वैसे ही मुक्तात्मा या परमात्मा कभी अशुद्ध अथवा संसारी नहीं होसक्ता। इस ससारी आत्माके ज्ञानावरण आदि आठ कर्मका वन्ध होरहा है। और इन्हीं कर्मोके उदय या फलसे यह ससारी जीव देव, मनुष्य, पशु या नरक इन चार गतियोमेंसे किसी न किसी गतिमें अवश्य रहता है। वहां जैसे वाहरी निमित्त होते है उनके अनुकूल यह मोही जीव रागद्वेष मोह भाव करता है। यह रागद्वेप मोह भाव भी मोह कर्मके असरसे होता है। यह अशुद्ध भाव उसी समय द्रव्य कर्म वर्गणाओंको आश्रव रूप करके आत्माके प्रदेशोंसे उनका एक क्षेत्रावगाह रूप वन्ध करा देता है। यह निमित्त नैमित्तिक संवध है। जैसे अग्निकी उष्णताका निमित्त पाकर जल स्वयं भापकी दशामें बदल जाता है ऐसे ही जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाएं स्वयं आकर कभी आठ कर्म रूपसे व कभी सात कर्म रूपसे वंध जाती हैं।

इस तरह पूर्वबद्ध कर्मके असरसे रागादि परिणाम होते हैं और रागादि भावसे नया कर्म बन्धता है। इस तरह रागी द्वेषी मोही जीवके सदा ही कर्म बंध हुआ करता है और उस बंधके कारण यह जीव चारों गतियोमें सदा भ्रमण किया करता है। यदि यह सम्यग्दर्शनके प्रतापसे विवेक प्राप्त करे और अपने शुद्ध आत्माके स्वभावका श्रद्धान और ज्ञान करके उसीके अनुभवका प्रेमी होजावे तथा संसार शरीर भोगसे उदासीन रहे तो इसके पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है। ज्यो ज्यो शुद्ध भाव बढते हैं निर्जरा अधिक होती है, नया कर्मबध कम होता है। इसतरह बंध कम व निर्जरा अधिक होते होते यह आत्मा स्वय अरहंत और फिर सर्व कर्मरहित सिद्ध परमात्मा होजाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब वीतरागभाव मुक्तिका बीज है तब सरागभाव ससारका बीज है। सरागभावको ही कर्मोके बंधका कारण होनेसे भावकर्म कहते हैं।

श्री अमृतचंद्रस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है:—

परिणममाणो नित्य ज्ञानविवर्त्तैरनादिसतत्या ।
परिणामाना स्वेष स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥
जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

भावार्थ—अनादि परिपाटीसे नित्य ज्ञानावरणादि कर्मोसे परिणमता हुआ अर्थात उनके उदयको भोगता हुआ यह जीव अपने ही रागादि परिणामोका आप ही कर्त्ता और भोक्ता होता है तब इस जीवके किये हुए रागादि परिणामका निमित्त पाकर फिर दूसरे इस लोकमे भरे हुए कर्म पुद्गल आप ही कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं-

रागद्वेषमयो जीवः कामक्रोधवशे यतः ।
लोभमोहमदाविष्टः संसारे संसरत्यसौ ॥ २४ ॥

भावार्थः-क्योंकि यह जीव रागद्वेष मई होरहा है, काम तथा क्रोधके आधीन है, लोभ, मोह व मदसे घिरा हुआ है इसीसे संसारमें भ्रमण करता है ।

अनादिकालजीवेन प्राप्तं दुःखं पुनः पुनः ।
मिथ्यामोहपरीतेन कषायवशवर्तिना ॥ ४८ ॥

भावार्थ-इस मिथ्या मोह और कषायोके आधीन होकर इस जीवने अनादिकालसे बार बार दुःख उठाये हैं ।

वास्तवमें भाव कर्म ही संसारके बीज हैं ॥३०॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि निश्चयसे यह आत्मा अपने ही परिणामका कर्ता है, द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है । अथवा दूसरी उत्थानिका यह है कि शुद्ध पारिणामिक परम भावको ग्रहण करनेवाली शुद्धनयसे जैसे यह जीव अकर्त्ता है वैसे ही अशुद्ध निश्चय नयसे भी सांख्य मतके कहे अनुसार जीव अकर्ता है। इस बातके निषेधके लिये तथा आत्माके बन्ध व मोक्ष सिद्ध करनेके लिये किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते है। इस तरह दो उत्थानिका मनमें रखके आगेका सूत्र आचार्य कहते हैं-

परिणामो सयमादा सा पुण किरियत्ति होइ जीवमया ।
किरिया कम्मत्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥३१॥

परिणामः स्वयमात्मा सा पुनः क्रियेति भवति जीवमयी ।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्त्ता ॥ ३१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(परिणामो सयम् आदा) जो परिणाम या भाव है सो स्वयं आत्मा है (पुण सा जीवमया किरियत्ति होइ) तथा वही परिणाम जीवसे की हुई एक क्रिया है (किरिया कम्मत्ति मदा) तथा जो क्रिया है उसीको जीवका कर्म ऐसा माना है (तम्हा कम्मस ण दु कत्ता) इसलिये यह आत्मा द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है ।

विशेषार्थ-आत्माका जो परिणाम होता है वह आत्मा ही है क्योकि परिणाम और परिणाम करनेवाला दोनो तन्मयी होते हैं । इस परिणामको ही क्रिया कहते हैं क्योकि यह परिणाम जीवसे उत्पन्न हुआ है । जो क्रिया जीवने स्वाधीनतासे शुद्ध या अशुद्ध उपादान कारण रूपसे प्राप्त की है वह क्रिया जीवका कर्म है यह सम्मत है । यहां कर्म शब्दसे जीवसे अभिन्न चैतन्य कर्मको लेना चाहिये । इसीको भाव कर्म या निश्चय कर्म भी कहते हैं । इस कारण यह आत्मा द्रव्य कर्मोका कर्ता नही है । यहां यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि जीव कथंचित् परिणामी है इससे जीवके कर्तापना है तथापि निश्चयसे यह जीव अपने परिणामोंका ही कर्ता है, व्यवहार मात्रसे ही पुद्गल कर्मोका कर्त्ता कहलाता है । इनमेंसे भी जब यह जीव शुद्ध उपादान रूपसे शुद्धोपयोग रूपसे परिणमन करता है तब मोक्षको साधता है और जब अशुद्ध उपादान रूपसे परिणमता है तब बन्धको साधता है । इसी तरह पुद्गल भी जीवके समान निश्चयसे अपने परिणामोंका ही कर्ता है। व्यवहारसे जीवके परिणामोंका कर्त्ता है, ऐसा जानना ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बतलाया है कि-आत्मा

अपने परमाणोंका ही करनेवाला होसक्ता है-वह कभी भी ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है क्योंकि आत्मा चैतन्यमई है जब कि द्रव्य कर्म पुद्गलके रचे हुए हैं। हरएक द्रव्य अपने स्वभावमें ही क्रिया या परिणमन कर सक्ता है और जो परिणमन होता है उसीको उस परिणमन रूप क्रियाका कर्म कहते हैं। जैसे जीवके रागादि भावोका निमित्त पाकर पुद्गलमई कार्माण वर्गणा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप स्वयं अपनी परिणमन शक्तिसे परिणमन कर जाती हैं वैसे ही मोहनीय कर्मके उदयके असरके निमित्तसे जीवका उपयोग राग द्वेष मोह रूप परिणमन कर जाता है। इसलिये अशुद्ध उपादान या अशुद्ध निश्चय नयसे इन रागादि भावोंको जीवके परिणाम कहते है-ये ही भाव जीवकी अशुद्ध परिणमन क्रियासे उत्पन्न हुए भाव कर्म हैं। यदि शुद्ध उपादान या शुद्ध निश्चय नयसे विचार करें तो यह आत्मा कर्मके उदयके निमित्तकी अपेक्षा विना अपने शुद्ध उपयोगका ही करनेवाला है। वास्तवमें आत्मामें दो प्रकारके भावोके होनेकी शक्ति है-एक अपने स्वाभाविक भाव, दूसरे नैमित्तिक या वैभाविक भावकी। जब ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयका निमित्त होता है तब वैभाविक भाव रूप कर्म होता है और जब कर्मोंका निमित्त नहीं होता तब स्वाभाविक ज्ञानानंद मई भावरूप कर्म होता है। यदि साख्यमतके अनुसार ऐसा माना जावे कि आत्मा सदा ही शुद्ध रहता है-उसमे नैमित्तिक भाव नहीं होता है तो आत्माके लिये संसारको दूरकर मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न निष्फल हो जायगा। कूटस्थ नित्य पदार्थमें किसी तरहका परिणमन नहीं होसक्ता है। सो यह बात द्रव्यके स्वभावके विरुद्ध है,

द्रव्य अपने नामसे ही द्रवणपने या परिणमनपनेको सिद्ध करता है। जैसे स्फटिक मणिको लाल पीले डांकका निमित्त मिलता है तब वह स्वयं लाल पीली वर्णरूप कांतिमे परिणमन कर जाती है और जब कोई पर निमित्त नहीं होता है तब अपनी निर्मल कांतिमें ही परिणमन करती है। इसी तरह आत्मा मोह आदि कर्मोके निमित्तसे भाव कर्म रूप परिणमता है। यदि निमित्त न हो तो अपने शुद्ध भावमें ही परिणमन करता है। आत्माके ही अशुद्ध रागादि भावोका निमित्त पाकर द्रव्य कर्मका बंध होता है जिससे यह जीव चारो गतियोमें जन्म लेकर कष्ट उठाता है। संसारके बीज रागादिभाव कर्म्म है। इन बीजोको दग्ध कर देनेसे ही जीव संसारके भ्रमणसे मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस आत्माको अपने रागादि भावोके परिणमनको वीतराग परिणमनमे वदल देना चाहिये। यही साम्यभावकी प्राप्तिका या निज स्वरूपाचरण चारित्रकी प्राप्तिका उपाय है।

श्री अमितिगति महाराजने बड़े सामायिक पाठमे कहा है:—

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः
शुद्धध्यानविवृद्धकारिमनसः स्थैर्य यतः क्षिप्यते ॥
काठिन्य परितापदानचतुरैर्हेमो हुताशैरिव।
त्याज्या ध्यानविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः ॥५३॥

भावार्थ-जैसे आताप देनेमें प्रवीण अग्निके द्वारा सुवर्णकी कठिनता नहीं रहती है—वह मुलायम व चलायमान हो जाता है, ऐसे ही काम, क्रोध, विषाद, मत्सर, मद, द्वेष व प्रमादादि कार-
ी थिरता नष्ट हो जाती है।

इस लिये ध्यान करनेवालोको उचित है कि वे इन कामादि भाव कर्मोंको दूरसे ही त्याग देवें। और भी कहा है-

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं ।
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहमग्रणी ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पना।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः ॥ ६२ ॥

भावार्थ-हे आत्मन् ! तू सर्वथा पापकर्मको लानेवाली इस कल्पनाको छोड कि मै शूर हूं, सुबुद्धि हूं, चतुर हूं, महान् लक्ष्मी-वान हू, मान्य हू, गुणवान हूं, समर्थ हू, सब पुरुषोंमे मुख्य हूं और निरन्तर उस निर्मल आत्म-तत्वका ध्यानकर जिसके प्रतापसे मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

इस तरह रागादि भाव कर्मबंधके कारण हैं उन्हींका कर्त्ता जीव है, इस कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओमे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे कहते है कि जिस परिणामसे आत्मा परिणमन करता है वह परिणाम क्या है-

परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥३२॥

परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता ।
सा पुनः ज्ञाने कर्माणि फले वा कर्मणो भणिता ॥ ३२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(आदा) आत्मा (चेयणाए) चेतनाके स्वभाव रूपसे (परिणमदि) परिणमन करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी गई

है । (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञानके सम्बन्धमें (कम्मे) कर्म या कार्यके सम्बन्धमें (वा कम्मणो फलम्मि) तथा कर्मोंके फलमें (भणिदा) कही गई है ।

विशेषार्थ—हरएक आत्मा चेतनापनेसे परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्माका शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतनाको नहीं छोड़ता है । वह चेतना जब ज्ञानको विषय करती है अर्थात् ज्ञानकी परिणतिमें वर्तन करती है तब उसको ज्ञानचेतना कहते है। जब वह चेतना किसी कर्मके करनेमें उपयुक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मोंके फल की तरफ परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफलचेतना कहते हैं । इस तरह चेतना तीन प्रकारकी होती है ।

भावार्थ—आत्माका स्वभाव चेतना है। जो चेते वह चेतना। यहां चेतनासे मतलब तन्मय होकर जाननेका है । उपयोग आत्माकी चेतना गुणकी परिणतिको कहते हैं । आत्मा उपयोगवान है। इससे वह अपनी चेतनाकी परिणतिमें या उपयोगमे सदा वर्तन करता रहता है । उसी चेतनाके तीन भेद किये हैं । जब आत्मा ज्ञान मात्र भावमें परिणमन कर रहा है तब उसके ज्ञान चेतना है क्योंकि उसका उपयोग किसी भी पदार्थकी तरफ रागद्वेषके साथमें उपयुक्त नहीं है, वह उपयोग मात्र ज्ञान स्वभावमें वर्तन कररहा है । वह उपयोग जानता मात्र है परन्तु रागद्वेष सहित नही जानता है । उस चेतनाकी परिणतिमें न किसी रागद्वेष पूर्वक कार्य करनेकी ओर ध्यान है न सुख दुःखकी तरफ ध्यान है जो कर्मोंके फल हैं इसलिये ज्ञान चेतनाको शुद्ध चेतना भी कह सक्ते हैं । जो चेत-

नाकी परिणति किसी भी कार्यके करनेमें वर्तन कर रही है उसको कर्मचेतना और जो पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे प्रगट हुए सुख अथवा दुःखरूप फलोंके भोगनेमें वर्तन कर रही है उसको कर्मफलचेतना कहते हैं। इस तरह चेतनाके तीन भेद हैं- ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ॥३२॥

उत्थानिका—आगे तीन प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाके स्वरूपका विशेष विचार करते हैं—

णाणं अत्थवियप्पो कम्म जीवेण जं समारद्ध ।
तमणेगविधं भणिदं फलत्ति सोक्खं व दुक्ख वा ॥३३॥

ज्ञानमर्थविकल्प॰ कर्म जीवेन यत्समारब्धम् ॥
तदनेकविध भणित फलमिति सौख्य वा दुःखं वा ॥३३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अत्थवियप्पो) पदार्थोंके जाननेमें समर्थ जो विकल्प है (णाणं) वह ज्ञान या ज्ञानचेतना है। (जीवेण जं समारद्ध कम्मं) जीवके द्वारा जो प्रारम्भ किया हुआ कर्म है (तमणेकविधं भणिद) वह अनेक प्रकारका कहा गया है-इस कर्मका चेतना सो कर्मचेतना है (वा सोक्ख व दुक्खं फलत्ति) तथा सुख या दु.खरूप फलमें चेतना सो कर्मफल चेतना है।

विशेषार्थ—ज्ञानको अर्थका विकल्प कहते है—जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और परके आकारको झलकानेवाले दर्पणके समान स्वपर पदार्थोंको जाननेमें समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्तज्ञान सुखादिरूप मैं परमात्मा पदार्थ हूं तथा रागादि आश्रवको आदि लेकर सर्व ही पुद्गलादि द्रव्य मुझसे भिन्न हैं। इसी अर्थ विकल्पको ज्ञान चेतना कहते हैं। इस जीवने

अपनी बुद्धिपूर्वक मन वचन कायके व्यापार रूपसे जो कुछ करना प्रारम्भ किया हो उसको कर्म कहते हैं। यही कर्म चेतना है। सो कर्मचेतना शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगके भेदसे तीन प्रकारकी कही गई है। सुख तथा दुःखको कर्मका फल कहते है उसको अनुभव करना सो कर्मफल चेतना है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलताको पैदा करनेवाला नारक आदिका दुःख है। धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल चक्रवर्ती आदिके पंचेद्रियोके भोगोका भोगना है। यद्यपि इस सुखको अशुद्ध निश्चय नयसे सुख कहते हैं तथापि यह आकुलताको उत्पन्न करनेवाला होनेसे शुद्ध निश्चय नयसे दुःख ही है। और जो रागादि रहित शुद्धोपयोगमें परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलताको पैदा करनेवाला परमानदमई एक रूप सुखामृतका स्वाद है। इस तरह ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका स्वरूप जानना चाहिये।

भावार्थ यहां आचार्यने तीन प्रकार चेतनाका स्वरूप बताया है—जहा न सुख तथा दुःखके भोगनेमे विकल्प है, न किसी कार्यको मन वचन कायके द्वारा करनेमे विकल्प है किन्तु जहां मात्र अपने स्वरूपका—कि मै परमात्म स्वरूप हूं तथा परके स्वरूपका कि पर पदार्थ मुझसे भिन्न हैं—यथार्थ और पूर्ण ज्ञान है ऐसा जो ज्ञान उसे ही अर्थ विकल्प कहते हैं। इसी ज्ञानको चेतना—ज्ञान चेतना है। तथा जहां अपनी२ बुद्धिपूर्वक मन, वचन, कायके द्वारा जो कुछ काम किया जाय चाहे वह अशुभ कर्म हो या शुभ हो या शुद्ध हो उसको कर्म कहते हैं उस कर्मको चेतना कर्मचेतना है। जहां सुख

या दुःखका अनुभव किया जावे सो कर्मफल चेतना है। यहां कर्मके तीन भेद किये गए हैं–एक अशुभोपयोगरूप कर्म जिसका फल नारक, पशु, मनुष्यादि गतियोंमें दुःखोंका भोगना है, दूसरा शुभोपयोग रूप कर्म जिसका फल पशु, मनुष्य या देवगतिमे पंचेन्द्रियोंके भोगोंको यथासम्भव भोगकर इन्द्रियजनित सुखका भोगना है। तीसरा आत्माका अनुभव रूप शुद्धोपयोग कर्म है इसका फल परमानन्दमई आत्मीक अतींद्रिय सुखका भोगना है। इस तरह जैसे कर्मचेतना तीन प्रकार है वैसे कर्मफल चेतना भी तीन प्रकार है।

इस तरह यह बात समझमें आती है कि ज्ञान चेतना उन्हींको है जिनको शुद्धोपयोगका फलरूप परमात्मपद प्राप्त हो गया है। वहां मन, वचन, कायके व्यापार बुद्धिपूर्वक नहीं होते हैं। सिद्ध भगवानके तो मन वचन कायका सम्बन्ध ही नहीं है तथा अरहंत भगवानके यद्यपि मन वचन कायका सम्बन्ध है तथा सयोग अवस्थामे उनका परिणमन भी है तथापि वह बुद्धिपूर्वक नही है इसीसे अर्हंत और सिद्ध भगवानके कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना नहीं है किन्तु एक मात्र ज्ञान चेतना है। परमात्म प्रभु विना जाननेका विकल्प उठाए स्वभावसे ही स्वपरके ज्ञाता होकर परम वीतराग हैं। अपने शुद्ध ज्ञानमें ही मगन है। इस लिये वे ही ज्ञानचेतना स्वरूप हैं। शेष जो छद्मस्थ संसारी जीव हैं उनके दो चेतना पाई जाती हैं। ससारी जीव दो प्रकारके हैं एक स्थावर दूसरे त्रस। जो एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं उनके ज्ञान अति मद है यद्यपि अशुभ तीन लेश्याओंके कारण तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार सज्ञाओंके कारण उनके अशुभोपयोगरूप

कर्मचेतना है जिससे वे पापकर्मको बांधते हैं तथापि इस कर्मचेतनाकी उनमें मुख्यता नहीं है क्योकि वे बुद्धिमें अतिशय करके हीन हैं– उनके बुद्धि पूर्वक कार्य प्रगट देखनेमें नही आते हैं। परंतु कर्म-फल चेतना तो प्रधानतासे उनमे है ही क्योंकि वे दुःखोंका अनुभव कररहे हैं।

जो त्रस जीव हैं उनमे कर्मफलचेतना भी है और कर्मचेतना भी है। मिथ्यादृष्टी द्वेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पयत जीवोंमें शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग बुद्धिपूर्वक नही होता है किन्तु अशु-भोपयोग होता है इससे इनके अशुभोपयोग कर्म चेतना है परन्तु पूर्वबद्ध पुण्य पापकर्मके फलसे सुख तथा दु:ख दोनों भोगते हैं इससे संसारीक सुख तथा दु:ख भोगने रूप कर्म- फल-चेतना दो रूप है-इनको शुद्धोपयोगरूपसे पैदा होनेवाला आत्मि-कसुखकी चेतना नहीं है। जो सम्यग्दृष्टी जीव है वे शुभोपयोग, अशुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग तीनों रूप कार्येमें यथासम्भव बुद्धिपूर्वक वर्तन करते है इससे उनके तीनो प्रकारकी कर्मचेतना है तथा वे इंद्रियजनित सुख, दु ख तथा आत्मानंद तीनोको ही यथा-सम्भव भोगते हैं। यहां इतना और समझना चाहिये कि मिथ्या-दृष्टी पंचेन्द्रिय सैनीमे यद्यपि व्यवहारमें दान, पूजा, जप, तप आदि शुभ कार्य देखनेमे आते हैं परन्तु उसके भीतरसे इन्द्रियसु-खकी वासना नही मिटी है इससे सिद्धांतमे उसको अशुभोपयोग कहते है। शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग सम्यग्दृष्टीके ही होता है। गृहस्थ सम्यक्तीके यद्यपि श्रद्धानकी अपेक्षा उपयोग अशुभ नहीं है तथापि चारित्रकी अपेक्षा जब विषयकषायोमे प्रवर्तन करता है तब

अशुभ उपयोग होता है । जब पूजा, पाठ, जप, तप आदिमें प्रवर्तन करता है तब शुभोपयोग होता है और जब बुद्धिपूर्वक अपने उपयोगको रागद्वेषसे दूरकर आत्माके शुद्ध स्वभावके विचारमे लगाता है और इस शुभ क्रियाके कारण जब उपयोग आत्मस्थ होजाता है अर्थात् स्वानुभवमें एकता रूप होजाता है तब शुद्धोपयोग होता है। यद्यपि इस शुद्धोपयोगका प्रारम्भ सम्यक्तकी अवस्थासे होजाता है तथापि इसकी मुख्यता मुनि महाराजोंके होती है । सातवें अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय पर्यंत शुद्धोपयोग कर्म है, ध्यानमय अवस्था है । यदि कोई लगातार सातवें गुणस्थानसे बारहवें तक चला जाय तो अंतर्मुहूर्त काल ही लगेगा । क्योंकि सातवेंमे ध्याताने अपने उपयोगको बुद्धिपूर्वक आत्मामे उपयुक्त किया है इस लिये इस शुद्धोपयोगको कर्मचेतना कहते है। वास्तवमे यह शुद्धोपयोगका कारण है । साक्षात् कार्यरूप शुद्धोपयोग अरहत सिद्ध परमात्माको है । वे अपने ज्ञानमें मग्न है और आत्म स्वभावसे निष्कर्म है—उनके किसी प्रकारकी इच्छा नही पाई जाती है, इसलिये वहां ज्ञान चेतना ही है ।

इस कथनसे यही झलकता है कि ज्ञानचेतना अरहंत अवस्थासे प्रारम्भ होती है उसके पहले कर्मचेतना और कर्मफल चेतना दो ही है, क्योकि अप्रमत्त सातवेंसे बारहवें तकमे मैं सुखी या दुःखी ऐसी चेतना नहीं है इससे इंद्रियजनित सुख दु:खकी चेतना नहीं है, परन्तु जब शुद्धोपयोग कर्म है तब उसके फलसे आत्मीक सुखका भोग है । इस हेतुसे कर्मफलचेतना कह सक्ते हैं । यद्यपि केवलज्ञानी भी आत्मानंदका भोग कररहे है परन्तु उनके

-कर्मफलचेतना इसलिये नहीं है कि वहां शुद्धोपयोगरूप कर्मचेतना भी नहीं है।

इन तीन प्रकार चेतनाओंके स्वामी कौन कौन होते हैं इसका वर्णन महाराज कुंदकुंदाचार्यने श्री पंचास्तिकायमें इसतरह किया हैः-

सव्वे खलु कम्मफल थावरकाया तसा हि कज्जुदं ।
पाणित्तमदिक्कता णाण विंदति ते जीवा ॥ ३९ ॥

टीका अमृतचंद्र कृत इस भांति है-

चेतयंतेऽनुभवन्ति उपलभंते विंदंतीत्येकार्थाश्चेतनानुभूत्युपलब्धि-वेदनानामेकार्थत्वात् । तत्र स्थावराः कर्मफलं चेतयंते, त्रसाः कार्यं चेतयते, केवलज्ञानिनो ज्ञान चेतयंत इति ।

पं० हेमराजजीने इसकी भाषा इसतरह की हैः-

निश्चयसे पृथिवी काय आदि जे समस्त ही पांच प्रकार स्थावर जीव हैं ते कर्मोंका जो दुःख सुख फल तिसको प्रगटपने रागद्वेषकी विशेषता रहित अप्रगट रूप अपनी शक्तिके अनुसार वेदते हैं। क्योंकि इन्द्रिय जीवोंके केवल मात्र कर्मफलचेतना रूप ही मुख्य है। निश्चयसे द्वेन्द्रियादिक जीव है ते कर्मका जो फल सुख दुख रूप है तिसको राग द्वेष मोहकी विशेषता लिये उद्यमी हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमे कार्य करते सते भोगते हैं। इस कारण वे जीव कर्मफलचेतनाकी मुख्यता सहित जान लेना और जो जीव दश प्राणोंसे रहित हैं, अतीन्द्रिय ज्ञानी है वे शुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञानी जीव केवलज्ञान चैतन्यभाव ही को साक्षात् परमानन्द सुख-रूप अनुभवै हैं। ऐसे जीव ज्ञानचेतना संयुक्त कहाते है। ये तीन प्रकारके जीव तीन प्रकारकी चेतनाके धरनहारे जानने ।

श्री जयसेनाचार्यने इसी गाथाकी जो संस्कृत वृत्ति दी है उसका अनुवाद यह है कि वे सर्व प्रसिद्ध पांच प्रकारके स्थावर जीव अप्रगट रूप सुखदुःखका अनुभवरूप शुभ अशुभ कर्मोंके फलको अनुभव करते हैं। द्वेंद्रियादि त्रस जीव उसी ही कर्मफलको निर्विकार परमानंदमई एक स्वभावरूप आत्मसुखको नहीं प्राप्त करते हुए विशेष रागद्वेषरूप जो कार्यचेतना है उस सहित अनुभव करते हैं। और जो विशेष शुद्धात्माके अनुभवकी भावनासे उत्पन्न परम आनंदमई एक सुखामृतरूप समरसी भावके बलसे दश तरहके प्राणोंसे रहित जो सिद्ध जीव है वे केवलज्ञानको अनुभव करते हैं। इसका भाव यही है कि स्थावर जीव कर्मफलचेतना तथा त्रस जीव कर्मफलचेतना सहित कर्म चेतना तथा केवलज्ञानी ज्ञान चेतनाको अनुभव करते हैं।

श्री समयसार आत्मख्यातिमे पं० जयचंदजीने प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान कल्पको वर्णन करके कर्म चेतना और कर्मफलचेतनाके त्यागकी भावनाका वर्णन किया है वहां यह लिखा है कि " जब सम्यग्दृष्टि होता है तब ज्ञान श्रद्धान तो हो ही जाता है कि मै शुद्ध नयकर समस्त कर्मोंसे और कर्मोंके फलसे रहित हूं। अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत अवस्थामे तो ज्ञान श्रद्धानमें निरन्तर भावना हैं ही, परन्तु जब अप्रमत्त दशा हो एकाग्र चित्तकर ध्यान करे तब केवल चैतन्य मात्र आत्मामें उपयोग लगावे और शुद्धोपयोग रूप होय तब निश्चय चारित्ररूप शुद्धोपयोग भावसे श्रेणी चढ़ केवलज्ञान उपजाता है। उस समय इस भावनाका फल कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञान-

चेतनारूप होना है। फिर अनंतकाल तक ज्ञान चेतना रूप ही हुआ वह आत्मा परमानंदमें मग्न रहता है।" इस भावसे भी यही बात झलकती है कि ज्ञानचेतनाकी भावना तो केवलज्ञान पहले होती है परंतु ज्ञानचेतना केवलज्ञानीके ही होती है। श्री जयसेनाचार्यने इसीलिये शुद्धोपयोग कर्मचेतना केवलज्ञानके पहले बताई है। पंचाध्यायी ग्रंथमें इन चेतनाओंके सम्बन्धमे श्लोक १९१ द्वि० खंडसे व्याख्यान प्रारंभ किया है वहां ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टीके लब्धिरूप सदा मानी है तथा साक्षात् तब मानी है जब वह स्वानुभव रूप होवे। जैसा कहा है—

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः ।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥१०४॥

अर्थ—शुद्धचेतना एक प्रकार है क्योंकि शुद्ध एक प्रकार ही है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्ध है। और वह शुद्धोपलब्धि ज्ञानरूप है इसलिये उसे ज्ञानचेतना कहते हैं—

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात् कर्मफलचेतना ॥ १९५ ॥

अर्थ—अशुद्ध चेतना दो प्रकार है—एक कर्मचेतना दूसरी कर्मफलचेतना। कर्मफल चेतनामे फल भोगनेकी मुख्यता है।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसंभवात् ॥१९८॥

अर्थ—वह ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिको ही होती है। मिथ्यादृष्टिके कहीं भी नहीं होसक्ती क्योंकि वहां उसका होना असंभव है।

विञ्च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्य स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ ८५२ ॥
हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसंचेतना लब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥८५३॥
कादाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नाल लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तरसंभवात् ॥ ८५४ ॥

अर्थ—सर्व सम्यग्दृष्टियोंके सदा ज्ञानचेतना रहती है वह निरन्तर प्रवाह रूपसे रहती है अथवा अखड एक धारारूपसे रहती है। निरंतर ज्ञानचेतनाके रहनेमें भी सहकारी कारण सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय रूपसे रहनेवाली ज्ञानचेतना लब्धि है। वह अपने आवरणके दूर होनेसे सम्यग्दर्शनके साथ सदा रहती है। ज्ञानकी निज उपयोगात्मक चेतना कभी कभी होती है वह लब्धिका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है। इसका कारण भी यही है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतनाकी समव्याप्ति नहीं है।

इस कथनसे यह प्रगट होता है कि ज्ञानचेतनाका ज्ञानश्रद्धान तथा उस रूप होनेकी शक्तिकी लब्धि तो सम्यग्दृष्टीको हो जाती है परन्तु चारित्रकी अपेक्षा जब वह शुद्धात्मानुभव करता है तब ज्ञानचेतना एकांशी रहती है। ज्यो ज्यो स्वरूप मगनता बढ़ती जाती है ज्ञानचेतनाके अंशोकी वृद्धि होती जाती है। केवलज्ञानीके सर्वांश ज्ञानचेतना हो जाती है। श्री जयसेनाचार्यने सम्यग्दृष्टीकी इस ज्ञानचेतनाको शुद्धोपयोग कर्मचेतना कही है सो मात्र अपेक्षाकृत भेद है, वास्तवमें कोई भेद नहीं है। शुद्ध आत्माकी प्रत्यक्ष-चेतना वास्तवमें केवलज्ञानी हीके है जैसा पचाध्यायीकारने श्लोक १९४में कहा है। उसके नीचे स्वानुभवकी अपेक्षा ज्ञानचेतना तथा

अशुद्ध आत्माकी अपेक्षा अशुद्ध चेतना या शुद्धोपयोग कर्मचेतना कह सक्ते हैं। तात्पर्य यह है कि हमको ज्ञानचेतनाको ही उपादेय मानके उसी रूप रहनेकी भावना करनी चाहिये–सदा ही अपने आत्माको कर्म और कर्मफलचेतनासे भिन्न भावना चाहिए।

श्री अमृतचंद्र स्वामीने समयसारकलशमे कहा है।–

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिला ज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतना स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०॥

भावार्थ–कर्मसे व कर्मफलसे अत्यन्त विरक्तभावकी निरंतर भावना करके और सर्व अज्ञान चेतनाके नाशको प्रगटपने नचाकरके तथा अपने आत्मीकरससे भरे हुए स्वभावको पूर्ण करके अपनी ज्ञानचेतनाको आनन्द सहित नचाते हुए अबसे अनन्त कालतक शांतरसका पान करो अर्थात् केवलज्ञानी होकर निरन्तर ज्ञानचेतनामय रहो।

यहां व्याख्यामें मिथ्यादृष्टीके मात्र अशुभोपयोग कहा है शुभोपयोग नही कहा है उसका प्रयोजन यह है कि धर्मध्यान जहां है वहीं शुभोपयोग है। निश्चयसे मिथ्यादृष्टी द्रव्यलिंगी साधुके भी धर्मध्यान नही है। इसलिये वास्तवमें तो शुभोपयोग नहीं है, किन्तु यदि कषायकी मन्दताकी अपेक्षासे विचार करें तो शुभोपयोग है और इस कारण उसके अतिशय रहित पुण्य कर्मका भी बन्ध होता है। क्योकि यह शुभोपयोग सम्यक्त रहित है इसीसे मोक्षमार्गमें अशुभोपयोग नाम पाता है।

प्रयोजन यह है कि सम्यक्त विना सब असार है जब कि सम्यक्त सहित सब कुछ सार है ॥ ३३ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि यह आत्मा ही अभेद नयसे ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनारूप होजाता है।

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं, फलं च आदा मुणेदव्वो ॥ ३४ ॥

आत्मा परिणात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी।
तस्मात् ज्ञान कर्म फलं चात्मा मंतव्यः ॥ ३४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा परिणाम स्वभावी है। (परिणामो णाणकम्मफलभावी) परिणाम ज्ञानरूप कर्म्मरूप व कर्म्मफल रूप होजाता है (तम्हा) इसलिये (आदा) आत्मा (णाण कम्म च फल) ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्म फल रूप (मुणेदव्वो) जानना चाहिये।

विशेषार्थ–आत्मा परिणमनसभाव है यह बात पहले ही "परिणामो सयमादा" इस गाथामे कही जाचुकी है। उसी परिणमन स्वभावमे यह शक्ति है कि आत्माका भाव ज्ञानचेतना रूप, कर्म चेतनारूप व कर्मफलचेतनारूप होजावे। इसलिये ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना इन तीन प्रकार चेतनारूप अभेद नयसे आत्माको ही जानना चाहिये। इस कथनसे यह अभिप्राय प्रगट किया गया कि यह आत्मा तीन प्रकार चेतनाके परिणामोसे परिणमन करता हुआ निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध परिणामसे मोक्षको साधन करता है। तथा शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे बंधको साधता है।

भावार्थ–इस गाथामे यह बताया गया है कि आत्मा स्वयं

परिणमनस्वभाव है। जो परिणमन स्वभाव होता है उसीमें शुद्ध या अशुद्ध परिणमन होना संभव है । जब उस द्रव्यको पर द्रव्यका वैभाविक परिणमन करानेवाला निमित्त नहीं मिलता है तव वह द्रव्य अपने शुद्ध स्वभाव हीमें परिणमन करता है और जब उसको परका निमित्त होता है तब वह अशुद्ध भावसे परिणमन करता है।

आत्मा उपयोगमई है—यह स्वभावसे अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूपसे परिणमन करनेवाला है, परंतु इस संसारमें यह संसारी प्राणी अनादिकालसे पुद्गलमई आठ प्रकार द्रव्यकर्मोंसे प्रवाहरूपसे बंधा चला आरहा है—उनही कर्मोंमें एक मोहनीय कर्म है। जब इस कर्मका उदय होता है तव उस कर्मके अनुभागकी शक्तिके अनुसार आत्माका उपयोग भी राग, द्वेष, मोह रूप परिणमन कर जाता है । जब निज आत्माके ज्ञानानंदमें उपयुक्त है तब ज्ञानचेतनारूप आ परिणमन करता है । तब किसी कामके करनेका भाव करता है तव अपने भावानुसार कर्मचेतनारूप आप ही परिणमता है और जब साता या असाताके उदयके साथ मोहके उदयमें परिणमन करता है तव मैं सुखी हूं या दुःखी हू इस विकल्पसे परिणमन करके कर्मफलचेतना रूप परिणमता है। इस तरह आत्मा ही इन तीन रूप परिणामोको करनेवाला है । दूसरा कोई द्रव्य नही । इनमे ज्ञानचेतना स्वाभाविक परिणमन है, कर्मचेतना कर्मफलचेतना वैभाविक परिणमन है । इनमे वैभाविक परिणाम त्यागनेके योग्य है और स्वाभाविक परिणामरूप ज्ञानचेतना ग्रहण करने योग्य है ।

जितना हमारेमें ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपश-

मसे ज्ञान दर्शन, व अंतरायके क्षयोपशमसे आत्मवीर्य, व मोहके उपशमसे वीतरागताके अंश प्रगट हैं, इस हीको पुरुषार्थ कहते हैं। इस पुरुषार्थके बलसे हमको मोहके उदयके बलको घटाना चाहिये। हमारा यह अभ्यास कुछ कालमें हमारे आत्माके परिणमनको वैभाविकसे हटाकर स्वभावमें परिणमन करने देगा। इसलिये हमें कर्मोंके प्रबल निर्बलके विकल्पमे न पड़ अपना पुरुषार्थ स्वाभाविक भावोमें होनेके लिये करना चाहिये। पुरुषार्थके विना कार्यकी सिद्धि नहीं हो सक्ती है। श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

> भवभोगशरीरेषु भावनीयः सदा बुधैः ।
> निर्वेदः परया बुद्धया कर्मारातिं जिघृक्षुभिः ॥१२७॥
>
> यावन्न मृत्युवज्रेण देहशैलो निपात्यते ।
> नियुज्यता मनस्तावत् कर्मारातिपरिक्षये ॥ १२८ ॥

भावार्थ—उन बुद्धिमानोको, जो कर्म शत्रुओंका नाश करना चाहते हैं उत्कृष्ट बुद्धिसे संसार शरीर भोगोमें सदा वैराग्यभावना भानी चाहिये। जबतक मरणरूपी वज्रसे शरीररूपी पहाड न गिरे तबतक अपने मनको कर्मशत्रुओके नाशमें लगाए रहो ॥३४॥

इस तरह तीन प्रकार चेतनाके कथनकी मुख्यतासे चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे सामान्य ज्ञेय अधिकारकी समाप्ति करते हुए पहले कही हुई भेदज्ञानकी भावनाका फल शुद्धात्माकी प्राप्ति है, ऐसा दिखाते हैं:—

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥३५॥

कर्ता करण कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः ।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मान लभते शुद्ध ॥ ३५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(कत्ता, करणं, कम्मफलं च अप्पत्ति) कर्ता, करण, कर्म तथा फल आत्मा ही है ऐसा (णिच्छिदो) निश्चय करनेवाला (समणो) श्रमण या मुनि (जदि) यदि (अण्णं) अन्य रूप (णेव परिणमदि) नहीं परिणमन करता है तो (सुद्धं अप्पाणं लहदि) शुद्ध आत्मीक स्वरूपको पाता है ।

विशेषार्थ-मै एक आत्मा ही स्वाधीन होकर अपनी निर्मल आत्मानुभूतिका अपने विकार रहित परम चैतन्यके परिणामसे परिणमन करता हुआ साधन करनेवाला हूं इससे मै ही कर्ता हू। तथा मैं ही रागादि विकल्पोसे रहित अपनी स्वसंवेदन ज्ञानकी परिणतिके बलसे सहज शुद्ध परमात्माकी अनुभूतिका साधकतम हूं, अर्थात् अवश्य साधनेवाला हूं इसलिये मै ही करण स्वरूप हूं और मैं ही शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्माके स्वरूपसे प्राप्ति योग्य हूं इसलिये मैं ही कर्म हूं। तथा मै ही शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावरूप परमात्मासे साधने योग्य अपने ही शुद्धात्माकी रुचि, व उसीका ज्ञान व उसीमे निश्चल अनुभूतिरूप अभेद रत्नत्रयमई परम समाधिसे पैदा होनेवाले सुखामृतरसके आस्वादमे परिणमनरूप हू इससे मै ही फलरूप हू। इस तरह निश्चयनयसे बुद्धिको रखनेवाला परम मुनि जो सुखदुःख, जन्ममरण, शत्रु मित्र आदिमे समताकी भावनासे परिणमन कररहा है यदि अपनेसे अन्य रागादि परिणामोमें नही परिणमन करता है तो

भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप आत्माको प्राप्त करता है। ऐसा अभिप्राय भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देवका है।

भावार्थ इस गाथामें आचार्यने यह बात दिखलाई है कि हरएक कार्यमें कर्ता, करण, कर्म और फल ये चार बातें होती हैं। इन्हीं चार बातोंका भेदकी अपेक्षा विचार करें तो यह दृष्टांत होगा कि देवदत्तने अपने मुंहसे आम खाया जिससे वह बड़ा संतोषी हुआ। यहांपर कर्ता देवदत्त, मुंह करण, आम खाना कर्म तथा संतोष पाना फल है। इसी दृष्टांतको यदि अभेदमें घटाए तो इस तरह कह सक्ते हैं कि देवदत्तने अपने ही शरीरके अंग मुंहसे अपने ही मुखके व्यापाररूप कर्मको किया और आप ही संतोषी होगया—इसतरह निश्चयसे देवदत्त ही कर्ता, करण, कर्म और फलरूप हुआ।

इसी तरह जब भेद करके कहें तो इसतरह कह सक्ते हैं कि आत्माने अपने अशुद्ध परिणामोंसे कर्म बांधकर दुःख उठाया। यहां आत्मा कर्ता, अशुद्ध परिणाम करण, कर्मबंधन कर्म व दुःख पाना फल है। इसी बातको अभेदसे विचार करें तो आत्माने अपने ही आत्माके अशुद्ध परिणामोंसे परिणमन करके रागादि भाव कर्म किये और आप ही दुःखी हुआ। इसतरह अशुद्ध निश्चय नयसे आत्मा ही कर्ता, करण, कर्म तथा फलरूप हुआ। अज्ञान दशामें भी उपादान कर्ता, करण, कर्म और फल यह आत्मा ही है अन्य कोई नहीं है। आप ही अपने सराग भावसे रागी हो आकुलतारूप होता है। जैसे मिट्टी अपनी मिट्टीकी परिणतिसे घटरूप होकरके घटके कार्यमें आप ही परिणमन करती है तैसे यह आत्मा अपनी परिणतिमें आपको ही परिणमन करके अपनेको आकुलित

जायंगे । इन स्कंधोंकी अनेक अवस्थाएं जगतमें होरही हैं । उन्हींका दिग्दर्शन करानेके लिये पुद्गलकी छः जातिकी अवस्थाएं बताई गई हैं–

(१) स्थूल स्थूल–जिसके खंड किये जावें तो वे विना किसी चीजका जोड़ लगाये स्वयं न मिल सकें । जैसे कागज, लकड़ी, कपड़ा, पत्थर आदि ।

(२) स्थूल–जिसको अलग करनेपर विना दूसरी चीजके जोड़के मिल जावें जैसे पानी, सरबत, दूध आदि वहनेवाले पदार्थ ।

(३) स्थूल सूक्ष्म-जो नेत्र इंद्रियसे जाने जावें तथा जिनको हम पकड़ न सकें जैसे छाया, आताप, उद्योत ।

(४) सूक्ष्म स्थूल-जो नेत्र इंद्रियसे न जाने जावें किन्तु अन्य चार इंद्रियोंसे किसीसे जाने जासकें जैसे शब्द, रस, गंध, स्पर्श ।

(५) सूक्ष्म–जो स्कंध पांचों ही इंद्रियोंसे न जाने जासकें जैसे कार्माण वर्गणा आदि ।

(६) सूक्ष्म सूक्ष्म–अविभागी पुद्गल परमाणु । यहांपर पहले मूर्तीकका लक्षण कर चुके हैं कि जो इंद्रियोंसे ग्रहण किया जावे सो मूर्तीक हैं । सूक्ष्म या सूक्ष्म सूक्ष्म जब इंद्रियोंसे नहीं ग्रहण किये जा सके तब उनको मूर्तीक न मानना चाहिये ? इस शङ्काका समाधान यह है कि उन सबोंमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं जिनको इंद्रियां ग्रहण कर सक्ती हैं परन्तु वे ऐसी दशामें हैं जिनको इंद्रिय अगोचर व्यवहारमें कहते हैं । वे ही जब भेद संघातसे परिणमते हैं तब कालांतरमें इंद्रियोंके गोचर हो जाते हैं उनमें शक्ति तो है परन्तु व्यक्ति कालान्तरमें हो जायगी । इसलिये सूक्ष्म भी इंद्रियगोचर मूर्तीक कहे जाते हैं । यदि मूर्तीकपना

जिस ध्यानसे यह आत्मा शुद्ध होता है वह ध्यान भी अभेदसे आत्मा ही है। श्री तत्वानुशासनमें मुनि नागसेन कहते हैं--

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥

भावार्थ--क्योंकि यह आत्मा स्वस्वरूपसे ही अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको अपने ही द्वारा अपने ही लिये ध्याता है इस-लिये षट् कारकमई यह आत्मा ही निश्चयसे ध्यान है ।

अतएव स्वावलम्बन द्वारा अपना उद्धार आप करना चाहिये ॥३८

इस तरह एक सूत्रसे पांचमा स्थल पूर्ण हुआ--

इस तरह सामान्य ज्ञेयके अधिकारके मध्यमें पाच स्थलोंसे भेद भावना कही गई । ऊपर कहे प्रमाण "तम्हा तस्स णमाइ" इत्यादि पेंतीस सूत्रोंके द्वारा सामान्य ज्ञेयाधिकारका व्याख्यान पूर्ण हुआ। आगे उन्नीस गाथाओंसे जीव अजीव द्रव्यादिका विव-रण करते हुए विशेष ज्ञेयका व्याख्यान करते हैं। इसमें आठ स्थान है । इन आठमेंसे पहले स्थलमें प्रथम ही जीवत्व व अजीवत्वको कहते हुए पहली गाथा, लोक और अलोकपनेको कहते हुए दूसरी, सक्रिय और नि क्रियपनेका व्याख्यान करते हुए तीसरी इस तरह "दव्वं जीवमजीवं" इत्यादि तीन गाथाओंसे पहला स्थल है। इसके पीछे ज्ञान आदि विशेष गुणोंका स्वरूप कहते हुए "लिंगेहिं जेहिं" इत्यादि दो गाथाओंसे दूसरा स्थल है । आगे अपने अपने गुणोंसे द्रव्य पहचाने जाते हैं इसके निर्णयके लिये " वण्णरसं " इत्यादि तीन गाथाओंसे तीसरा स्थल है। आगे पंचास्तिकायके कथनकी मुख्यतासे "जीवा पोग्गल काया" इत्यादि दो गाथाओंसे चौथा

स्थल है। इसके पीछे द्रव्योंका आधार लोकाकाश है ऐसा कहते हुए पहली, जैसा आकाश द्रव्यका प्रदेश लक्षण है वैसा ही शेष द्रव्योका है ऐसा कहते हुए दूसरी, इसतरह "लोयालोएसु" इत्यादि दो सूत्रोसे पांचवां स्थल है। इसके पीछे काल द्रव्यको अप्रदेशी स्थापित करते हुए पहली, समयरूप पर्याय काल है कालाणुरूप द्रव्यकाल है ऐसा कहते हुए दूसरी, इसतरह 'समओ दु अप्पदेसो' इत्यादि दो गाथाओसे छठा स्थल है। आगे प्रदेशका लक्षण कहते हुए पहली, फिर तिर्यक् प्रचय ऊर्ध्व प्रचयको कहते हुए दूसरी इसतरह "आयासमणु णिविट्ठं" इत्यादि दो सूत्रोंसे सातवां स्थल है। फिर कालाणुको द्रव्यकाल स्थापित करते हुए "उप्पादो पद्धंसो" इत्यादि तीन गाथाओंसे आठवां स्थल है इसतरह विशेष ज्ञेयके अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका—आगे जीव अजीवका लक्षण कहते हैं—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवयोगमयो ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं ॥ ३९ ॥

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः ।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखो चेतनो भवति चाजीवः ॥ ३९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(दव्वं) द्रव्य (जीवमजीवं) जीव और अजीव है (पुण) और (जीवो) जीव द्रव्य (चेदणा उपयोगमयो) चेतना स्वरूप तथा ज्ञान दर्शन उपयोगवान है (य पोग्गलदव्वप्पमुहं) और पुद्गल द्रव्य आदि (अचेदणं) चेतना रहित (अजीवं) अजीव हैं।

विशेषार्थः—द्रव्यके दो भेद हैं—जीव और अजीव, इनमेसे

जीव द्रव्य स्वयं सिद्ध बाहरी और अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षा विना अंतरङ्ग व बाहरमें प्रकाशमान नित्य रूप निश्चयसे परम शुद्ध चेतनासे तथा व्यवहारमें अशुद्ध चेतनासे युक्त होनेके कारण चेतन स्वरूप है तथा निश्चयनयसे अखंड व एक रूप प्रकाशमान व सर्व तरहसे शुद्ध केवलज्ञान तथा केवल दर्शन लक्षणधारी पदार्थोंके जानने देखनेके व्यापार गुणवाले शुद्धोपयोगसे तथा व्यवहारनयसे मतिज्ञान आदि अशुद्धोपयोगसे जो वर्तन करता है इससे उपयोगमई है। तथा पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच द्रव्य पूर्वमें कही हुई चेतनासे तथा उपयोगसे भिन्न अजीव हैं, अचेतन है, ऐसा अर्थ है।

भावार्थ–पहले आचार्यने संग्रहनयसे सामान्य द्रव्यका व्याख्यान किया। अब यहा व्यवहारयसे विशेष भेद द्रव्यका दिखाते हैं। जगतमें यदि प्रत्यक्ष देखा जावे तो जीवत्व और अजीवत्त्व झलक जाते हैं। जहा चेतना है–देखने जाननेका काम हो रहा है वह जीवत्व है। जहा यह नही है वह अजीवत्त्व है। एक सजीव प्राणीमें इंद्रियोंके व्यापारसे जानन क्रिया होरही है वही जब जीव रहित होकर मात्र शरीरको ही छोड देता है तब उस मृतक शरीरमें सब कुछ रचना बनी रहने पर भी जानन क्रिया इन्द्रियोके द्वारा नहीं होती है–इसीसे सिद्ध है कि जानन क्रियाका करनेवाला जीव है और जिसमे जानन क्रिया नही वह यह शरीर है जो पुद्गलसे रचा है। प्रत्यक्षमे हरएक बुद्धिवान जीव अजीवको देख सक्ता है इस लिये आचार्यने प्रथम द्रव्यको दो भेद किये हैं–जीव और अजीव। इस जीवमे निश्चय प्राण चेतना है वह इसमें सदा रहती है–वही

चेतना शुद्ध जीवमें शुद्ध है और अशुद्ध जीवमें अशुद्ध है। अथवा निश्चय नयसे हरएक जीवमे शुद्ध है व्यवहार नयसे अशुद्ध है। वही चेतना निश्चय नयसे केवलज्ञान और केवलदर्शनमई शुद्ध उपयोगसे वर्तन करती हुई स्वको और सर्व लोकालोक सम्बन्धी तीन काल वर्ती द्रव्यको उनके गुण और पर्यायोके साथ जानती है तथा व्यवहार नयसे मतिज्ञान आदि रूप व चक्षु अचक्षु आदि दर्शन रूप परिणमती हुई द्रव्योको परोक्ष रूपसे उनकी कुछ पर्यायोके साथ जानती है। इसी उपयोगसे जीव द्रव्यकी सत्ता पृथक् झलकती है। जिसमे न चेतना है न ज्ञान दर्शन उपयोगके शुद्ध या अशुद्ध व्यापार है वह अजीव है—उस अजीवके पांच भेद हैं अर्थात् वे अजीव द्रव्य पांच प्रकारके भिन्न २ इस लोकमें पाए जाते है—वर्ण गध रस स्पर्शवान पुद्गल है, गति सहकारी धर्म द्रव्य है, स्थिति सहकारी अधर्म द्रव्य है, अवकाश सहकारी आकाश द्रव्य है, परिणमन सहकारी काल द्रव्य है। ये पांचों ही चेतना तथा उपयोगसे शून्य हैं इसलिये अचेतन और अनुपयोगमई अजीव हैं।

इस जगतमे अपना आत्मा पुद्गलके साथ ऐसा मिल रहा है कि उसकी पृथक् सत्ता अज्ञानी जीवको नही जाननेमें आती है इसलिये वह भ्रमसे अपनी आत्माको क्रोधी, मानी, लोभी, मोही आदि व मनुष्य शरीर रूप ही मान लेता है उसको जुदा अपना जीव नही मालूम होता है। इसलिये आचार्यने बताया है कि तुम जीव हो, तुम्हारा स्वभाव निश्चयसे शुद्धचेतनामय तथा परम शुद्ध केवलज्ञान व केवलदर्शन उपयोगमई है—तुम अपनेको ऐसा जान-

कर अनुभव करो यही अनुभव एक दिन अजीवसे दूर करके तुम्हें स्वाधीन बना देगा । पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्णवान बनता, बिगड़ता, प्रत्यक्ष झलकता है इससे इसकी सत्ताको समझनेमे कोई कठिनता नहीं है । परतु धर्मादि चार द्रव्य अमूर्तीक है-अदृश्य हैं-प्रत्यक्ष नहीं है उनकी सत्ताको कैसे माना जावे ? इसलिये आचार्य कहते है कि युक्तिसे उनकी सत्ता भी प्रगट होजायगी । इस लोकमें जीव पुद्गल दो द्रव्य हलनचलन क्रिया करते तथा ठहरते हुए मालूम पडते हैं ।

इन क्रियाओंमे उपादान कारण वे स्वयं हैं परंतु उनकी इन क्रियाओंमे कोई सर्वसाधारण तथा अविनाशी ऐसे निमित्त कारण भी चाहिये । केवली भगवानने अपने ज्ञान नेत्रसे जानकर उपदेश दिया कि जो एक अमूर्तीक द्रव्य इस लोकाकाशमे सर्वत्र अखड रूपसे व्यापक है वही धर्मद्रव्य व वैसा ही अधर्म द्रव्य है जिनका काम उदासीन रूपसे जीव व पुद्गलोकी गतिमें व स्थितिमे क्रमसे सहाय करना है ।

सर्व द्रव्य अवकाश पारहे है व स्थानान्तर होते हुए भी अवकाश पा लेते हैं इसलिये जिसके विना द्रव्य अवकाश नही पा सक्के व जिसके होते हुए पा सक्के हैं वह आकाश द्रव्य है । आकाश अनंत और सर्वसे बडा है उसीके मध्यभागमे जहातक हर जगह जीव पुद्गलादि पाच द्रव्य पाए जाते है उस भागको लोकाकाश शेषको अलोकाकाश कहते है । द्रव्योंमे हर परिणमन क्रिया होरहे है । जैसे मेरे परिणमन शातिमे छूटकर क्रोधमई होगए व हमारा कोई अज्ञान कुछ ज्ञानके होनेसे नष्ट होता है तथा पुद्गल

सुन्दरसे असुन्दर व वर्णसे वर्णान्तर होजाता है-इस अवस्थाके बदलनेमें सर्वसाधारण कारण कालद्रव्य है। इस तरह अमूर्तीक अचेतन धर्मादि चार द्रव्योकी सत्ता जानने योग्य है। इस कथनको जानकर एक अपना शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है शेष सर्व हेय हैं ऐसा निश्चय करके निज स्वरूपका अनुभव करना योग्य है।

श्री अमृतचंद्र आचार्यने तत्वार्थसारमे इन्ही द्रव्योको कहा है-

धर्माधर्मावथाकाश तथा कालश्च पुद्गलाः ।
अजीवाः खलु पञ्चैते निर्दिष्टा सर्वदर्शिभिः ॥ २ ॥

एते धर्मादयः पञ्च जीवाश्च प्रोक्तलक्षणाः ।
षट्द्रव्याणि निगद्यते द्रव्ययाथात्म्यवेदिभिः ॥ ३ ॥

भावार्थ-सर्वदर्शीने धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गलोको अजीव कहा है तथा जीव अलग है इनको मिलाकर द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको जाननेवालोंने छः द्रव्य कहे है ॥ ३६ ॥

उत्थानिका-आगे लोक और अलोकके भेदसे आकाश पदार्थके दो भेद बताते हैं:—

पुग्गलजीवणिवद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आयासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥ ३७ ॥

पुद्ग' व ‥वद्धः धर्माधर्मास्ति कायकालाढ्य ।
वर्तते आकाशे यो लोकः स सर्वकाले तु ॥ ३७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जो) जितना क्षेत्र (आयासे) इस आकाशमें (पुग्गलजीवणिवद्धो) पुद्गल और जीवोंसे भरा हुआ तथा (धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो) धर्मास्तिकाय, अधर्म -

स्तिकाय, और कालमे भराहुआ (वट्टदि) वर्तन करता है (सो दु) वही क्षेत्र (सव्वकाले) सदा ही (लोगो) लोक है।

विशेषार्थ—पुद्गलके दो भेद हैं—अणु और स्कंध तथा जीव सब निश्चयसे अमूर्तीक अतींद्रिय ज्ञानमई तथा निर्विकार परमानन्द रूप एक सुखमई आदि लक्षणोके धारी हैं इनसे जितना आकाश भरा हुआ है व जिसमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल द्रव्य भी व्यापक हैं इस तरह जो पांचों द्रव्योंकि समूहको रखता हुआ वर्तता है वह इस अनन्तानन्त आकाशके मध्यमें रहनेवाला लोकाकाश है। वास्तवमें आकाश सहित जो इन पांच द्रव्योका आधार है वह छः द्रव्यका समूहरूप लोक सदा ही है उसके बाहर अनन्तानन्त खाली जो आकाश है वह अलोकाकाश है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—आचार्य इस गाथामें छः द्रव्योंके क्षेत्रको बताते हैं। सबसे बडा आकारवाला अनन्त आकाश द्रव्य है। इसके मध्यमें अन्य पांच द्रव्य भरे हुए हैं। जितनेमें ये पाच द्रव्य हैं उसको लोक या जगत् कहते हैं। इसके बाहरके आकाशको अलोक कहते हैं—धर्मास्तिकाय लोकाकाशके बराबर एक अखंड द्रव्य है—अधर्मास्तिकाय भी ऐसा ही है—ये दोनों लोकाकाशमे व्यापक हैं। कालद्रव्य गणनामें असंख्यात हैं। वे एक दूसरेसे कभी मिलते नहीं परंतु लोकाकाशमें इसतरह फैल है कि कोई प्रदेश कालद्रव्यके विना शेष नही है। यदि प्रदेशरूपी गजसे माप करें तो लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश होगे इस तरह हरएक प्रदेश कालद्रव्यसे छाया हुआ है। जीव अनन्तानत हैं—सो लोकाकाशमें खचाखच भरे हैं—

उनमे वहुत भाग ऐसे शरीरधारियोका है जो एक शरीरमें अनंतानंत एक साथ रह सक्ते हैं जैसे निगोद शरीरधारी जीव-सूक्ष्म एकन्द्रिय पृथ्वी, अप, तेज, वायु तथा वनस्पति जो किसी इंद्रियके गोचर नहीं हैं व जो पर्वतादिके भीतरसे भी निकल जाते है तथा निराधार हैं, इस सर्वलोकमें खचाखच भरे है तथा वादर एकेन्द्रियसे पंचेंद्री पर्यंत जीव जो आधारमें उत्पन्न होते हैं तथा यथासभव रुकते हैं व रोकते है वे भी यथासंभव यत्र तत्र पाए जाते हैं। प्रयोजन यह है कि कोई भी प्रदेश ऐसा नही है जहां संसारी जीव न हो। जीवोंसे भी अनन्तानंतगुणे पुद्गल हैं। परमाणु अविभागी पुद्गलके खडको कहते हैं। दो या अधिक परमाणुओसे बने हुए बंधरूप समुदायको स्कंध कहते हैं। इनमे वहुत भाग सूक्ष्म है वे एक दूसरेको अवकाश देते हुए रहते है इसतरह पुद्गलोंसे भी कोई आकाशका प्रदेश खाली नही है। छ. द्रव्य जहां हर जगह पाए जासकें उसको लोकाकाश कहते हैं। इसके बाहर जहां केवल आकाश ही आकाश है वह अलोकाकाश है।

श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमे कहा है—

धम्माधम्माकाओ पुग्गलजीवा य संति जावदिये ।
आयसे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥

अर्थात्—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जितने आकाशमे हैं वह लोक है उसके बाहर अलोक है।

प्रयोजन यह है कि इस छः द्रव्यमई लोकमे निज आत्मा ही उपादेय है, अन्य सब ज्ञेय हैं। इस भावनासे ही वह साम्यभाव प्राप्त होता है जिसकी आवश्यक्ता सम्यक्चारित्रके लिये है॥३७॥

उत्थानिका—आगे द्रव्योंमें सक्रिय और निःक्रिय भेदको दिखलाते हैं यह एक पातनिका है। दूसरी यह है कि जीव और पुद्गलमें अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय दोनो होती हैं जबकि शेष द्रव्योंमें मुख्यतासे अर्थपर्याय होती है इसको सिद्ध करते हैं—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायते संघादादो व भेदादो ॥ ३८॥

उत्पादस्थितिभगाः पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य ।
परिणामा जायन्ते सघाताद्वा भेदात् ॥ ३८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(लोगस्स) इस छः द्रव्यमई लोकके (उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपी अर्थ पर्याय होते हैं तथा (पोग्गलजीवप्पगस्स) पुद्गल और जीवमई लोकके अर्थात् पुद्गल और जीवोंके (परिणामा) व्यंजन पर्यायरूप परिणमन भी (संघादादो संघातसे (व) या (भेदादो) भेदसे (जायते) होते हैं।

नोट—यहां वृतिकारकी अपेक्षा छोडकर अपनी समझसे अन्वय किया है।

विशेपार्थ—यह लोक छः द्रव्यमई है। इन सब द्रव्योमें सत्-पना होनेसे समय समय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन हुआ करते हैं इनको अर्थ पर्याय करते है। जीव और पुद्गलोमें केवल अर्थ पर्याय ही नहीं होती किन्तु संघात या भेदसे व्यजन पर्यायें भी होती हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालकी मुख्यतासे एकसमयवर्ती अर्थ पर्यायें ही होती है तथा जीव और पुद्गलोंके अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय दोनो होती हैं। किस तरह होती हैं सो कहते हैं। जो समय समय परिणमन रूप अवस्था है उसको

अर्थ पर्याय कहते हैं। जब यह जीव इस शरीरसे छूटकर अन्य भवके शरीरके साथ मिलाप करता है तब जीवके प्रदेशोंका आकार बदलता है तब विभाव व्यंजन पर्याय होती है। इसी ही कारणसे कि यह जीव एक जन्मसे दूसरे जन्ममे जाता है इसको क्रियावान कहते है। तैसे ही पुद्गलोकी भी व्यंजन पर्याय होती है। जब कोई विशेष स्कंधसे छूटकर एक पुद्गल अपने क्रियावानपनेसे दूसरे स्कंधमें मिल जाता है तब आकार बदलनेसे विभाव व्यजन पर्याय होती है। मुक्त जीवोके स्वभाव व्यंजन पर्याय इस तरह होती है सो कहते है। निश्चय रत्नत्रयमई परम कारण समयसाररूप निश्चय मोक्षमार्गके बलसे अयोगी गुणस्थानके अंत समयमे नख केशोको छोड़कर परमौदारिक शरीरका विलय होता है इस तरहका नाश होते हुए केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टयकी व्यक्तिरूप परम कार्य समयसार रूप सिद्ध अवस्थाका स्वभाव व्यजन पर्यायरूप उत्पाद होता है यह भेदसे ही होता है संघातसे नही होता है क्योकि मुक्तात्माके अन्य शरीरके सम्बन्धका अभाव है।

भावार्थ—यह लोक छ द्रव्योंका समुदाय है। हरएक द्रव्य सामान्य और विशेष रूप गुणोका समुदाय है—गुणोमे सदा परिणमन या पर्याय हुआ करती हैं—इस परिणमनको अर्थ पर्याय कहते हैं। ऐसी अर्थपर्यायें छ' द्रव्योंमें होती रहती है। इनके भी दो भेद हैं—एक स्वभाव अर्थपर्याय, एक विभाव अर्थपर्याय। स्वभाव अर्थपर्याय अगुरुलघु नामके सामान्य गुणके विकार है। ये स्वभाव पर्यायें बारह तरहकी होती है—छः वृद्धिरूप छ. हानिरूप। अर्थात् अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात

गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि, इसी तरह अनंत भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यात गुण हानि, असंख्यात गुण हानि, अनंतगुण हानि। श्री देवसेन आचार्य कृत आलाप पद्धतिमें कहा है:—

> अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
> उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥ १॥

अर्थ अनादि अनंत द्रव्यके भीतर स्वभाव पर्यायें प्रति समयमे इस तरह होती रहती है जैसे जलके भीतर लहरें उठती हैं बैठती है। इस दृष्टांतसे यह भाव झलकता है कि जैसे निर्मल क्षीर समुद्रके जलमें जब तरंगें होती है तब कहीं पर पानी कुछ ऊंचा व कहींपर कुछ नीचा होजाता है परन्तु न पानी कमबढ़ होता न मैला होता है तैसे द्रव्योंके भीतर जो अगुरुलघुगुण है उसमें परिणमन होता है। केवल अवस्थामें परिणमन होते हुए भी गुण कम बढ़ नहीं होता है न विभाव रूप परिणमता है। इन स्वभाव पर्यायोंका स्वरूप क्या है सो अच्छी तरह नहीं प्रगटा है इसको आगम प्रमाणसे गृहण करना योग्य है। ये स्वभाव अर्थ पर्यायें तो सब द्रव्योमे सदा होती रहती है। जीव और पुद्गलोमें विभाव अर्थ पर्याय भी होती है जैसे जीवोंमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानगुणका विभावपरिणमन है। संक्लेश रूप तथा विशुद्ध रूप चारित्र गुणका विभाव परिणमन है। पुद्गलोमे एक रससे अन्य रस रूप, एक गंधसे अन्य गंध रूप, एक स्पर्शसे अन्य स्पर्श रूप, एक वर्णसे अन्य वर्णरूप परिणमन विभाव गुणपर्याय है या विभाव अर्थ पर्यायें है।

एक आकारमें हलन चलन या बदलनेको व्यंजन पर्याय कहते हैं। ये पर्यायें धर्म अधर्म आकाश कालमें नहीं होती हैं। किन्तु जीव और पुद्गलोमें होती हे। जब यह जीव एक शरीरमें रहता हुआ भी हलन चलन करता है, मन वचन कायके कार्यके द्वारा सकम्प होता है, तथा समुदायके द्वारा फैलता है, और फिर शरीर प्रमाण होता है तथा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाकर उस शरीरप्रमाण होजाता है, उस शरीरमें रहते हुए शरीरकी वृद्धिके साथ फैलता है तब जीवके विभाव व्यंजन पर्याय होती है। जब यह जीव संसार अवस्थाको त्यागकर मुक्त अवस्थामें पहुंचता है तब इसका आकार अंतिम शरीरसे कुछ कम रहता है—अरहंतका देह अयोगी गुणस्थानमे कपूरके समान उड़ जाता है केवल नख केश रह जाते हैं। इससे यह झलकता है कि जहा आत्माके प्रदेश व्यापक हे वह सब भाग उड़ जाता है और जहां आत्माके प्रदेश नहीं हैं वह भाग पड़ा रहता है जैसे नख केश, क्योंकि शरीर सहित आत्माकी माप करनेसे नख-केशोंकी भी माप होजायगी इसीलिये नखकेशोकी कमीको निकालकर जो कुछ आकार आत्माका शरीर रहते हुए रहता है वही सिद्ध अवस्थामें होता है इसीसे इस आकारको अंतिम शरीरसे कुछ कम कहते हैं, क्योंकि अब सिद्धोंका आकार नहीं बदलेगा न हलन चलन करेगा इसलिये सिद्धोके आकारको स्वभाव व्यंजन पर्याय कहते हे। पुद्गलोंमे परमाणुओंका परस्पर मेल होनेसे व कुछ परमाणुओका व कोई स्कंधके भागका किसी स्कंधसे भेद होनेपर उन ही परमाणुओका व स्कंधके भागका व उनमेसे कुछका अन्य

स्कंधके साथ संघात या मेल होनेपर जो विशेष स्कंध होता है वह विभावव्यंजनपर्याय है। अविभागी परमाणु विना किसीके मिलापके जबतक है तबतक स्वभाव व्यंजन पर्यायरूप है। इस तरह व्यंजन पर्यायें जीव और पुद्गलोंमें होती है । ऐसा ही आलापपद्धतिमें कहा है:—

धर्माधर्मनभः कालाः अर्थपर्यायगोचराः ।
व्यञ्जनेन तु सबद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥

भावार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और कालमे अर्थ पर्यायें ही होती है किन्तु जीव पुद्गलोंमें अर्थ पर्याय भी होती है व व्यंजन पर्यायें भी होती हैं। इसी कारणसे चार द्रव्य क्रिया रहित अर्थात् हलनचलन रहित निःक्रिय हैं और जीव पुद्गल क्रियावान अर्थात् हलनचलन सहित हैं।

प्रयोजन यह है कि अपने आत्माको संसार अवस्थामें आवागमनरूप क्रियाके भीतर चौरासी लाख योनियोंके द्वारा क्लेश उठाते जानकर उसको सिद्ध अवस्थामें पहुंचानेका यत्न करना चाहिये जिससे यह जीव भी निःक्रिय होजावे क्योकि सिद्धात्मा हलनचलन क्रिया रहित है। स्वभावमे लोकाग्र एक आकारसे विना सकम्प हुए विराजमान हैं। इसीलिये अभेद रत्नत्रय स्वरूप साम्यभावका आश्रयकर स्वानुभवका अभ्यास करना चाहिये ऐसा तात्पर्य है। इस तरह जीव और अजीवपना, लोक और अलोकपना, सक्रिय निष्क्रियपनाको क्रमसे कहते हुए प्रथम स्थलमे तीन गाथाएं समाप्त हुईं ॥ ३८ ॥

उत्थानिका—आगे ज्ञानादि विशेष गुणोके भेदसे द्रव्योंके भेदोंको बताते हैं:—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं ।
ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ ३९ ॥

लिङ्गैर्यैद्रव्य जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम् ।
ते तद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेयाः ॥ ३९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जेहि लिंगेहिं) जिन लक्षणोसे (जीवमजीवं दव्वं) जीव और अजीव द्रव्य (विण्णादं हवदि) जाने जाते हैं (ते) वे लक्षण या चिन्ह (तब्भावविसिट्ठा) उनके साथ तन्मयताको रखनेवाले (मुत्तामुत्ता गुणा) मूर्तीक और अमूर्तीक गुण (णेया) जानने चाहिये ।

विशेषार्थ—स्वाभाविक शुद्ध परम चैतन्यके विलास रूप विशेष गुणोसे जीव द्रव्य तथा अचेतन या जड़रूप विशेष गुणोंसे अजीव द्रव्य पहचाने जाते हैं। ये चेतन तथा अचेतन गुण अपने२ द्रव्यसे तन्मय हैं। जैसे शुद्ध जीव द्रव्यमें जो केवल ज्ञान आदि गुण हैं उनकी शुद्ध जीवके प्रदेशोके साथ जो एकता, अभिन्नता तथा तन्मयता है उसको तद्भाव कहते हैं। इस तरह शुद्ध जीव द्रव्य अपने प्रदेशोकी अपेक्षा अपने शुद्ध गुणोसे तन्मय है परन्तु जब गुणोंका और उन प्रदेशोका जहा वे गुण पाए जाते हैं संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भेद किया जाता है तब गुण और द्रव्यमें अतद्भावपना या भेदपना भी सिद्ध होता है। द्रव्य और गुण किसी अपेक्षा अभेदरूप व किसी अपेक्षा भेदरूप हैं। अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि जिस द्रव्यके जो विशेष गुण है वे अपने द्रव्यसे तो तद्भावरूप या तन्मय हैं परन्तु अन्य द्रव्योसे वे अतद्भावरूप या भिन्न हैं। ये चेतन अचेतन गुण दो प्रकारके जानने चाहिये—मूर्तीक और अमू-

र्तीक अर्थात् मूर्तीक द्रव्योके मूर्तीक गुण और अमूर्तीक द्रव्योंके अमूर्तीक गुण समझने चाहिये ।

भावार्थ—इस गाथामे आचार्य यह बताते है कि जीव और अजीव द्रव्योंको किस तरह पहचाना जाता है । जो अस्तित्त्व, वस्तुत्त्व, द्रव्यत्त्व, अगुरुलघुत्त्व, प्रदेशत्त्व तथा प्रमेयत्त्व सामान्यगुण हैं वे तो सर्व छहो द्रव्योमें व्यापक है उनसे जीव और अजीव द्रव्योकी भिन्नता नहीं जानी जा सकती है । इसलिये भिन्न २ द्रव्योंमें भिन्न२ विशेष गुण है जिनसे वह विशेष द्रव्य जाना जा सक्ता है । वे विशेष गुण अपने २ द्रव्यसे तो तन्मयपना रखते हैं परन्तु अन्य द्रव्यसे विलकुल भिन्न है । तथा अपने २ द्रव्यके साथ भी वे गुण प्रदेशोकी अपेक्षा अभेदरूप है परन्तु सज्ञादिकी अपेक्षा भेदरूप या भिन्न है । जिन लक्षणोंसे द्रव्योको भिन्न २ जाने उन लक्षणोको किसी अपेक्षा मूर्तीक और अमूर्तीक गुण कह सक्ते हैं । अर्थात् जो मूर्तीक द्रव्य है उनके विशेष गुण मूर्तीक हैं तथा जो अमूर्तीक द्रव्य हैं उनके विशेष गुण अमूर्तीक हैं । छः द्रव्योमे पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है इसलिये उसके विशेष गुण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण भी मूर्तीक है । जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अमूर्तीक है इसलिये उनके विशेष गुण चैतन्यादि भी अमूर्तीक है । ये छहों द्रव्य अपने अपने विशेष गुणोसे ही भिन्न २ जाने जाते हैं । तात्पर्य यह है कि इनमे निज आत्मा ही उपादेय है ।

श्री योगेन्द्राचार्यने योगसारमे कहा है:—

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ अण्ण वि सहु विवहारु ।
चयहि वि पुग्गल गहहि जिउ लहु पावहु भवपारु ॥ ५४ ॥

भावार्थ—पुद्गलादि द्रव्य अन्य हैं, जीव अन्य है तथा जगतका सब व्यवहार भी अन्य है। यदि यह जीव पुद्गलादि सर्वको त्याग करके निज आत्माको ग्रहण करे तो शीघ्र मोक्षकी प्राप्ति करे ॥३९॥

इस तरह गुणोके भेदसे द्रव्यका भेद जानना चाहिये।

उत्थानिका—आगे मूर्तीक और अमूर्तीक गुणोंका लक्षण और सम्बन्ध कहते हैः—

मुत्ता इन्दियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ ४० ॥

मूर्ता इंद्रियग्राह्याः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा ।
द्रव्याणममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्याः ॥ ४० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ (इंदियगेज्झा) इंद्रियोंके ग्रहण करने योग्य गुण (मुत्ता) मूर्तीक होते हैं वे गुण (अणेगविधा) वर्ण आदिके भेदसे अनेक प्रकार हैं तथा (पोग्गल दव्वप्पगा) पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी हैं। (अमुत्ताणं दव्वाणं) अमूर्तीक द्रव्योके (गुणा) गुण (अमुत्ता) अमूर्तीक (मुणेदव्वा) जानने योग्य है।

विशेषार्थ—जो इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे मूर्तीक गुण हैं और जो इंद्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण किये जावें वे अमूर्तीक गुण हैं इसतरह मूर्तीक गुणोका लक्षण इंद्रियोका विषयपना है जब कि अमूर्तीक गुणोंका लक्षण इंद्रियोंका विषयपना नहीं है। मूर्तीक गुण अनेक प्रकारके पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी होते हैं तथा केवलज्ञान आदि अमूर्तीक गुण विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी परमात्मा द्रव्यको आदि लेकर अमूर्तीक द्रव्योंके होते हैं। इसतरह मूर्त और अमूर्त गुणोंके लक्षण और सम्बन्ध जानने योग्य हैं।

भावार्थ-इस लोकमें छः द्रव्य है उनमेसे केवल एक पुद्गल मूर्तीक है क्योंकि उसके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण चक्षु, घ्राण, रसना तथा स्पर्शन इद्रियोंके द्वारा क्रमसे जाननेमे आते है। और इसी लिये इस पुद्गलके वर्णादि गुणोको मूर्तीक गुण कहते है तथा जीव, धर्म, अधर्म, काल, आकाश ये पांच द्रव्य अमूर्तीक है क्योकि इनके विशेष गुण पाचो ही इद्रियोसे नहीं जाने जासक्ते। जीवके केवलज्ञानादि गुण, धर्मका गतिहेतुपना, अधर्मका स्थितिहेतुपना कालका वर्तना तथा आकाशका अवगाहं देना ये सर्व कोई भी इंद्रियोसे देखे, सूघे, चखे, स्पर्शे तथा सुने नहीं जाते है इसलिये जैसे ये पाच द्रव्य अमूर्तीक है वैसे इनके विशेष गुण भी अमूर्तीक है। क्योकि गुण और गुणी तादात्म्य सम्बन्ध रखते है तथा गुणोके अखंड सर्वांग व्यापक समूहका ही नाम द्रव्य है इसलिये मूर्तीक गुणधारी द्रव्य मूर्तीक होते है और अमूर्तीक गुणधारी द्रव्य अमूर्तीक होते है। यद्यपि पुद्गलके बहुतसे सूक्ष्म स्कंध तथा सर्व ही अविभागी परमाणु किसी भी इद्रियसे नहीं जाननेमें आते तथापि जब भेदसंघातसे वे सूक्ष्म स्कध स्थूल होजाते हैं तथा परमाणुओंके संघातसे स्थूलस्कंध बन जाते हैं। तब वे किसी न किसी इद्रियके द्वारा जाननेमे आजाते है जैसे आहारक वर्गणाको हम देख नहीं सक्ते परन्तु उनसे बने हुए औदारिक शरीरको देखते हैं, भाषा वर्गणाको हम देख नही सकते व सुन नहीं सके परन्तु उनके बने शब्दोंको हम सुन सक्के है। यद्यपि ये सूक्ष्म स्कंध तथा परमाणु इंद्रियगोचर नही है तथापि उनमें इद्रियगोचर होनेकी शक्ति है तथा वे सब पुद्गल है और उन ही स्पर्श, रस, गध, वर्ण

गुणको वे रखते हैं जिनको इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जासक्ता है इसलिये वे भी मूर्तीक हैं और उनके गुण भी मूर्तीक हैं ।

श्री तत्वार्थसारमें अमृतचंद्राचार्य कहते है-

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धात्यतव्युदासतः ।
पच द्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः ॥ १६३ ॥

भावार्थ-क्योंकि पांच द्रव्योंमें मूर्तीक शब्द पर्याय वा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण नही होते है इसलिये वे अमूर्तीक हैं जब कि मात्र एक पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है क्योकि इनमे ये चार गुण होते है और शब्द इसी मूर्तीक पुदल द्रव्यकी पर्याय है । तात्पर्य यह है कि इन मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्योंमें मात्र अमूर्तीक एक निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ।

इस तरह ज्ञान आदि विशेष गुणोके भेदसे द्रव्योंमें भेद होता है ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ४० ॥

उत्थानिका-आगे मूर्तीक पुद्गल द्रव्यके गुणोको कहते हैं-

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवी परियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ ४१ ॥

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मत्वात् ।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पुद्गलश्चित्रः ॥ ४१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(सुहुमादो पुढवी परियंतस्स) सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुसे लेकर पृथ्वी पर्यंत (पुग्गलस्स) पुद्गल द्रव्यके (वण्णरसगंधफासा) वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, (विज्जंते) मौजूद पाए जाते हैं । (य) और (सद्दो) शब्द है (सो पोग्गलो चित्ता) सो पुद्गल है व नाना प्रकार है ।

विशेषार्थ–पुद्गल द्रव्यके विशेष गुण स्पर्श रस गध वर्ण हैं। वे पुद्गल सूक्ष्म परमाणुसे लेकर पृथ्वी स्कध रूप स्थूल तक है।

जैसे इस गाथामें कहा है–

पुढवी जल च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू ।
छव्विहभेय भणिय पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥

जैसे सर्व जीवोंमें अनन्तज्ञानादि चतुष्टय विशेष लक्षण यथासभव साधारण है तैसे ही वर्णादि चतुष्टय रूप विशेष लक्षण यथासम्भव सर्व पुद्गलोमें साधारण है। और जैसे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय मुक्त जीवमे प्रगट हैं सो अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। हमको अनुमानसे तथा आगम प्रमाणसे मान्य है तैसे ही शुद्ध परमाणुमें वर्णादि चतुष्टय भी अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। हमको अनुमानसे तथा आगमसे मान्य है। जैसे यही अनंतचतुष्टय ससारी जीवमें रागद्वेषादि चिकनईके कारण कर्मबध होनेके वशसे अशुद्धता रखते है तैसे ही स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे दो अणु तीन अणु आदिकी बंध अवस्थामे वर्णादि चतुष्टय भी अशुद्धताको रखते हैं। जैसे रागद्वेषादि रहित शुद्ध आत्माके ध्यानसे इन अनन्तज्ञानादि चतुष्टयकी शुद्धता होजाती है तसे ही यथायोग्य स्निग्ध रूक्ष गुणके न होनेपर बन्धन न होते हुए एक पुद्गल परमाणुकी अवस्थामें शुद्धता रहती है। और जैसे नरनारक आदि जीवकी विभाव पर्याय है तैसे यह शब्द भी पुद्गलकी विभाव पर्याय है–गुण नहीं है क्योकि गुण अविनाशी होता है परन्तु यह शब्द विनाशीक है। यहा नैयायिक मतके अनुसार कोई कहता है कि यह शब्द आकाशका गुण है इसका खंडन करते हैं कि यदि शब्द

आकाशका गुण हो तो शब्द अमूर्तीक होजावे। जो अमूर्त वस्तु है वह कर्ण इंद्रियसे ग्रहण नहीं होसक्ती और यह प्रत्यक्ष प्रगट है कि शब्द कर्ण इंद्रियका विषय है। बाकी इद्रियोका विषय क्यों नही होता है ? ऐसी शंकाका समाधान यह है। अन्य इंद्रियका विषय अन्य इंद्रिय द्वारा नही ग्रहण किया जासक्ता ऐसा वस्तुका स्वभाव है जैसे रसादि विषय रसना इन्द्रिय आदिके हैं। वह शब्द भाषारूप, अभाषारूप, प्रायोगिक और वैश्रसिकरूप अनेक प्रकारका है जैसा पंचास्तिकायकी "सद्दो खंधप्पभवो" इस गाथामें समझाया है यहां इतना ही कहना वश है।

भावार्थ—इस गाथामे आचार्यने पुद्गलके विशेष गुणोको बताकर उसकी अवस्थाओको भी समझाया है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये चार पुद्गलके मुख्य गुण है—रूखा, चिकना, गर्म, ठंढा, हलका भारी, नरम, कठोर आठ तरहका स्पर्श होता है। खट्टा, मीठा, चर्परा, तीखा कषायला पाच तरहका रस होता है। सफेद, लाल, पीला, नीला, काला पांच तरहका वर्ण होता है। सुगंध, दुर्गंध दो तरहकी गंध होती । इनमेसे एक समयमे ५ गुण पुद्गलके एक अविभागी परमाणुमे पाए जाते हैं जैसे स्पर्शके दो रूखा अथवा चिकना, गरम या ठढा अर्थात् कोई परमाणु रूखा होगा कोई चिकना होगा, कोई गरम होगा कोई ठंढ़ा होगा। रस एक कोई, गंध एक कोई, वर्ण एक कोई इस तरह पाच गुण परमाणुमें पाए जांयगे। दो परमाणुका या दोसे अधिक सख्यात, असंख्यात, अनत परमाणुओका मिलकर स्कंध बन जाता है। स्कंधमें एक समयमे सात गुण पाएं जांयगे हलका या भारी, कोमल या कठोर ऐसे दो और बढ़

जायगे। इन स्कंधोंकी अनेक अवस्थाएं जगतमें होरही है। उन्हींका दिग्दर्शन करानेके लिये पुद्गलकी छः जातिकी अवस्थाएं बताई गई हैं—

(१) स्थूल स्थूल—जिसके खंड किये जावें तो वे बिना किसी तीसरा जोड़ मिलाये स्वयं न मिल सकें। जैसे कागज, लकड़ी, कपड़ा, पत्थर आदि।

(२) स्थूल—जिसको अलग करनेपर बिना दूसरी चीजके जोड़े मिल जावें जैसे पानी, शरबत, दूध आदि बहनेवाले पदार्थ।

(३) स्थूल सूक्ष्म—जो नेत्र इंद्रियसे जाने जावें तथा जिनको हम पकड़ न सकें जैसे छाया, आताप, उद्योत।

(४) सूक्ष्म स्थूल—जो नेत्र इंद्रियसे न जाने जावें किन्तु अन्य चार इंद्रियोंमें किसीसे जाने जासकें जैसे शब्द, रस, गंध, स्पर्श।

(५) सूक्ष्म—जो इंद्र पांचों ही इंद्रियोंसे न जाने जासकें जैसे कार्माण वर्गणा आदि।

(६) सूक्ष्म सूक्ष्म—अविभागी पुद्गल परमाणु। यहांपर पहले ही इनका लक्षण कर चुके हैं कि जो इंद्रियोंसे ग्रहण किया जावे सो मूर्तीक है। परन्तु यहां सूक्ष्म सूक्ष्म जब इंद्रियोंसे नहीं ग्रहण किये जा सके तब उनको मूर्तीक न मानना चाहिये? इस शंकाका समाधान यह है कि इन सबोंमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण है जिनको इंद्रियां ग्रहण कर सक्ती हैं परन्तु ये ऐसी दशामें है जिनको इंद्रिय अगोचर व्यवहारमें कहते है। ये ही जब भेद संघातसे परिणमते है तब कालांतरमें इंद्रियोंके गोचर हो जाते हैं उनमें शक्ति तो है परन्तु व्यक्ति कालान्तरमें हो जायगी। इसलिये सूक्ष्म भी इंद्रियगोचर मूर्तीक कहे जाते है। यदि मूर्तीकपना

परमाणुओंमें नहीं होता तो इन्हींके बने हुए स्थूल स्कंध इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। पुद्गलकी सर्व रचना परमाणुओंके मिलने विछुड़नेसे हुआ करती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये सब परमाणुओंके भिन्न २ प्रकारके बंधके संगठनकी अपेक्षा नाना प्रकार स्कंध हैं। ऐसा नहीं है कि इनके परमाणु अलग अलग ही हैं। क्योंकि जगतमें देखनेमें आता है कि ये चारों परस्पर अदलते बदलते रहते हैं जैसे लकड़ीसे अग्नि बनती है, जौनामा अन्नसे पेटमें वायु पैदा होती है, चंद्रकांति मणि पृथ्वीकायसे चंद्रमाकी किरणका सम्बंध होनेपर जल झड़ने लगता है। सूर्यकांतिमणि पृथ्वीकाय है, सूर्य किरणका सम्बन्ध होनेपर उसमेसे अग्नि प्रगट होजाती है, जलसे पृथ्वीकाय मोती पैदा हो जाता है, अग्निसे धूआं बन जाता है जिसको एक तरहकी वायु कहते हैं, वायुके मिलानेसे जल बन जाता है। जल जमकर बरफकी शिलारूप पृथ्वी बन जाती है, क्योंकि कठोरता आदि प्रगट हो जाते हैं। इसतरह परिवर्तन होते होते पुद्गल परमाणुओंकी ही अनेक अवस्थाएं माननी चाहिये। यदि पृथ्वी जल आदिके भिन्न २ परमाणु होते तो परिवर्तन नही होता।

यदि यह कहा जाय कि यद्यपि पृथ्वीमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण चारों हैं क्योकि चारों इन्द्रियोंसे जाने जा सके हैं परन्तु जलमे गंध नही है, क्योकि नाक जलको नहीं सूंघ सक्ती, अग्निमे गंध रस नहीं है-क्योकि घ्राण तथा जिह्वा ग्रहण नहीं कर सक्ती। पवनमे गंध, रस, वर्ण नही है क्योकि घ्राण, जिह्वा और नेत्र उसको ग्रहण नही करते हैं। इसका समाधान यह है किपुद्गल

कभी भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणोंसे छूट नही सक्ता किंतु अनेक प्रकारके स्कंधोंमें कोई स्कंध किसी गुणको प्रगट रूपसे दिखाते हैं कोई किसी गुणको अप्रगटपने रखते हैं। गुण, गुणीसे कभी जुदे नहीं हो सक्ते। यदि सूक्ष्मतासे देखा जावे तो इन जलादिमें अन्य गुण भी प्रगट झलक जांयगे। जलको हम सूंघ भी सक्ते हैं परन्तु उसकी गंध स्पष्ट नहीं मालूम होगी। कभी किसी जलकी मालूम भी हो जायगी। एक वस्तु जल संयोगके विना भिन्न गंधको रखती है वही वस्तु जल संयोगसे गंधको बदल देती है। सूखा आटा और गीला आटा भिन्न २ गंधको प्रगट करते हैं। यदि जलमें गंध न होती तो ऐसा नहीं हो सक्ता। अग्निसे पकाए हुए भोजनोंमें भिन्न प्रकारका रस तथा गंध होजाता है। यदि अग्निमे रस या गंध नहीं होते तो ऐसा नहीं हो सक्ता था। पवनके सम्बन्धसे वृक्षादिमे भिन्न प्रकारका रस, गंध, वर्ण होजाता है। यदि पवनमें ये रस, गंध, वर्ण न होते तो इसके संयोगसे विलक्षणता न होती। पुद्गलोमे अनेक जातिके परिणमन होते हैं। हम अल्पज्ञानी किसी स्कंधको प्रगटपने चारों इंद्रियोंसे न ग्रहण कर सकें परन्तु सूक्ष्मज्ञानी हरएक परमाणुमात्रमें भी चारों ही गुणोंको जानते देखते हैं। हम शक्तिके अभावसे यदि न जानें तो क्या उन गुणोंका अभाव हो सक्ता है? कदापि नहीं। शब्द भी पुद्गलकी अवस्था विशेष है। दो पुद्गलोंके एक दूसरेसे टक्कर खानेपर जो भाषा वर्गणा तीन लोकमे फैली है उनमे शब्दपना प्रगट होजाता है। यह पुद्गलका गुण नही है, किन्तु बाह्य और अंतरंग निमित्तसे पैदा होनेवाली एक विशेष अवस्था है।

इस अवस्थाको पुद्गलकी व्यंजन पर्याय कह सक्ते हैं। जो जो पर्यायें स्कंधोंकी होती हैं वे सब व्यंजन पर्याय हैं। आकारके पलटनेको ही व्यंजन पर्याय कहते हैं। अमूर्तीक आकाशका गुण शब्द नहीं हो सक्ता क्योंकि शब्द मूर्तीक है इसीलिये कर्ण इंद्रियके गोचर है तथा अन्य पवन, आग, जल, पृथ्वीकी तरह रोका जा सक्ता है।

शब्द सूक्ष्म स्थूल है इसीलिये कर्णके सिवाय और इंद्रियें उसको ग्रहण नहीं कर सक्ती।

शब्द अक्षर रूप भी होते हैं अनक्षर रूप भी होते हैं। मनुष्योंके शब्द अक्षररूप, पशुओंके अनक्षररूप होते हैं। मनुष्यकी प्रेरणासे तरह तरहके बाजेके शब्द अनक्षर होते है, तथा स्वाभाविक बादलोंकी गर्जना होना, बिजलीका तड़कना, अग्निका चटकना आदि अनक्षररूप शब्द होते है।

वृत्तिकारने जैसा दिखाया है उसको समझकर पुद्गलके भी शुद्ध अशुद्ध भेद समझ लेना। जो परमाणु बंध योग्य नहीं है वह शुद्ध है तथा जो बंधरूप है वह अशुद्ध है। जैसे स्निग्ध व रूक्ष गुण पुद्गलके बंधका कारण हैं वैसे राग द्वेष मोह संसारी आत्माके बंधका कारण है। इसलिये जो जीव बंधकी अवस्थासे हटकर अबंध होना चाहते हैं उनको उचित है कि वे रागद्वेष मोहको त्याग करके साम्यभावरूपी चारित्रको धारण करें। यह तात्पर्य है।

श्री पंचास्तिकायमें आचार्य महाराजने पृथ्वी आदिका कारण परमाणु है तथा शब्द पुद्गलका गुण नहीं है किन्तु एक विशेष जातिका पुद्गलोंका परिणमन हैं, ऐसा बताया है—

आदेशमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥

भावार्थ–जो संज्ञा आदि भेदसे मूर्तिमान है, प्रदेशापेक्षा वर्णादिमई मूर्तिसे अभेद है; पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार धातुओंका कारण है, परिणमन स्वभाव है, स्वयं शब्दरहित है सो परमाणु है ।

सद्दो खंधप्पभवो खधो परमाणुसगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥

भावार्थ–शब्द स्कंधोंके द्वारा पैदा होता है, स्कंध परमाणुओंके मेलसे बनते हैं और उन स्कंधोके परस्पर संघट्ट होनेपर शब्द पैदा होता है–भाषा वर्गणा योग्य सूक्ष्म स्कंध जो शब्दके अभ्यंतर कारण हैं लोकमें हर जगह हर समय मौजूद हैं । जब तालु, ओठ आदिका व्यापार होता है या घंटेकी चोट होती है या मेघादिका मिलान होता है तब भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल स्वयं शब्द रूपमें परिणमन कर जाते है । निश्चयसे भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल ही शब्दोंके उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ ४१ ॥

उत्थानिका–आगे आकाश आदि अमूर्त्त द्रव्योंके गुणोंको बताते हैं.—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥ ४२ ॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ ४३ ॥

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम् ।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुण पुनः स्थानकारणता ॥ ४२ ॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः ।
ज्ञेया सक्षेपाद् गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥४३॥ (युगलम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(आगासस्सवगाहो) आकाश द्रव्यका विशेष गुण सर्व द्रव्योको जगह देना ऐसा अवगाह गुण है, (धम्मदव्वस्स गमणहेदुत्तं) धर्म द्रव्यका विशेषगुण जीव पुद्गलोंके गमनमे कारण ऐसा गमनहेतुत्त्व है, (पुणो धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो ठाण कारणदा) तथा अधर्म द्रव्यका विशेष गुण जीव पुद्गलोंको स्थितिका कारण स्थानकारणता है, (कालस्स वट्टणा से) काल द्रव्यका विशेष गुण सभी द्रव्योमे समय२ परिणमनकी प्रवृत्तिका कारण वर्तना है और (अप्पणो गुणोवओत्ति भणिदो) आत्माका विशेष गुण उपयोग है ऐसा कहा गया है। (हि) निश्चयसे (मुत्तिप्पहीणाणं गुणा) मूर्ति रहित द्रव्योके विशेष गुण इस तरह (संखेवादो णेया) संक्षेपसे जानने योग्य है ।

विशेषार्थ-सर्व द्रव्योको साधारणरूपसे अवगाह देनेका कारणपना आकाशका ही विशेष गुण है क्योकि अन्य द्रव्योंमे यह गुण असंभव है इसलिये इस विशेष गुणसे आकाशका निश्चय होता है। एक समयमें गमन करते हुए सर्व जीव तथा पुद्गलोको साधारण गमनमे हेतुपना धर्म द्रव्यका ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योमे यह असंभव है। इसी गुणसे धर्म द्रव्यका निश्चय होता है। इसी तरह एक समयमे स्थिति करते हुए जीव पुद्गलोको साधारण स्थितिमे कारणपना अधर्म द्रव्यका ही विशेष गुण है क्योकि अन्य द्रव्योमे यह असम्भव है। इसी गुणसे अधर्म द्रव्यका निश्चय होता है। एक समयमे सर्व द्रव्योकी पर्यायोके परिणमनमें हेतुपना काल द्रव्यका विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योमें यह असम्भव है। इसी गुणसे काल द्रव्यका निश्चय होता है।

सर्व जीवोंमें साधारण ऐसा सर्व तरह निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन जीव द्रव्यका विशेष गुण है क्योंकि अन्य पांच अचेतन द्रव्योंमें यह असम्भव है, इसी विशेष उपयोग गुणसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्यका निश्चय होता है। यहां यह प्रयोजन है कि यद्यपि पाच द्रव्य जीवका उपकार करते है तो भी इनको दुःखका कारण जान करके जो अक्षय और अनन्त सुख आदिका कारण विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप परमात्म द्रव्य है उसीको ही मनसे ध्याना चाहिये वचनसे उसका ही वर्णन करना चाहिये तथा शरीरसे उसीका ही साधक जो अनुष्ठान या क्रिया कर्म है उसको करना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने अमूर्तिक पाच द्रव्योंके विशेष गुण बताये है। एक समयमें सर्व द्रव्योंको साधारण अवकाश देने-वाला कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये यह गुण सिवाय आकाशके और किसी द्रव्यमें नहीं हो सक्ता क्योंकि आकाश अनन्त है, उसीके मध्यमें अन्य पाच द्रव्य अवगाह पारहे है तथा लोकाका-शमें जहा कहीं कोई जीव या पुद्गल जगहकी जरूरत रखते हैं उनको अवकाश देनेवाला उदासीन कारणरूप आकाशका ही अव-गाह गुण है। हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त कारणकी जरूरत पडती है। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और कालके असंख्यात कालाणु तो क्रिया अर्थात् हलन चलनरहित है, अनादिकालसे लोका-काश व्यापी है। जीव पुद्गल ही क्रियावान तथा हलन चलन करते है। ये दोनों द्रव्य अपनी ही उपादान शक्तिसे जगह लेते, चलते तथा ठहरते है। इनके इन तीन कार्योंके लिये सर्व जीव पुद्गलोंके

लिये एक साधारण निमित्त कारण अवकाश देनेमें आकाश द्रव्य है, गमन करनेमें धर्म द्रव्य है, स्थिति होनेमें अधर्म द्रव्य है। सर्व ही द्रव्य परिणमनशील हैं उनमे पर्यायकी पलटन अपनी ही उपादान शक्तिसे होती है परन्तु उनके परिणमनमें निमित्त कारण कालद्रव्य है। आत्मा ज्ञान दर्शन उपयोग रखता है यह आत्माका विशेष गुण है जो औरोंमे नहीं पाया जाता। आत्मा ज्ञाता भी है, ज्ञेय भी है जब कि सब द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं, ज्ञाता नहीं है। ये पांच द्रव्य स्पर्श, रस, गंध है, वर्णसे रहित हैं इसी लिये अमूर्तीक हैं, पुद्गल मात्र मूर्तीक है। इन छहों द्रव्योंके भीतर एक निज आत्मा ही ग्रहण योग्य है ॥ ४४ ॥

इस तरह किस द्रव्यके क्या विशेष गुण होते हैं ऐसा कहते हुए तीसरे स्थलमे तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे कालद्रव्यको छोड़कर जीव आदि पांच द्रव्योंके अस्तिकायपना है ऐसा व्याख्यान करते हैं-

जीवा पोग्गलकाया धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं ।
देसेहिं असंखादा णत्थि पदेसत्ति कालस्स ॥ ४४ ॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् ।
प्रदेशैरसख्याता न संति प्रदेशा इति कालस्य ॥ ४४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीवा पोग्गलकाया) अनन्तानंत जीव और अनंतानन्त पुद्गल (धम्माऽधम्मा) एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य (पुणो य आयासं) और एक आकाशद्रव्य (देसेहि असं-खादा) अपने प्रदेशोकी गणनाकी अपेक्षा संख्यारहित हैं, (कालस्स णत्थि पदेसत्ति) काल द्रव्यके बहुत प्रदेश नहीं हैं।

विशेषार्थ-हरएक जीव संसारकी अवस्थामें व्यवहार नयसे अपने प्रदेशोमें संकोच विस्तार होनेके कारणसे दीपकके प्रकाशकी तरह अपने प्रदेशोकी संख्यामे कमी व वढ़ती न होता हुआ शरीरके प्रमाण आकार रखता है तौभी निश्चयसे लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशवाला है। धर्म और अधर्म सदा ही स्थित हैं उनके प्रदेश लोकाकाशके बराबर असंख्यात हैं। स्कंध अवस्थामें परिणमन किये हुए पुद्गलोंके संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं, किन्तु पुद्गलके व्याख्यानमें प्रदेश शब्दसे परमाणु ग्रहण करने योग्य है, क्षेत्रके प्रदेश नहीं क्योकि पुद्गलोंका स्थान अनन्त प्रदेशवाला क्षेत्र नहीं है। सर्व पुद्गल असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाशमें हैं उनके स्कंध अनेक जातिके बनते हैं- सख्यात परमाणुओके, असंख्यात परमाणुओंके तथा अनत परमाणुओंके स्कंध बनते है वे सूक्ष्म परिणमनवाले भी होते हैं इससे लोकाकाशमे सब रह सक्ते है। एक पुद्गलके अविभागी परमाणुमें प्रगटरूपसे एक प्रदेशपना है मात्र शक्तिरूपसे उपचारसे बहुप्रदेशीपना है क्योकि वे परस्पर मिल सक्ते हैं। आकाशद्रव्यके अनंत प्रदेश हैं। कालद्रव्यके बहुत प्रदेश नहीं है। हरएक कालाणु कालद्रव्य है सो एक प्रदेश मात्र है। कालाणुओमे परमाणुओकी तरह परस्पर सम्बन्ध करके स्कंधकी अवस्थामे बदलनेकी शक्ति नही है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने पाच अस्तिकायोको गिनाया है। जितने क्षेत्रको एक अविभागी पुद्गलका परमाणु रोकता है उसको प्रदेश कहते है यह एक प्रकारका माप है। इस मापसे यदि छः द्रव्योंको मापा जाता है तो अखंड एक जीव द्रव्यके, अखंड

एक घर्मद्रव्यके, अखंड एक अधर्म द्रव्यके प्रत्येकके असंख्यात प्रदेश लोकाकाशके समान मापमे आते हैं तथा अखण्ड एक आकाशके अनन्त प्रदेश हैं । ससारी जीव शरीर प्रमाण सकुड़ने फैलनेकी अपेक्षा रहते हैं—जीवके प्रदेशोमें ऐसी शक्ति है कि नाम कर्मके उदयके अनुसार छोटे शरीरमें छोटे शरीर प्रमाण व बड़े शरीरमें बड़े शरीर प्रमाण हो जाते है तौ भी असंख्यातकी मापको नही छोड़ते हैं । सिद्ध जीव अतिम शरीरसे कुछ कम आकारवान रहते है । क्योकि नामकर्मके विना मोक्ष होनेपर आत्माके प्रदेश न सकुड़ते हैं न फैलते हैं । पुद्गलद्रव्य जब एक अविभागी परमाणुरूपमें होता है तब तो वह एक प्रदेशवाला है, परन्तु उसमे मिलनेकी शक्ति है इस लिये उसको व्यवहारसे बहुप्रदेशवाला कहते हैं । इन परमाणुओके स्कंध रूक्ष चिक्कण गुणके कारण बन जाते हैं । स्कंधकी अपेक्षा पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओको रखनेसे संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं । कालद्रव्य रत्नके ढेरके समान लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें अलग२ है वे कभी मिल नहीं सक्ते इससे हरएक कालद्रव्य एक प्रदेशी है—काय-वान् नही है, तब काल सिवाय पांच द्रव्य ही कायवान ठहरे । ऐसा ही श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें कहा है।—

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविहपदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥

अर्थात्—एक जीव, धर्म, अधर्ममे असंख्यात, असंख्यात, आकाशमे अनंत, पुद्गलमें सख्यात, असंख्यात, अनंत तीन प्रकार प्रदेश होते हैं जब कि कालका एक ही प्रदेश होता है इसलिये वह काय नही है ॥ ४४ ॥

उत्थानिका-आगे ऊपरके ही भावको दृढ़ करते है-

एदाणि पंच दव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकायत्ति ।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥ ४५ ॥

एतानि पंचद्रव्याणि उज्झितकाल तु अस्तिकाया इति ।
भण्यते कायाः पुनः बहुप्रदेशाना प्रचयत्त्व ॥ ४५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(एदाणि दव्वाणि) ये छः द्रव्य (उज्झिय काल तु) काल द्रव्यको छोड़कर (पंच अत्थिकायत्ति) पाच अस्तिकाय है ऐसे (भण्णते) कहे जाते है (पुण) तथा (बहुप्प-देसाण पचयत्तं काया) बहुत प्रदेशोके समूहको काय कहते हैं ।

विशेषार्थ-इन पाच अस्तिकायोंके मध्यमे एक जीव अस्ति-काय ही ग्रहण करने योग्य है । उनमे भी अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पाच परमेष्ठीकी अवस्था, इनमेसे भी अरहंत और सिद्ध अवस्था फिर इनमेसे भी मात्र सिद्ध अवस्था ग्रहण करनी योग्य है । वास्तवमे तो या निश्चयनयसे तो रागद्वेषादि सर्व विक-ल्पजालोके त्यागके समयमें सिद्ध जीवके समान अपना ही शुद्धा-त्मा ग्रहण करने योग्य है यह भाव है ।

भावार्थ-सुगम है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार पाच अस्तिकायकी सक्षेपमे सूचना करते हुए चौथे स्थलमे दो गाथाए पूर्ण हुईं ।

उत्थानिका-आगे द्रव्योका स्थान लोकाकाशमे है ऐसा बताते है-

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ ४६ ॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोकः ।
शेषो प्रतीत्य कालो जीवाः पुनः पुद्गलाः शेषौ ॥ ४६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(णमो) आकाश द्रव्य (लोगोलोगेसु) लोक और अलोकमे है (सेसे पडुच्च) शेष जीव पुद्गलको आश्रय करके (लोगो धम्माधम्मेहि आददो) लोक धर्म और अधर्म द्रव्यसे व्याप्त है तथा (कालो) काल है। (पुण सेसा जीवा पुग्गला) और वे दो शेष द्रव्य जीव और पुद्गल हैं।

विशेषार्थः-लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोका आधार एक आकाश द्रव्य है इनमेसे जीव पुद्गलोंकी अपेक्षासे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय हैं जिनसे यह लोकाकाश व्याप्त है। अर्थात् इस लोकाकाशमे जीव और पुद्गल भरे हैं उनहीको गति और स्थतिको कारण रूप ये धर्म अधर्म भी लोकमे है। काल भी इन जीव पुद्गलोंकी अपेक्षा करके लोकमे है क्योकि जीव पुद्गलकी नई पुराणी अवस्थाके होनेसे काल द्रव्यकी समय घड़ी आदि पर्याय प्रगट होती हैं। तथा जीव और पुद्गल तो इस लोकमें हैं ही। यहां यह भाव है कि जैसे सिद्ध भगवान यद्यपि लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेशोंमें है जो प्रदेश केवलज्ञान आदि गुणोंके आधारभूत हैं तथा अपने २ स्वभावमे ठहरते हैं तथापि व्यवहार नयसे मोक्षशिलामे ठहरते है ऐसे कहे जाते हैं तैसे सर्व पदार्थ यद्यपि निश्चयसे अपने अपने स्वरूपमे ठहरते हैं तथापि व्यवहार नयसे लोकाकाशमे ठहरते है। यहां यद्यपि अनन्त जीव द्रव्योसे अनन्त गुणे पुद्गल हैं तथापि एक दीपके प्रकाशमें जैसे बहुतसे दीपकोंके प्रकाश समाजाते हैं तैसे विशेष अवगाहनाकी

शक्तिके योगसे असंख्यात प्रदेशी लोकमे ही सर्व द्रव्योका स्थान पालेना विरोधरूप नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामे आचार्यने बताया है कि आकाश एक अखंड अनंत व्यापक है उसीके दो भाग कहे जाते है। जितने भागमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य है उसको लोकाकाश कहते है, शेषको अलोकाकाश कहते है। जीव और पुद्गल इस लोकमें सर्व जगह भरे हैं। जीव अनन्तानत है। यद्यपि एक जीव लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है तथापि केवल समुद्घातके सिवाय कभी लोकभरमे व्यापता नहीं है। कषाय, वेदना, वैक्रियिक, तैजस, आहारक, मारणातिक समुद्घातोमे भी शरीरसे बाहर फैलकर आत्माके प्रदेश जाते है और कुछ देर बाद शरीर प्रमाण हो जाते है तथापि इन सात समुद्घातोके सिवाय संसारी सब आत्माए अपने नाम कर्मके उदयसे प्राप्त शरीरके आकार प्रमाण आकार रखते हैं। आत्माके प्रदेशोमें सकोच विस्तार शक्ति है, जो शक्ति नामकर्मके निमित्तसे परिणमन करती हुई जीवके प्रदेशोको सकोचित व विस्तारित कर देती है। लोक प्रमाणसे अधिक एक प्रदेश भी विस्तार नही हो सक्ता है। मुक्त जीव अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारमे रहते है।

संसारी जीवोके शरीर सूक्ष्म और वादर दो प्रकारके है। सूक्ष्म शरीरधारी प्राणी तथा वादर शरीरधारी प्राणी साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद राशि ऐसी है कि जिसके घनागुलके असंख्यातवें भाग शरीरमे अनन्त जीव परस्पर अवगाह देकर ठहर सक्ते हैं। वे एक साथ जन्मते, श्वास लेते, आहार करते

तथा मरण करते हैं। इनके सिवाय सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कायिक जीव भी लोकभरमे व्याप्त हैं। सूक्ष्म जीव किसीको रोकते नही न किसीसे रोके जाते हैं, वे अग्निमे जलते नहीं तथा किसीसे मारे नही जाते हैं। बादर शरीरधारी एकेन्द्री पांच प्रकारके, द्वेइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री तथा पंचेन्द्रिय जीव भी लोकमें यथासंभव सर्वत्र पाए जाते है ये बादर जीव आधारमें पैदा होते हैं तथा यथायोग्य परस्पर रुकते और रोकते भी है और अन्यो द्वारा मरण भी प्राप्त करते हैं। इनमेसे भी त्रसनाड़ीमें ही द्वेन्द्रियादि त्रस जीव हैं, त्रस नाड़ीके बाहर त्रस एक भी नही जन्मता है। स्थावर एकेंद्रिय जीव लोकमें सर्व जगह हैं। एक एक जीवके साथ अनंत पुद्गल वर्गणाए हैं इससे जीवोकी अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुणे है तथा जीवोके प्रदेशोंके बाहर अनन्त पुद्गल वर्गणाए हैं जिनमें बहुतसी सूक्ष्म है जो एक दूसरेको अवगाह देदेती है। स्निग्ध रूक्ष गुणोके कारण पुद्गल परस्पर मिलकर अनेक जातिके सूक्ष्म और बादर स्कंध बना लेते है। ये पुद्गल भी लोक भरमें जीवोंकी तरह मौजूद है- कोई स्थान लोकाकाशका ऐसा नहीं है कि जहां जीव और पुद्गल न हों। संसारी सर्व जीव और पुद्गल क्रियावान रहते है अर्थात् हलन चलन शक्तिको रखते हुए गमन करते हैं और स्थिति करते हैं। इनके अवगाह देनेमे जैसे लोकाकाश द्रव्य निमित्त कारण है वैसे इनके गमनमे धर्मद्रव्य और स्थितिमें अधर्मद्रव्य उदासीन निमित्त कारण है। कालद्रव्य भी जीव और पुद्गलोंकी अपेक्षासे लोकभरमे है। इनकी संख्या असख्यात कालाणु है। ये कालाणु सर्व द्रव्योंके नए पुराने होने-

रूप परिणमनमें उदासीन निमित्त कारण है। इन कालाणुओंकी ही समय समय जो परिणति होती है उससे जो समय नामका व्यवहारकालरूप पर्याय प्रगट होती है सो पुद्गलके निमित्तसे होता है। जब एक पुद्गल एक कालाणुको उलंघकर निकटवर्ती कालाणुपर जाता है उतनी देरमें जो कुछ समय लगा उसीको कालद्रव्यकी समय पर्याय कहते है। जब एक जीव किसी क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गया या एक पुद्गल किसी क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गया तब उसके गमनमें जो घंटा, दो घंटा, चार घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास आदि काल लगा उस सबको व्यवहारकाल कहते है। ये सब व्यवहारकालके भेद समय नामा सूक्ष्मकालके समय समय वीतते हुए समयोंका समुदाय है। इस तरह इस लोकमें जीव पुद्गलोकी मुख्यतासे उपकारी धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और आकाश द्रव्य है। इन छहोंके समुदायको लोक कहते हैं।

वृत्तिकारने बताया है कि यद्यपि सिद्ध भगवान निश्चयसे अपने ही स्वभावमे तथा अपने ही प्रदेशोंमे तिष्ठते हैं तथापि व्यवहारसे वे सिद्धशिलाके ऊपर सिद्धक्षेत्रमे तनुवातवलयके भीतर लोकाग्र तिष्ठते हैं। इसी तरह सर्व ही द्रव्य निश्चयसे अपने अपने स्वभावमे अपने२ प्रदेशोंमें ठहरते है तथापि व्यवहारनयमे लोकाकाशमे ठहरते हैं ऐसा कहा जाता है क्योंकि आकाश उन सबका आधार अनादिकालसे उदासीन रूपसे मौजूद है। लोकाकाशके सर्वसे छोटे प्रदेश नामके भागमे जिसको एक अविभागी पुद्गलका परमाणु रोकता है इतनी शक्ति है कि अनंत परमाणु उसमें स्थान पाजावें। मात्र स्थूल पुद्गल स्कंध, स्थूल तथा स्थूल स्थूलको और स्थूल स्थूल पुद्गल स्कंध, स्थूल

तथा स्थूल स्थूलको जगह नहीं देते किन्तु स्थूल सूक्ष्म और सूक्ष्म स्थूल, तथा सूक्ष्म और सूक्ष्म सूक्ष्म सभी प्रकारके पुद्गलोंको तथा स्थूल और स्थूल स्थूल पुद्गल स्थूल सूक्ष्म तथा सूक्ष्म स्थूल आदिको यथासंभव स्थान दे सक्ते हैं इनमें भी विशेष अवगाहना शक्ति है। जैसे स्थूल सूक्ष्म दीपका प्रकाश, चंद्रका प्रकाश, तथा धूप, छाया आदि है जहां ये हों वहां अनेक दीपकोंका प्रकाश व अनेक अन्य पुद्गल सुखसे जगह पालते हैं। शब्द, वायु आदि सूक्ष्म पुद्गल स्कंध हैं। जहां एक दो शब्द गूंज रहे हों वहां और अनेक शब्द आसक्ते हैं तथा अन्य पुद्गल स्कंध भी जहां वायु भरी हो वहां अन्य वायु व अन्य पुद्गल स्कंध भी आसक्ते हैं। इस तरह मूर्तीक पुद्गल एक दूसरेको स्थान देते हैं। इसमें कोई प्रकारका विरोध नहीं है जो असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमे अन्य निर्बाध अमूर्तीक द्रव्योके साथ साथ अनंत पुद्गल स्थान प्राप्त कर लें। इस तरह यह बात दिखाई गई कि यह लोक सर्वत्र छ: द्रव्योसे भरा हुआ है। यद्यपि छः द्रव्य परस्पर मिल रहे है तथापि कोई द्रव्य अपने२ स्वभावको नहीं छोड़ते है जैसा कि श्री पंचास्तिकायमें कहा है:—

अण्णोण्ण पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥ ७ ॥

भावार्थ-ये छहो द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करते हुए, व नित्य एक दूसरेको अवकाश देते हुए तथा नित्य मिलते हुए अपने २ स्वभावको नहीं छोड़ते हैं, क्योकि इनमे अगुरुलघु नामका एक साधारण गुण है जो हरएक द्रव्यको व उसके अनंत

गुणोंको उसीरूप बनाए रखता है-न कोई गुण किसी द्रव्यसे छूटकर दूसरेमें मिलता है न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप होता है।

तात्पर्य यह है कि इन छहोद्रव्योंके मध्यमे पडे हुए अपने आत्माके स्वभावको सर्व पुद्गलादिसे भिन्न अपने निज शुद्ध स्वरूपमें अनुभव करना योग्य है ॥ ४६ ॥

उत्थानिका-जैसे एक परमाणुसे व्याप्त क्षेत्रको आकाशका प्रदेश कहते हैं वैसे ही अन्य द्रव्योंके प्रदेश भी होते है, ऐसा कहते हैं—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ ४७ ॥

यथा ते नभःप्रदेशा तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम् ।
अप्रदेश. परमाणु तेन प्रदेशोद्भवो भणित ॥ ४७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जध) जैसे (ते णभप्पदेसा) आकाशद्रव्यके वे अनन्त प्रदेश होते है (तधप्पदेसा सेसाणं हवंति) तैसे ही धर्मादि अन्य द्रव्योंके प्रदेश होते है। (परमाणू अपदेसो) एक अविभागी पुद्गलका परमाणु बहुप्रदेशी नहीं है (तेण) उस परमाणूसे (पदेसुब्भवो भणिदो) प्रदेशकी प्रगटता कही गई है।

विशेषार्थ-एक परमाणु जितने आकाशके क्षेत्रको रोकता है उसको प्रदेश कहते है उस परमाणुके दो आदि प्रदेश नहीं है। इस प्रदेशकी मापसे आकाश द्रव्यकी तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्यको आदि लेकर शेष द्रव्योंके भी प्रदेश होते हैं। इनका विस्तारसे कथन आगे करेंगे।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि द्रव्योंके माप करनेका गज प्रदेश है। जितने आकाशके क्षेत्रको एक पुद्गल

परमाणु रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं। इस मापसे यदि द्रव्योंको मापा जावे तो आकाशके अनंत, धर्म द्रव्यके असंख्यात, अधर्म द्रव्यके असंख्यात, पुद्गलके संख्यात, असंख्यात, अनंत व हरएक जीवके असंख्यात प्रदेश मापमें आवेंगे। काल द्रव्यका मात्र एक प्रदेश ही रहता है। यद्यपि हरएक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं तथापि यह जीव शरीरके प्रमाण संकुचित रहता है। केवल समुद्घातमें प्रदेश लोकव्यापी होते हैं। यह जीव बालकके शरीरमें छोटे प्रमाणका होता है। ज्यों २ बालक बढ़ता जाता है जीवके प्रदेश भी फैलते जाते हैं। इसके शरीरप्रमाण व संकोचने फैलनेकी क्रिया हम सबको प्रत्यक्ष प्रगट है। शरीरप्रमाण आत्मा है इसीसे शरीरके हरएक भागमें ज्ञान है व दुःख सुखका अनुभव है ॥ ४७ ॥

इस तरह पांचवें स्थलमें स्वतंत्र दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे काल द्रव्यके दो तीन आदि प्रदेश नहीं हैं मात्र एक प्रदेश है इसीसे वह अप्रदेशी है ऐसी व्यवस्था करते हैं—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ ४८ ॥

समयस्त्वप्रदेशः प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य ।
व्यतिपततः स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥ ४८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(समओ दु अप्पदेसो) काल द्रव्य निश्चयसे अप्रदेशी है (सो) वह काल द्रव्य (पदेशमेत्तस्स दव्वजादस्स) प्रदेश मात्र द्रव्यरूप परमाणुके (आगासदव्वस्स पदेसम्) आकाश द्रव्यके प्रदेशको (वदिवददो) उल्लंघन करनेसे (वट्टदि) वर्तन करता है।

विशेषार्थः—समय नामा पर्यायका उपादान कारण कालाणु है इससे कालाणुको समय कहते हैं। वह कालाणु दो तीन आदि प्रदेशोंसे रहित मात्र एक प्रदेशवाला है इससे उसको अप्रदेशी कहते हैं। वह कालाणु पुद्गल द्रव्यकी परमाणुकी गतिकी परिणति रूप सहकारी कारणसे वर्तन करता है। हरएक कालाणुसे हरएक लोकाकाशका प्रदेश व्याप्त है। जब एक परमाणु मदगतिसे ऐसे पास वाले प्रदेशपर जाता है तब इसकी गतिके सहायसे काल द्रव्य वर्तन करता हुआ समय पर्यायको उत्पन्न करता है। जैसे स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे पुद्गलके परमाणुओंका परस्पर बन्ध होजाता है इस तरहका बंध कालाणुओंका कभी नहीं होसक्ता है इसलिये कालाणुको अप्रदेशी कहते हैं। यहां यह भाव है कि पुद्गल परमाणुका एक प्रदेश तक गमन होना ही सहकारी कारण है, अधिक दूर तक जाना सहकारी कारण नहीं है इससे भी ज्ञात होता है कि कालाणु द्रव्य एक प्रदेशरूप ही है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने काल द्रव्यकी वर्तनाको व उसके एक प्रदेशीपनेको समझाया है। श्री अमृतचन्द्र आचार्यकी संस्कृतवृत्तिका यह भाव है कि कालाणु द्रव्य अप्रदेशी है, वह पुद्गल द्रव्यकी तरह व्यवहारसे भी बहुत प्रदेशी नहीं है क्योंकि वह कालाणु द्रव्य आकाश द्रव्यके प्रदेशोंके प्रमाण असंख्यात द्रव्य हैं, रत्नकी राशिके समान फैले हुए हैं तथापि वे परस्पर कभी मिलते नहीं हैं। एक एक आकाशके प्रदेशको व्याप्त करके कालाणु ठहरे हुए हैं। जब पुद्गल परमाणु मद गतिसे एक कालाणु व्याप्त आकाश प्रदेशसे निकटवर्ती कालाणु व्याप्त आकाश प्रदेशपर जाता है तब

काल द्रव्यकी वर्तना होती है अर्थात् उसकी समय पर्याय प्रगट होती है । श्री जयसेनाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य दोनोंकी वृत्तियोंसे यही बात प्रगट होरही है कि जैसे आकाशादि पांच द्रव्योंकी परिणतियोंके या पर्यायोंके पलटनेमें काल द्रव्य सहकारी उदासीन कारण है । यद्यपि वे पांचों ही द्रव्य अपनी शक्तिसे ही परिणमन करते हैं तैसे ही काल द्रव्यकी वर्तना अर्थात् समय समय परिणमनेमें पुद्गल परमाणुका एक कालाणु व्याप्त आकाशके प्रदेशसे दूसरे कालाणु व्याप्त आकाशके प्रदेशपर मंदगतिसे जाना सहकारी कारण है । उपादान कारण तो स्वयं कालद्रव्यकी शक्ति है । हरएक कार्यके लिये दो कारणोंकी आवश्यक्ता है—उपादान और निमित्त । पांचों द्रव्योंकी पर्यायोके होनेमे उपादान कारण वे स्वयं हैं परन्तु कालद्रव्य निमित्त सहकारी है । इसी तरह कालद्रव्यके वर्तमानमें उपादान कारण कालाणु है और सहकारी निमित्तकारण पुद्गल परमाणुका मंदगमन है । कालद्रव्यके वर्तनको ही समयकी प्रगटता या समय पर्याय कहते है । कालद्रव्यको यदि लोकाकाश प्रमाण अखंडद्रव्य माना जाता तो कालद्रव्यकी वर्तना नही हो सक्ती थी और न समय पर्याय ही उत्पन्न होती । आकाशद्रव्य तो अखंड है, उसके प्रदेश भिन्न २ नही है—आकाशमे प्रदेशोंकी कल्पना मात्र मापकी अपेक्षासे है । कालाणु अलग अलग होनेसे ही एक परमाणु मन्दगतिसे एक कालाणु व्याप्त प्रदेशसे दूसरे पर जा सक्ता है । अखंड कालद्रव्य लोकाकाशके बराबर मानते तो परमाणुकी नियमित मंदगति नहीं होती तब कालकी समय पर्याय नही पैदा होसक्ती । दो

खंभे भिन्न २ होने पर ही एक पग एकसे उठाकर दूसरेपर नियमित रूपसे रक्खा जा सक्ता है परन्तु यदि चौरस जमीन हो तो एक नियमित रूपसे पग नहीं पड़ सक्ता है—कभी अधिक क्षेत्र उल्लंघा जायगा कभी कम। इसी तरह कालाणु अलग अलग हैं तब ही परमाणुकी नियमित मंदगति संभव है। इस गतिकी सहायतासे ही कालकी समयनामा पर्याय होती है। इसलिये काल द्रव्यका एक प्रदेशपना सिद्ध है। इस विचारसे यह बात भी समझमे आजाती है कि लोकाकाशमें परमाणु भी भरे हैं और वे सब हलनचलन करते रहते है। एक परमाणुका कुछ हिलना ही एक कालाणुसे अन्य कालाणुपर जाना है। यही सहायक कारण है जिससे लोकाकाश व्याप्त सर्व कालाणु सदा परिणमन करते रहते है। परमाणु हलन चलन करते रहते हैं अर्थात् चल हैं इसका प्रमाण श्री गोम्मटसार जीवकांडमें इसतरह दिया गया है—

पोग्गलदव्वम्हि अणू सखेज्जादी हवंति चलिदा हु।
चरिममहक्खधम्मि य चलाचला होंति हु पदेसा ॥५९२॥

भावार्थ—पुद्गलद्रव्यमे परमाणु तथा संख्यात असंख्यात आदि अणुके जितने स्कंध है वे सभी चल है, किन्तु एक अंतिम महा स्कंध चलाचल है क्योंकि उसमें कोई परमाणु चल हैं, कोई परमाणु अचल है। परमाणुसे लेकर पुद्गल स्कंधके २३ भेद हैं।

उनमेंसे तेईसवा भेद महास्कंध हैं उसको छोडकर अणु, व संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा आदि बाईसवर्गणाएं सब चलरूप हैं—हलनचलन करती रहती हैं।

तात्पर्य-यह यह है कि कालद्रव्यके स्वभावको अपने आत्मासे भिन्न जानकर अपने निज ज्ञानानन्दमई स्वभावमें ही अपनेको निजानन्द लाभके लिये तन्मय होना योग्य है ॥ ४८ ॥

उत्थानिका-आगे पूर्व कहे हुए काल पदार्थके पर्याय स्वरूपको और द्रव्य स्वरूपको बताते हैं:—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अंत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धसी ॥ ४९ ॥

व्यतिपततस्तं देशं तत्सम: समयस्तत: पर: पूर्व: ।
योऽर्थ: स काल: समय उत्पन्नप्रध्वंसी ॥ ४९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ:-(तं देसं) उस कालाणुसे व्याप्त आकाशके प्रदेशपर (वदिवददो) मंदगतिसे जानेवाले पुद्गल परमाणुको (तस्सम समओ) जो कुछ काल लगता है उसीके समान समय पर्याय है। (तदो परो पुव्वो जो अत्थो) इस समय पर्यायके आगे और पहले जो पदार्थ है (सो कालो) वह काल द्रव्य है। (समओ उप्पण्ण पद्धंसी) समय पर्याय उत्पन्न होकर नाश होनेवाली है।

विशेषार्थ:-जब तक एक पुद्गलका परमाणु मंदगतिसे एक कालाणुव्याप्त आकाशके प्रदेशसे दूसरे कालाणु व्याप्त आकाशके प्रदेशपर आता है तबतक उसमे जो काल लगता है उसीके समान कालाणु द्रव्यकी सूक्ष्म समय नामकी पर्याय होती है- यही व्यवहारकाल है। कालद्रव्यकी पर्यायका यह स्वरूप कहा गया। इस समय पर्यायके उत्पन्न होनेके पहले जो अपनी पूर्व पूर्व समय पर्यायोमे अन्वय रूपसे बराबर चला आरहा है व आगामी कालमे होनेवाली समय पर्यायोमें अन्वय रूपसे बराबर चला

जायगा वह कालद्रव्य नामा पदार्थ है । यद्यपि यह समय पर्याय पूर्वकालकी और उत्तरकालकी समयोंकी संतानकी अपेक्षा सख्यात असंख्यात तथा अनन्त समय रूप है तथापि वर्तमानकालका समय उत्पन्न होकर नाश होनेवाला है, किन्तु जो पूर्वमे कहा हुआ द्रव्यकाल है वह तीनो कालोमे स्थाई होनेसे नित्य है। इस तरह कालद्रव्यको पर्यायस्वरूप और द्रव्यस्वरूप जानना योग्य है ।

अथवा इन दो गाथाओसे समयरूप व्यवहार कालका व्याख्यान किया जाता है। निश्चय कालका व्याख्यान तो "उप्पादो पठ्भसो" इत्यादि तीन गाथाओसे आगे करेगे । सो इस तरहपर है कि प्रदेशमात्र पुद्गल द्रव्यरूप परमाणुकी मदगतिसे किसी विवक्षित एक आकाशके प्रदेशपर जाते हुए जो वर्तन करती है वह निश्चय कालकी समय पर्याय अश रहित है। यह पहली गाथाका व्याख्यान है । वह परमाणु उस आकाशके पदेशपर जब पतन करता है तब उस पुद्गल परमाणुके मन्दगतिसे गमनमे जो काल लगा है उसीके समान समय है इसलिये एक समय अश रहित है । अर्थात् समय सबसे छोटा काल है । इस तरह वर्तमान समय कहा गया । अब आगे पीछेके समयोको कहते है कि इस पूर्वमे कहे हुए वर्तमान समयसे आगे कोई समय होयगा तथा पूर्वमे कोई समय होचुका है इस प्रकार अतीत, अनागत, वर्तमानरूपसे तीन प्रकार व्यवहारकाल कहा जाता है । इन तीन प्रकार समयोमे जो कोई वर्तमानका समय है वह उत्पन्न होकर नाश होनेवाला है । अतीत और अनागत संख्यात, असख्यात और अनंत समय है । इस तरह स्वरूपके धारी कालके होते हुए भी यह जीव अपने

परमात्म तत्वको नहीं प्राप्त करता हुआ भूतकी अपेक्षा अनन्तकालसे इस संसारसमुद्रमें भ्रमता चला आया है इसलिये ही अब इसके लिये अपना ही परमात्म तत्व सब तरहसे ग्रहण करने योग्य मानकर श्रद्धान करने योग्य है, व स्वसंवेदन ज्ञानसे जानने योग्य है तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाको आदि लेकर सर्व रागादि भावोंको त्यागकर ध्यान करने योग्य है ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रूपसे काल द्रव्यकी सिद्धि की है। जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हो उसीको द्रव्य कहते हैं। काल द्रव्यकी वर्तमान समय पर्यायका पुद्गल परमाणुकी निकटवर्ती कालाणुपर मंदगतिसे आने रूप सहकारीकारणसे उत्पन्न होना सो उत्पाद है। इस समयपर्यायके होते हुए पूर्व समयपर्यायका नाश होना सो व्यय है और जिसकी वह समयपर्याय थी व है व आगामी होगी वह कालद्रव्य ध्रौव्य है। कालका गुण वर्तना है अर्थात् आप स्वयं वर्तन करके दूसरे द्रव्योंके वर्तनेमें सहकारी कारण होना है–इस तरह कालद्रव्य सिद्ध है। वृत्तिकारने दूसरा अर्थ केवल व्यवहारकालकी अपेक्षासे किया है उसका भी भाव यह है कि वर्तमान समय पर्यायके सदृश अनंतानंत समय पर्याय भूतकालमे हो चुकी व अनन्तानन्त समय पर्याय भविष्यमें होंगी इन समस्त तीन कालवर्ती समयोंको व्यवहारकाल कहते हैं। समय पर्यायका उपादानकारण कालद्रव्य है निमित्तकारण पुद्गल परमाणुकी मंदगति है। इस मंदगतिमें जो कुछ समय लगता है वह सबसे छोटा समयरूप कालकी पर्यायरूप अंश है। यद्यपि एक परमाणुमें यह भी शक्ति है कि यदि वह शीघ्र गतिसे जावे तो

एक समयमें १४ राजू जासक्ता है तथापि उस समयके भाग नहीं हो सक्के। जितना समय परमाणुको निकटके कालाणुपर आनेमें लगता है उतना ही समय उसको १४ राजू जानेमें लगता है। यह परमाणुकी विलक्षण शक्ति है। जैसे एक आकाशके प्रदेशकी यह विलक्षण शक्ति है कि एक परमाणुसे व्याप्त होनेपर भी अनंत अन्य परमाणुओंको स्थान दे सक्ता है और इस प्रदेशके अंश नहीं होने हैं वैसे समयके अंश नहीं होसक्के हैं।

यह बात पहले भी कही गई कि कालाणुओंको भिन्न २ माननेपर ही समय पर्याय होसक्ती है। भिन्न २ कालाणुओंके होते हुए एक कालाणु परसे दूसरेपर जाते हुए समय पर्याय प्रगट होती है। एक अखड लोकाकाश प्रमाण काल द्रव्य माननेसे नियमित गतिका अभाव होनेसे समय पर्याय नही होसक्ती। जैन आगममें जो काल द्रव्यका कथन है उसको अच्छी तरह निश्चय करके यह काल अनादि अनन्त है ऐसा जानकर तथा अपने आत्माको अनादि कायसे संसारवनमें भटकता मानकर अब इसको मोक्ष मार्गमें चलानेके लिये निज शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव कराना चाहिये जिससे यह निज परमात्मस्वभावको पाकर कृतकृत्य और सिद्ध होजावे, यह अभिप्राय है॥ ४९॥

इस तरह कालके व्याख्यानकी मुख्यतासे छठे स्थलमे दो गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे जिसका पहले कथन किया है उस प्रदेशका स्वरूप कहते हैं:—

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवकासं॥ ५०॥

आकाशमनुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम् ।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति यद्दातुमवकाशम् ॥ ५० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(अणुणिविट्ठं आगासम्) अवि-भागी पुद्गलके परमाणुद्वारा व्याप्त जो आकाश है उसको (आगास-पदेससण्णया) आकाशके प्रदेशकी संज्ञासे (भणिदं) कहा गया है। तथा (तं) वह प्रदेश (सव्वेसिं च अणूणं) सर्व परमाणु तथा सूक्ष्म स्कंधोंको (अवकास देदुं सक्कदि) जगह देनेको समर्थ है।

विशेषार्थः-एक परमाणु द्वारा व्याप्त आकाशके प्रदेशमें यदि इतनी जगह देनेकी शक्ति नहीं होती कि वह अन्य परमाणुओंको व सूक्ष्म पदार्थोंको जगह दे सक्ता है तो यह अनन्तानन्त जीवराशि और उससे भी अनन्तगुणी पुद्गल राशि किस तरह असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमे जगह पाते ?-इसको विस्तारसे पहले कह चुके है। यदि कोई शंका करे कि अखड आकाशद्रव्यके भीतर प्रदेशोंका विभाग कैसे सिद्ध हो सक्ता है तो उसका समाधान करते हैं कि चिदानन्दमई एक स्वभावरूप निज आत्मतत्त्वमें परम एकाग्रता लक्षण समाधिसे उत्पन्न विकार रहित आल्हादमई एक रूप, सुख, अमृत रसके स्वादमें तृप्त दो मुनियोंके जोड़ेका ठहरनेका क्षेत्र एक है या अनेक है? यदि एक ही स्थान है तब दो मुनियोका एकत्व हो जायगा सो ऐसा नहीं है। और यदि उनका क्षेत्र भिन्न२ है तब अखंड आकाशके भी प्रदेशोका विभाग करनेसे कोई विरोध नही आता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने आकाशके प्रदेशकी सामर्थ्य बताई है। जिस आकाशको एक पुद्गलका परमाणु रोक सक्ता है।

उसे प्रदेश कहते हैं उसमें यह ताकत है कि अनन्त परमाणु छुटे हुए उतनी ही जगहमे आसक्ते है इतना ही नही सूक्ष्म अनेक स्कंध भी समासक्ते हैं। उस परमाणुमे वाधा डालनेकी शक्ति नही है क्योकि परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म होता है। लोकाकाशके प्रदेश असख्यात हैं तथापि उसमें असख्यात कालाणु, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, अनन्तानन्त जीव तथा उससे भी अनतगुणे पुद्गल समाए हुए है और सुखसे कार्य करते है। यह आकाशकी एक विलक्षण अवकाशदान शक्ति है तथा सूक्ष्म स्कंध व परमाणुओमे भी यथा-सम्भव अवकाशदानशक्ति है। यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है कि प्रकाशके पुद्गल स्थूल सूक्ष्म जातिके है। एक कमरेके आकाशमे यदि एक प्रकाश फैल जावे तौ भी वहां हजारो दीपक जलाए जासक्ते हैं और उन सबका प्रकाश उतने ही कमरेमे समा जाता है। उस कमरेके आकाशने तथा स्थूल सूक्ष्म प्रकाशने अन्य प्रकाशके आनेमें कोई बाधा नही डाली। ऐसे प्रकाशसे भरे हुए कमरेमे गर्दा डालें तौ भी समा जायगी। अनेक छोटे २ जन्तु घूमे उनको भी जगह मिल जगह मिल जायगी। मनुष्य-स्त्री पुरुष बैठे उठे तौ भी अवकाश मिल जायगा। यह कमरेका दृश्य ही इस बातका समाधान कर देता है कि लोकाकाशमे अनन्तानत द्रव्योंके अव-काश पानेमे कोई वाधा नहीं है। यद्यपि आकाश अखड है तथापि उसके पदार्थोकी अपेक्षा खंड कल्पना किये जासक्ते है जैसे घटा-काश, पटाकाश आदि। वृत्तिकारने युगल मुनियोको ध्यान मग्न अवस्थामें दिखाया है कि उनके हरएकका क्षेत्र अलग २ ही माना जायगा तब ही वे दो भिन्न २ दीखेंगे। उन दोनोका एक क्षेत्र

नहीं होसक्ता । व्यवहारकी अपेक्षा असंख्यात प्रदेशोंकी कल्पना प्रयोजनभूत है ।

प्रदेशका स्वरूप श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने भी यही कहा है:—

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥

भावार्थ—जितने आकाशको अविभागी पुद्गल परमाणु रोकता है वह प्रदेश है । उसमे सर्व परमाणुओंको स्थान देनेकी सामर्थ्य है । ऐसा वस्तुका स्वरूप जानकर जगतके नाटकसे उदासीन रहकर निज आत्मतत्त्वके अनुभवमें अपनी परिणतिको तन्मय करना चाहिये ।

उत्थानिका—आगे तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचयका निरूपण करते हैं—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य ।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समयत्ति कालस्स ॥ ५१ ॥

एको वा द्वौ बहवः सख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च ।
द्रव्याणा च प्रदेशाः सन्ति हि समया इति कालस्य ॥५१॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दव्वाणं पदेसा) काल द्रव्यके विना पांच द्रव्योंके प्रदेश (एक्को व दुगे च बहुगा संख्यातीदा तदो अणंता य संति) एक या दो या बहुत, या असंख्यात तथा अनन्त यथायोग्य होते हैं (कालस्स हि समयत्ति) परन्तु निश्चयसे एक प्रदेशी काल द्रव्यके समय एकसे अनन्त तक होते हैं ।

विशेषार्थ—मुक्तात्मा पदार्थमें एकाकार व परम समता रसके भावमें परिणमनरूप परमानन्दमई एक लक्षण सुखामृतसे भरे हुए

और केवलज्ञानादि प्रगटरूप अनन्त गुणोके आधारभूत, लोकाकाश-प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेशोका जो प्रचय या समूह या समुदाय या राशि है उसको तिर्यक् प्रचय, तिर्यक सामान्य, विस्तार सामान्य या अक्रम अनेकान्त कहते है। यह प्रदेशोका समुदायरूप तिर्यक् प्रचय जैसे मुक्तात्मा द्रव्यमें कहा गया है तैसे कालको छोडकर अन्य द्रव्योंमें अपने अपने प्रदेशोकी संख्याके अनुसार तिर्यक् प्रचय होता है ऐसा कथन समझना चाहिये। तथा समय समय वर्तनेवाली पूर्व और उत्तर पर्यायोकी सन्तानको ऊर्ध्व प्रचय, ऊर्ध्व सामान्य, आयत सामान्य, या क्रम अनेकान्त कहते है। जैसे मोतीकी मालाके मोतियोको क्रमसे गिना जाता है इसी तरह द्रव्यकी समय २ मे होनेवाली पर्यायोको क्रमसे गिना जाता है। इन पर्यायोके समूहको ऊर्ध्व सामान्य कहते है। यह सब द्रव्योमे होता है। किन्तु कालके सिवाय पांच द्रव्योकी पूर्व उत्तर पर्यायोंका सन्तान रूप जो ऊर्ध्व प्रचय है उसका उपादान कारण तो अपना अपना द्रव्य है परतु कालद्रव्य उनके लिये प्रति समयमे सहकारी कारण है। परतु जो कालद्रव्यका समय सन्तान रूप ऊर्ध्व प्रचय है उसका काल ही उपादान कारण है और काल ही सहकारी कारण है। क्योकि कालसे भिन्न कोई और समय नहीं है। कालकी जो पर्यायें है वे ही समय है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—एक समयमे ही विना क्रमके अनेक प्रदेशोके समूहका वोध करानेवाला विस्तार तिर्यक् प्रचय है। अनत समयोमे क्रमसे होनेवाली पर्यायोकी राशिका वोध करानेवाला ऊर्ध्व प्रचय है। जैसे एक मैदान है और एक सीढ़ी है। मैदानकी- चौड़ाई

तिर्यक् प्रचय है। सीढ़ीमें अनेक सीढ़ीयां ऊपर नीचे हैं, क्रम क्रमसे चली गई हैं । लम्बाई रूप हैं। इसको ऊर्ध्व प्रचयका दृष्टान्त कह सक्ते हैं।

कालद्रव्य एक प्रदेशवाला है इससे उसमें तिर्यक् प्रचय नही है। अन्य द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। इससे उन प्रदेशोंके समुदायको तिर्यक् प्रचय कहते है। पुद्गलके स्कंध संख्यात, असंख्यात या अनेक प्रदेशी परमाणुओकी अपेक्षासे हैं, परमाणुमे मिलनशक्ति है इससे बहुप्रदेशी है। धर्म, अधर्म व एक जीव असंख्यात प्रदेशी हैं। यद्यपि जीव संकोच विस्तारके कारण छोटे बडे शरीरप्रमाण रहते हैं तथापि असंख्यात प्रदेशोंके समूहसे अलग नहीं होते, आकाश अनन्त प्रदेशी है। एक ही समयमें द्रव्योंके फैलावका ज्ञान तिर्यक् प्रचयसे होता है।

सब ही द्रव्य परिणमनशील हैं। उनमें क्रमसे पर्यायें होती रहती है, एक समयमें एक पर्याय होती है पिछली नष्ट होजाती है। यदि तीन कालकी अपेक्षा अगली व पिछली पर्यायोका जोड़ अपने ध्यानमे लेवें तो अनंत पर्यायोका समूह बुद्धिमे झलकेगा, इस समूहको ऊर्ध्व प्रचय कहते हैं। कालके विना पांच द्रव्योंमें ऊर्ध्व प्रचय यद्यपि उन द्रव्योके ही उपादान कारणरूप परिणमनसे होता है तथापि उनका बोध-कालकी समय नामा पर्यायोंके द्वारा होता है। कालकी समय पर्यायें होती हैं इसी सहकारी कारणसे अन्य द्रव्योंकी पर्यायोका ज्ञान होता है। काल द्रव्यकी समय पर्यायोके समूहका जो ऊर्ध्व प्रचय है उसका उपादान कारण जैसे काल है वैसे उसका सहकारी कारण भी काल है। क्योंकि समय कालकी ही पर्याय है।

अर्थात् जब समयोंको ध्यानमें लेकर ही ऊर्ध्व प्रचयका ज्ञान होता हैं तब यह स्वतः सिद्ध है कि अन्य द्रव्योंके ऊर्ध्व प्रचयको कालका ऊर्ध्व प्रचय सहकारी कारण है किन्तु काल द्रव्यके ऊर्ध्व प्रचयका ज्ञान करानेको कालके समय ही सहकारी कारण है इसलिये वही उपादान तथा वही निमित्त है। क्योंकि समय काल द्रव्यकी ही पर्यायें हैं कालके सिवाय अन्य किसी द्रव्यकी पर्यायें नहीं हैं।

यहां यह समझना चाहिये कि ऊर्ध्व प्रचयके भावके लिये ऐसा कहा गया है कि कालके ऊर्ध्व प्रचयके लिये काल ही उपादान व काल ही सहकारी कारण है।

काल द्रव्यकी पर्याय जो समय है उसका उपादान कारण काल द्रव्य है किन्तु उस समय पर्यायका निमित्त कारण पुद्गल परमाणुका एक कालाणुसे दूसरे कालाणुपर मदतासे गमन है जैसा पहले कह चुके हैं।

कालमें कितनी समय पर्याय होती है इसकी कल्पनाके लिये परमाणुको कोई क्रियाकी आवश्यक्ता नहीं है। इसके लिये तो मात्र कालहीसे काम चल सक्ता है। जैसे और द्रव्योंकी पर्यायोंके गिननेके लिये कालके समय कारण हैं वैसे कालके पर्यायोंको गिननेके लिये कालके समय ही कारण हैं। इसलिये कालके उर्ध्व प्रचयके लिये कालको ही उपादान और निमित्त कहा गया है। भाव यह है कि सर्व द्रव्योंमें ऊर्ध्व प्रचय और तिर्यक् प्रचय है, मात्र काल द्रव्यमें तिर्यक् प्रचय नहीं है इसीसे पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं, काल अस्तिकाय नहीं है ॥ ५१ ॥

इसतरह सातवें स्थलमे स्वतंत्र दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे समय संतानरूप ऊर्ध्व प्रचयका अन्वयी रूपसे आधारभूत काल द्रव्यको स्थापन करते हैं ।

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्मि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥५२॥

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये ।
समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति ॥ ५२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जस्स समयस्स) समय पर्यायको उत्पन्न करनेवाले जिस कालाणु द्रव्यका (एक समयम्मि) एक वर्तमान समयमें (जदि) जो (उप्पादो) उत्पाद तथा (पद्धंसो) नाश (विज्जदि) होता है (सो वि समओ) सो ही काल पदार्थ (समावसमवट्ठिदो हवदि) अपने स्वभावमें भले प्रकार स्थित कहता है ।

विशेषार्थ—कालाणु द्रव्यमें पहली समय पर्यायका नाश, नई समय पर्यायका उत्पाद जिस वर्तमान समयमें होता है, उसी समय इन दोनो उत्पाद और नाशका आधाररूप कालाणुरूप द्रव्य ध्रौव्य रहता है । इसतरह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप स्वभावमई सत्तारूप अस्तित्व इस काल द्रव्यका भलेप्रकार सिद्ध है । जैसे एक हाथकी अंगुलीको टेढ़ा करते हुए जिस वर्तमान क्षणमें ही वक्र अवस्थाका उत्पाद हुआ है उसी ही क्षणमें उसी ही अंगुली द्रव्यकी पहली सीधीपनेकी पर्यायका नाश हुआ है परंतु इन दोनोकी आधारभूत अंगुली द्रव्य ध्रौव्य है । इसतरह द्रव्यकी सिद्धि होती है अथवा जिस किसी आत्मद्रव्यमें अपने स्वभावमई सुखका जिस क्षणमें उत्पाद है उसी ही क्षणमें उसके पूर्व अनुभव होनेवाले आकुलतारूप दुःख पर्यायका नाश है परंतु इन दोनोके

आधारभूत परमात्म द्रव्यका ध्रौव्य है। इसतरह द्रव्यकी सिद्धि है अथवा एक आत्मद्रव्यमे जिस समय मोक्ष पर्यायका उत्पाद है उस ही समय रत्नत्रयमई मोक्ष मार्गरूप पर्यायका नाश है परन्तु इन दोनोंके आधारभूत परमात्मद्रव्यका ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्यकी सिद्धि है। तैसे ही जिम काल द्रव्यकी जिस क्षणमे वर्त-मान समयरूप पर्यायका उत्पाद है उसी काल द्रव्यकी पूर्व समयकी पर्यायका नाश है परन्तु इन दोनोंके आधाररूप अंगुली द्रव्यके स्थानमें कालाणु द्रव्यका ध्रौव्य है इस तरह काल द्रव्यकी सिद्धि है।

भावार्थ-इस गाथाकी अमृतचद्र आचार्यकृत टीका भी बहुत उपयोगी है इसमे उसका सार यहा दिया जाता है, कि समय निश्चयसे काल पदार्थका वृत्यश अर्थात् वर्तनाका अश या पर्याय है। जब पुद्गलका परमाणु मंदगतिसे पूर्व कालाणुको छोडकर आगेकी कालाणुपर जाता है तब इम सहकारी कारणके निमित्तसे अवश्य कालाणु द्रव्यमे पूर्व समय पर्यायका नाश और वर्तमान समय पर्या-यका उत्पाद होता है। संस्कृतमे शब्द हैं " समयो हि समयपदा-र्थस्य वृत्त्यंश तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवत, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात।" यदि कोई कहे कालाणुकी जरूरत नही है, उत्पाद और नाश समय पर्यायका ही होता है तो उसको विचारना चाहिये कि उस एक समय पर्यायके उत्पाद और नाश एक कालमें होते है कि क्रमसे होते हैं। यदि कहो कि एक कालमें एक साथ एक समय पर्यायके उत्पाद व्यय होते हैं तो यह बात ठीक नही है क्योकि एक समय पर्यायके भीतर दो विरुद्ध स्वभाव नही होसक्के कि वही एक क्षणमे जन्मे

वही नाश हो । यदि कहो कि समय पर्यायमें उत्पाद व्यय क्रमसे होते है तो यह भी संभव नहीं है क्योकि समय अत्यन्त सूक्ष्म है उसके विभाग नहीं होते और न वह स्थिर रहना है। इसलिये जिसमें जब-वर्तमान समय पर्यायका उत्पाद होता है तब ही पूर्व समय पर्यायका व्यय होता है। इन दोनो अवस्थाओंमें वर्तनेवाला कोई अवश्य मानना पड़ेगा । सो ही वह समय पदार्थ है । उस काल द्रव्यके भीतर एक ही वर्तनाके अंशमे दोनों उत्पाद और व्यय संभव हैं अर्थात् जब काल द्रव्यने वर्तन किया तब पूर्व समय पर्यायका नाश होना ही नवीन समय पर्यायका उत्पाद होना होगया इस तरह सहजमें उत्पाद व्यय सिद्ध होगए। जब ऐसा है तब काल पदार्थ निरन्वय नहीं माना जासक्ता अर्थात् कालद्रव्य अन्वय रूपसे सदा मानना पडेगा, क्योंकि जो पूर्व और उत्तर समयोसे विशिष्ट होगा उसीमें ही एक समयमें एक साथ पूर्व समयका नाश व उत्तर समयका उत्पाद होगा। यदि कालद्रव्य स्वभावसे नाश व व्यय नहीं होवे तो ध्रौव्य भी न होवे, क्योंकि जिसमे पर्यायोंका परिणमन होगा वही ध्रौव्य होगा, तथा जो ध्रौव्य होगा उसीमें परिणमन होगा। इन तीनोंका एक काल होना सिद्ध है इसलिये काल द्रव्यके ध्रौव्य होते हुए ही उसमें पूर्व समयका नाश और उत्तर समयका उत्पाद भले प्रकार सिद्ध होसक्ता है। ऐसा ही काल पदार्थका स्वभाव सिद्ध है अर्थात् वह काल द्रव्य पूर्व उत्तर समयकी अपेक्षा उत्पाद व्यय करता हुआ ही ध्रौव्य रहता है। इसीमे काल वास्तविक द्रव्य है। इस गाथामें भले प्रकार काल द्रव्यकी सिद्धि है तथा वृत्तिकार श्री अमृतचन्द्राचार्यने यहां भी यह स्पष्ट कर दिया है कि समय पर्यायका सहकारी

कारण पुद्गल परमाणुका हिलना है अर्थात् एक कालाणुसे निकटवर्ती कालाणुपर आना है। समय पर्याय कालद्रव्यके विना माने नहीं हो सक्ती है। जैसे आत्माको ध्रौव्य मानते हुए ही उसमें देव पर्यायका नाश और मनुष्य पर्यायका उत्पाद एक समयमें विग्रह गतिकी अपेक्षा मनुष्य आयु कर्मके उदयके कारण सिद्ध होते हैं तैसे ही कालद्रव्यको मानते हुए ही उसमें पूर्व समय पर्यायका नाश और वर्तमान पर्यायका उत्पाद सिद्ध होसक्ता है। वही पर्याय उपजे वही नष्ट हो यह असंभव है। किसी आधाररूप द्रव्यके होते ही उसमें अवस्थाएं होसक्ती हैं। जैसे सुवर्ण द्रव्यको मानते हुए ही सोनेकी दशा पलट सक्ती है, वह कुंडलसे कंकणकी पर्यायमें बदला जा सक्ता है अर्थात् सुवर्णके स्थिर रहते हुए कुंडल पर्यायको नाशकर कंकण पर्याय पैदा होती है। कुंडल पर्याय मात्रमें नाश और उत्पाद नहीं बन सक्के। जब वह नाश होगा तब कुंडलका जन्म नहीं होगा। सुवर्णके रहते हुए ही जब कुन्डल नष्ट होता है तब कंकण पैदा होता है। वास्तवमें अन्वयरूपसे वर्तनेवाले सुवर्णके स्थिर होतेहुए ही उसमें दो भिन्न२ समयोंकी अपेक्षा दो भिन्न पर्यायें होसक्ती हैं। एक क्षणमें तो एक ही पर्याय झलकेगी, दो नहीं रह सक्तीं क्योंकि वर्तमानकी पर्याय पूर्व पर्यायको नाश कर ही प्रगट हुई है। वास्तवमें देखा जावे तो हरएक द्रव्य अपने भीतर अपनी अनन्त पर्यायोंको शक्ति रूपसे रखता है उनमेंसे एक क्षणमें एक पर्याय प्रगट होती है तब और सब मात्र शक्ति रूपसे रहती हैं। पर्यायोंका तिरोभाव आर्विभाव हुआ करता है— जो नष्ट हुई उसका तिरोभाव जो प्रगटी उसका आर्विभाव होता

है। यही बात काल द्रव्यमें है। वह कालद्रव्य रूप कालाणु अपने भीतर होनेवाली अनंत समयपर्यायोंको शक्ति रूपसे रखता है। उनहीमेसे एक क्षणमे एक समयपर्याय प्रगट होती है अन्य सब अप्रगट रहती हैं। श्री तत्त्वार्थसूत्रमें भी कहा है कालश्च (५-३९), सो अनन्तसमयः (५-४०)। भाव यही है कि काल द्रव्य है सो अनन्त समयोंको रखता है। सारांश यही निकलता है कि काल-द्रव्यकी सत्ता सिद्ध है। विना कालके अस्तित्वके समय आकाश फूलके समान अवस्तु है। जिस समयको व्यवहारकाल कहते हैं वह समय कालद्रव्यकी पर्याय है यही भले प्रकार सिद्ध है ॥५२॥

उत्थानिका-आगे यह निश्चय करते हैं कि जैसे पूर्वमे कहे प्रमाण एक वर्तमान समयमे काल द्रव्यका उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध किया गया तैसे ही सर्व समयोमें होता है-

एकम्मि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥ ५३ ॥

एकस्मिन्सन्ति समये सभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः।
समयस्य सर्वकाल एष हि कालाणुसद्भावः ॥ ५३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(एकम्मि समये) एक समयमें (समयस्स) कालद्रव्यके भीतर (सभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नामके स्वभाव (सति) हैं (एस हि) निश्चय करके ऐसा ही (कालाणुसब्भावो) कालाणु द्रव्यका स्वभाव (सव्वकाल) सदाकाल रहता है।

विशेषार्थ-जैसे पहले अंगुली द्रव्य आदिके दृष्टांतसे एक समयमे ही उत्पाद और व्ययका आधारभूत होनेसे एक विवक्षित वर्तमान समयमें ही काल द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना स्थापित

किया गया तैसा ही सर्व समयोमें जानना योग्य है। यहां यह तात्पर्य निकालना चाहिये कि यद्यपि भूतकालके अनन्त समयोंमें दुर्लभ और सब तरहसे ग्रहण करने योग्य सिद्धगतिका काल-लब्धिरूपसे बाहरी सहकारीकारण काल है तथापि निश्चय नयसें अपने ही शुद्ध आत्माके तत्वका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र तथा सर्व परद्रव्यकी इच्छाका निरोधमई लक्षणरूप तपश्चरण इस तरह यह जो निश्चय चार प्रकार आराधना यही उपादान कारण है, काल उपादान कारण नहीं है इससे कालद्रव्य त्यागने योग्य है यह भावार्थ है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि काल द्रव्य नित्य है। एक कालाणु एक स्वतंत्र काल द्रव्य है। इस तरह असंख्यात कालाणु असंख्यात काल द्रव्य है। द्रव्य उसे ही कहते हैं जो सदा ही प्रवाह रूपसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभा-वको रखता है। यह लक्षण भले प्रकार काल द्रव्यमें सिद्ध किया गया। काल द्रव्यका वर्तना गुण है उस वर्तना गुणकी पर्याय समय है। पर्याय एक समय मात्र रहती है। हरएक समयमें जब एक पर्याय पैदा होती है तब पुरानीको नाशकर ही पैदा होती है और पर्यायोंका उत्पाद व्यय विना किसी आधार द्रव्यके नहीं हो सक्ता है। सुवर्णके रहते हुए ही उसकी कंकणकी अवस्था बदल-कर कुंडलरूप होसक्ती है। इसी तरह कालाणु सदा ध्रुव बना रहता है। उसीमें समयपर्याय हर समय नई नई होती रहती है। इससे यह अच्छी तरह निश्चित है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप काल द्रव्य है।

ऐसे नित्य काल द्रव्यको स्वीकारकरके मात्र व्यवहार ही काल है निश्चय काल द्रव्य नहीं है इस कल्पनाको त्याग देना चाहिये। कोई स्वभाव या अवस्था किसी स्वभाववान या अवस्था-वानके विना नहीं होसक्के। समय नामका व्यवहार काल जब प्रसिद्ध है और वह क्षण क्षण नष्ट होनेवाला है तब वह अवश्य किसी द्रव्यकी पर्याय है ऐसा मानना होगा। जिसकी समयपर्याय है उस काल द्रव्यको अवश्य नित्य मानना पड़ेगा। इस तरह काल द्रव्यके कारण अनन्तानन्त समय वीत गए, अभीतक हमको सिद्ध समान शुद्ध आत्माका निज स्वभाव प्राप्त नहीं हुआ इसलिये हमको अपने इस मानव-जन्मके थोड़ेसे समयोंको वहुत अमूल्य समझकर उनका उपयोग निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप रूपी आत्मा-नुभव या आत्मध्यानमे लगाकर कर्मके बंधनोंको काटना और स्वतंत्र होनेका यत्न करना योग्य है ॥ ९३ ॥

उत्थानिका-आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्यमई अस्तित्वमें ठहरे हुए कालद्रव्यके एक प्रदेशपना स्थापित करते हैं-

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥ ५४ ॥

यस्य न संति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं वा तत्त्वतो ज्ञातुम् ।
शून्यं जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥ ५४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(जस्स पदेसा ण संति) जिस किसी पदार्थके वहुप्रदेश नही है (व पदेसमत्तं तच्चदो णादुं) अथवा जो वस्तु अपने स्वरूपसे एक प्रदेश मात्र भी नही जानी जाती है (तमत्थं सुण्णं जाण) उस पदार्थको शून्य जानो क्योंकि

(अत्थीदो अत्थंतरभूदम्) वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तित्वसे अर्थातरभूत अर्थात् भिन्न होजायगा क्योकि उसमे एक प्रदेश भी नही है जिससे उसकी सत्ताका वोध हो ।

विशेषार्थ.—जैसा पूर्व सूत्रोमे कहा है उस प्रकार काल पदार्थमे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व विद्यमान है। यह अस्तित्व प्रदेशके विना नही घट सक्ता है। जो प्रदेशवान् है वही काल पदार्थ है। कोई कहे कि कालद्रव्यके अभावमे भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य घट जायगा? इसका समाधान करते है कि ऐसा नही हो सक्ता। जैसे अगुली द्रव्यके न होते हुए वर्तमान वक्र पर्यायका जन्म और भूतकालकी सीधी पर्यायका विनाश तथा दोनोंके आधाभूतका ध्रौव्य किसका होगा ? अर्थात् किसीका भी न होगा तैसे ही कालद्रव्यके अभावमे वर्तमान समय रूप उत्पाद व भूत समय रूप विनाश व दोनोंका आधार रूप ध्रौव्य किसका होगा? किसीका नही होसकेगा। यदि सत्तारूप पदार्थको न माने तो यह होगा कि विनाश किसी दूसरेका उत्पाद किसी अन्यका व ध्रौव्य किसी औरका होगा। ऐसा होते हुए सर्व वस्तुका स्वरूप विगड जायगा। इसलिये वस्तुके नाशके भयसे यह मानना पडेगा कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कोई भी एक आधार है। वह इस प्रकरणमे एक प्रदेश मात्र कालाणु पदार्थ ही है। यहा यह तात्पर्य समझना कि भूत अनन्त कालमे जितने कोई सिद्ध सुखके पात्र हो चुके हैं व भविष्यकालमे अपने ही उपादानसे सिद्ध व स्वय अतिशयरूप इत्यादि विशेषणरूप अतीद्रिय सिद्ध सुखके पात्र होवेंगे वे सव ही काल लब्धिके वशसे ही हुए हैं व होगे। तौ भी

अपना परमात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन जहां वीतराग चारित्रका होना अविनाभावी है उसकी ही मुख्यतासे है न कि कालकी, इसलिये काल हेय है। जैसा कहा है—

किं पलविएणबहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले ।
सिज्झिहहि जेवि भविया त जाणह सम्ममाहप्प ॥

भावार्थ—बहुत क्या कहें जितने उत्तम पुरुष भूतकालमें सिद्ध हुए हैं व जो भव्य जीव भविष्यमे सिद्ध होगे सो सब सम्यग्दर्शनकी महिमा जानो ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने काल द्रव्यको एक प्रदेशी सिद्ध किया है और यह कहा है कि जिस जिस पदार्थका हम अस्तित्व मानें उसमें प्रदेश अवश्य होने चाहिये तब ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तित्त्व बन सक्ता है। द्रव्यमे प्रदेशत्त्व नामका गुण होता है जिससे हरएक द्रव्य कोई न कोई आकार अवश्य रखता है। जिसमें कोई आकार न होगा वह शून्य होगा उसका सर्वथा अभाव होगा, क्योकि काल द्रव्यमें समय पर्यायका उत्पाद व्यय होता है तथा कालाणुका ध्रौव्य है तब वह प्रदेशवान् अवश्य है। विना प्रदेशके वह शून्य होगा तब उसकी समय पर्याय भी न होगी। यदि कोई द्रव्यको प्रदेशरूप न मानकर उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध करेगा तो बिलकुल सिद्ध न होगा। जो वस्तु होगी उसीमे अवस्था होना संभव है ।

यहांपर श्री अमृतचंद्राचार्यने यह बात उठाई है कि काल द्रव्यके लोकाकाश प्रमाण अखंड असंख्यात प्रदेश नहीं माने जा सक्ते। ऐसा यदि माने तो समय पर्यायकी सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि

जब कालाणु द्रव्य एक प्रदेश मात्र भिन्न२ होगा तब ही एक पुद्गलका परमाणु एक कालाणुसे दूसरे कालाणुपर जायगा और तब ही समयपर्याय उत्पन्न होगी। दो कालाणु जुदे जुदे होनेसे ही समयपर्यायका भेद सिद्ध होगा। जो लोकाकाशप्रमाण अखण्ड एक कालद्रव्य होवे तो समयपर्यायकी सिद्धि कैसे होसक्ती है? यदि कोई कहे कि कालद्रव्य लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशी है उसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जब पुद्गल परमाणु जायगा तब समयपर्यायकी सिद्धि होजायगी? तो उसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं होसक्ता क्योंकि एक प्रदेशरूप वर्तनेका सर्व प्रदेशोंमें वर्तनेसे विरोध है "एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात्" अर्थात् जब एक प्रदेशमात्रमें वर्तन हुआ और शेषमें न हुआ तब काल द्रव्यका वर्तन ही न बना तथा अखंड कालद्रव्यमे परमाणुके जानेका नियम नहीं रहेगा कि वह इतनी दूर जावे क्योंकि प्रदेशोंकी भिन्नता नहीं है। इससे समय पर्यायका भेद नहीं होसकेगा, क्योंकि काल पदार्थका जो सूक्ष्म परिणमन है वही समय है वह भेद भिन्न २ कालाणुओंके माननेसे ही सिद्ध हो सक्ता है, एकतासे नहीं। जैसा श्री अमृतचन्द्रजीने कहा है कि "सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्यंश स समयो, न तत्तदेकदेशस्य" अर्थात् सर्व ही काल पदार्थका जो सूक्ष्म वर्तन है वह समय है उसके एक देशके वर्तनसे समय नहीं हो सक्ता। दूसरा दोष यह होगा कि जो तिर्यक् प्रचय है वही ऊर्ध्व प्रचय हो जायगा। जैसे आकाशके तिर्यक् प्रचय है वैसे कालके तिर्यक् प्रचय होगा क्योंकि वह कालद्रव्य पहले एक प्रदेशमें वर्तेगा फिर दूसरेमें फिर तीसरेमें

फिर आगे। इस तरहका वर्तन यदि मानें तो यह तिर्यक् प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय हो जायगा । उर्ध्व प्रचयमें सर्व द्रव्यको क्रमसे वर्तना मानना चाहिये । सर्व प्रदेशोंके एक साथ विस्ताररूप समूहको तिर्यक् प्रचय कहते हैं। यदि असंख्यात प्रदेशी कालके प्रदेश एक साथ वर्तन करे तो कालको और द्रव्योंकी तरह तिर्यक् प्रचय प्राप्त हो जायगा । सो ऐसा नहीं है । कालको एक प्रदेशमात्र माननेसे ही समय पर्याय उत्पन्न होगी। क्रमवर्ती समयोंके समुदायको ऊर्ध्व प्रचय कहते हैं। कालके उर्ध्व प्रचयसे ही और द्रव्योंका ऊर्ध्वप्रचय माना जाता है ।

पांडे हेमराजजीने भी अपनी टीकामें ऐसा लिखा है कि जो अखंड काल द्रव्य होवे तो समयपर्याय उत्पन्न नहीं हो सक्ता । क्योंकि पुद्गल परमाणु जब एक कालाणुको छोड़कर दूसरी कालाणु-प्रति मंदगतिसे जाता है तब उस जगह दोनो कालाणु जुदे जुदे होनेसे समयका भेद होता है' जो एक अखड लोकपरिमाण काल द्रव्य होवे तो समय पर्यायकी सिद्धि किस तरह हो सकती है । यदि कहो कि "काल द्रव्य लोकपरिमाण असंख्यात प्रदेशी है उसके एक प्रदेशप्रति जब पुद्गल परमाणु जायगा तब समयपर्यायकी सिद्धि हो जायगी?" तो उसका उत्तर यह है कि ऐसा कहनेसे बड़ा भारी दोष आवेगा वह इस प्रकार है—एक अखंड काल द्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश प्रति जानेसे समयपर्यायका भेद नहीं होता, क्योंकि अखंड द्रव्यसे एक प्रदेशमें समयपर्याय नहीं हो सक्ती। सभी जगह समय पर्याय होना चाहिये । कालकी एकतासे समयका भेद नहीं हो सक्ता । इस लिये ऐसा है कि सबसे सूक्ष्म

काल पर्याय समय है वह कालाणुके भिन्न२पनेसे सिद्ध होता है, एकतासे नहीं। और भी कालके अखंड माननेसे दोष आता है। कालके तिर्यक् प्रचय नहीं है, ऊर्ध्व प्रचय है। जो कालको असंख्यात प्रदेशी माना जावे तो कालके तिर्यक् प्रचय होना चाहिये वही तिर्यक्, ऊर्ध्व प्रचय हो जावेगा। वह इस तरहसे होगा कि असंख्यात प्रदेशी काल प्रथम तो एक प्रदेशकर प्रवृत्त होता है इससे आगे अन्य पदेशकर प्रवृत्त होता है। उससे भी आगे अन्य प्रदेशकर प्रवृत्त होता है इस तरह क्रमसे असंख्यात प्रदे-शोंसे प्रवृत्त होवे तो तिर्यक् प्रचय ही ऊर्ध्व प्रचय हो जायगा। एक एक प्रदेश विषै कालद्रव्यको क्रमसे प्रवृत्त होनेसे कालद्रव्य भी प्रदेश मात्र ही सिद्ध होता है। इस कारण जो पुरुष तिर्यक् प्रचयको ऊर्ध्व प्रचय दोष नहीं चाहते है वे पहले ही प्रदेशमात्र कालद्रव्यको मानें जिससे कि कालद्रव्यकी सिद्धि अच्छी तरह होवे।"

भाव यही है कि यदि असंख्यात प्रदेशी कालको अखंड माना जावे तो उस अखंडकी एक साथ एक पर्याय होनी चाहिये उसके लिये निमित्त कोई हो नहीं सक्ता। पुद्गलका एक परमाणु भिन्न२ निकटवर्ती कालाणु होनेपर ही एक कालाणुसे दूसरेपर मंद गतिसे जा सक्ता है तब समयपर्याय होती है। अखड द्रव्यमें कहांसे कहां कालाणु जावे यह नियम न रहेगा। इस लिये काल-द्रव्यको एक प्रदेशमात्र मानना होगा।

इस गाथामें आचार्यने यह बता दिया है कि कालद्रव्य है क्योंकि समय पर्यायका प्रगटपना है। एक समय-जब उदय होता है तब पिछला समय नष्ट होता है। यह समयकी अवस्थाके पलटनेका

जब तक कोई आधार न हो तबतक समयपर्याय हो नहीं सक्ती। इस लिये इस पर्यायका आधार एक प्रदेशी कालाणु द्रव्य है। ऐसे कालाणु लोकाकाशमें असंख्यात हैं। सर्व ही जगह पुद्गलके परमाणु चल हैं-हिलते रहते हैं इस लिये सर्व ही कालाणुओंमें समयपर्याय हरक्षण होती रहती है। कालद्रव्यको माने विना न तो अन्य द्रव्योंका वर्तन हो सक्ता और न व्यवहार काल हो सक्ता है। इससे काल द्रव्यकी सत्ता एक प्रदेशी सिद्ध है ॥ ५४ ॥

इस तरह निश्चयकालके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठवें स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण " दव्वं जीवमजीवं " इत्यादि उन्नीस गाथाओंसे आठवें स्थलसे विशेषज्ञेयाधिकार समाप्त हुआ।

इसके आगे शुद्ध जीवका अपने द्रव्य और भाव प्राणोंके साथ भेदके निमित्त " सपदेसेहिं समग्गो " इत्यादि यथाक्रमसे आठ गाथाओं तक सामान्य भेद भावनाका व्याख्यान करते हैं।

उत्थानिका-आगे ज्ञान और ज्ञेयको बतानेके लिये तथा आत्माका चार प्राणोंके साथ भेद है इस भावनाके लिये यह सूत्र कहते हैं-

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काहिसंवद्धो ॥ ५५ ॥

स्वप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः।
यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्काभिसंबद्धः ॥ ५५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(णिच्चो) द्रव्यार्थिक नयसे नित्य अथवा किसी पुरुषविशेषसे नहीं किया हुआ सदासे चला आया

हुआ (लोगो) यह लोकाकाश (सपदेसेहि समग्गो) अपने ही असं-ख्यात प्रदेशोसे पूर्ण है और (अट्ठेहिं णिट्ठिदो) सहज शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप परमात्म पदार्थको आदि लेकर अन्य पदार्थोंसे भरा हुआ है अथवा अपने अपने प्रदेशोको रखनेवाले पदार्थोंसे भरा हुआ है (जो त जाणदि) जो कोई इस ज्ञेय रूप लोकको जानता है (जीवो) सो जीव पदार्थ है तथा वह (पाणचदुक्काहिसबद्धो) ससार अवस्थामे व्यवहारसे चार प्राणोंका सम्बन्ध रखता है ।

विशेषार्थ—निश्चयसे यह जीव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है इसलिये यह ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। शेप सब पदार्थ मात्र ज्ञेय ही हैं इस तरह ज्ञाता और ज्ञेयका विभाग है । तथा यद्यपि निश्चयसे यह स्वयसिद्ध परम चैतन्य स्वभावरूप निश्चय प्राणसे जीता है तथापि व्यवहारसे अनादिसे कर्मवन्धके वशसे आयु आदि अशुद्ध चार प्राणोसे भी सम्बन्ध रखता हुआ जीता है । यह चार प्राणोका सम्बन्ध शुद्ध निश्चयनयसे जीवका स्वरूप नही है, ऐसी भेद भावना समझनी चाहिये यह अभिप्राय है ।

भावार्थ—इस गाथामे आचार्यने यह बताया है कि यह अखंड असख्यात प्रदेशी लोकाकाश सब जगह अन्य पाच द्रव्योसे भरा हुआ है, कोई प्रदेश आकाशका ऐसा नही है जहां जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल न पाए जावें—ये पाच द्रव्य एक स्थलमें रहते हुए भी अपने२ प्रदेशोसे भिन्न२ रहते हैं तथा यह लोक अकृत्रिम व अविनाशी है और अनन्त आकाशके मध्यमे ठहरा हुआ है। चैत-न्य गुणधारी आत्मा अपनेको भी जानता है और इस लोकके सर्व पदार्थोंको भी जानता है इस लिये यह आत्मा ज्ञाता भी है ज्ञेय

भी है। अपने शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा यह एक ही समयमें अपनेको और सर्वको विना क्रमके जानता है। जीवमें ज्ञातापना और ज्ञेयपना दोनों हैं जब कि अन्य पुद्गलादि पदार्थ ज्ञाता नहीं हैं मात्र ज्ञेय हैं। ऐसा भेद जीवका अन्य पदार्थोंके साथ समझना चाहिये। इस जीवके जो व्यवहारसे इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोश्वास ऐसे चार प्राणका सम्बन्ध है सो भी संसार अवस्थामें होता है। ये प्राण कर्मोंके उदयके निमित्तसे होते हैं। तथा यह संसारी जीव अनादिसे ही संसारमें पड़ा है इसलिये हरएक शरीरमें इन प्राणोंकि ही द्वारा जीता है। ये प्राण भी निश्चयसे जीवका स्वरूप नहीं है। जीव तो निश्चयसे शुद्ध चैतन्य प्राणका धारी है। ऐसा भेद विज्ञान करके निज स्वरूपको भिन्न अनुभव करना चाहिये ॥ ९६॥

उत्थानिका:—आगे इन्द्रिय आदि चार प्राणोका स्वरूप कहते हैं—

इन्दियपाणो य तधा वलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ ५६ ॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायुःप्राणश्च ।
आनपानप्राणो जीवानां भवन्ति प्राणास्ते ॥ ५६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(इन्दिय पाणो) इन्द्रिय प्राण (य तधा) तथा (बलपाणो) बल प्राण (तह य) तैसे ही (आउपाणो) आयु प्राण (य) और (आणप्पाणप्पाणो) श्वासोश्वास प्राण (ते पाणा) ये प्राण (जीवाणं) जीवोके (होंति) होते है।

विशेषार्थ—अतींद्रिय और अनन्त सुखके कारण न होनेसे इंद्रिय प्राण आत्माके स्वभावसे विलक्षण है। मन, वचन, कायके

व्यापारसे रहित परमात्मा द्रव्यसे भिन्न बल प्राण है। अनादि और अनन्त स्वभावमई परमात्मा पदार्थसे विपरीत आदि और अंतसहित आयु प्राण है। श्वासोच्छ्वासके पैदा होनेके खेदसे रहित शुद्धात्म-तत्वसे विपरीत श्वासोच्छास प्राण है। इस तरह आयु, इंद्रिय, बल, श्वासोच्छ्वासके रूपसे व्यवहारनयसे जीवोंके चार प्राण होते हैं। ये प्राण शुद्ध निश्चयनयसे जीवसे भिन्न हैं ऐसी भावना करनी योग्य है।

भावार्थ–इंद्रिय, बल, आयु, आनपान ये चारों ही प्राण संसारी जीवमे व्यवहारसे हैं इसलिये यह संसारी जीव इन प्राणोंसे किसी शरीरमें जीता रहता है। ये प्राण शुद्धात्माके शुद्ध ज्ञानदर्श-नमई स्वभावसे भिन्न हैं। मैं निश्चयसे इन प्राणोंसे भिन्न हूं। ऐसी भावना परमकल्याणकारिणी है॥ ५६ ॥

उत्थानिका–आगे कहते है कि भेद नयसे ये प्राण दस तरहके होते हैं:—

पंचवि इन्द्रियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि वलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥ ५७ ॥

पंचापि इन्द्रियप्राणाः मनवचनकाया च त्रीणि बलप्राणाः।
आनपानप्राणाः आयुप्राणेन भवति दश प्राणाः ॥५७॥

अर्थ–स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इंद्रिय प्राण है। मन, वचन, काय ये तीन बल प्राण हैं। श्वासोश्वास तथा आयु प्राणको लेकर दश प्राण होते हैं। ये दसो प्राण चिदा-नन्दमई एक स्वभाव रूप परमात्मासे निश्चयसे भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये, यह अभिप्राय है।

भावार्थ-संसारी जीव किसी भी शरीरमें जिन शक्तियोंके द्वारा जीवित रहकर काम करसके उनको प्राण कहते हैं। सब प्राण दश होते हैं। उनमेंसे पृथ्वीकायिक आदि पांच तरहके एकेन्द्रिय जीवोंके चार प्राण होते हैं। स्पर्शन इंद्रिय, कायबल, आयु, श्वासो-स्वास। लट आदि द्वेंद्रिय जीवोंके जिह्वा इंद्रिय और वचनबल मिलाकर छः प्राण होते है। चींटी आदि तेन्द्रिय जीवोंके घ्राण इंद्रिय जोड़कर सात प्राण होते हैं। मक्खी भौंरे आदि चौइन्द्रिय जीवोंके आंख इन्द्रिय मिलाकर आठ प्राण होते है। पंचेन्द्रिय असैनीके कर्ण मिलाकर नव प्राण तथा पंचेन्द्रिय सैनीके मनबल मिलाकर दश प्राण होते है। इन प्राणोंके व्यापारसे जीवकी प्रगट शक्तियां जानी जाती हैं। क्योंकि ये प्राण नाम कर्म व आयु-कर्मके उदयसे तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतरायके क्षयो-पशम और मोहके उदयसे यथासंभव होते हैं इसलिये ये प्राण और इनका व्यापार सब कर्मपुद्गलके निमित्तसे होते है। शुद्ध आत्मामे या आत्माके अपने असली स्वभावमे ये प्राण व इनके व्यापार नहीं पाए जाते हैं। इसलिये हमको यह भावना भानी चाहिये कि हमारा आत्मा इनसे भिन्न अपने शुद्ध ज्ञान चेतना प्राणसे सदा ही जीवित रहता है। ये दस प्राण त्यागने योग्य हैं। परन्तु शुद्ध ज्ञान चेतना ग्रहण योग्य है।

उत्थानिका-आगे प्राण शब्दकी व्युत्पत्ति करके जीवका जीवपना और प्राणोका पुद्गलस्वरूपपना कहते हैं-

पाणेहिं चदुहिं जीवदि. जीवस्सदि जो हि जोविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण, पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ ५८ ॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वम्
स जीवः प्राणाः पुनः पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ताः ॥ ५८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(जो हि) जो कोई वास्तवमें (चदुहिं पाणेहि) चार प्राणोसे (जीवदि) जीता है, (जीवस्सदि) जीवेगा व (पुव्वं जीविदो) पहले जीता था (सो जीवो) वह जीव है (पुण) तथा (पाणा) ये प्राण (पोग्गलदव्वेहिं) पुद्गल द्रव्योसे (णिव्वत्ता) रचे हुए है।

विशेषार्थ-यह जीव निश्चय नयसें सत्ता, चैतन्य, सुख, ज्ञान आदि शुद्ध भाव प्राणोसे जीता चला आरहा है तथा जीता रहेगा तथापि व्यवहारनयसे यह ससारी जीव इस अनादि संसारमे जैसे वर्तमानमे द्रव्य और भावरूप अशुद्ध प्राणोसे जीता है ऐसे ही पहले जीता था व जबतक संसारमें है जीता रहेगा, क्योकि ये अशुद्ध प्राण उदयप्राप्त पुद्गल कर्मोसे रचे गए है इसलिये ये प्राण पुद्गल द्रव्यसे विपरीत अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनत सुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त गुण स्वभावधारी परमात्म तत्त्वसे भिन्न हैं ऐसी भावना करनी योग्य है यह भाव है।

भावार्थ-इस आत्माके निश्चय प्राण सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध आदि हैं-ये कभी इस जीवसे भिन्न नही होते है। अशुद्ध अवस्थामे इनका परिणमन अशुद्ध होता है जबकि शुद्ध अवस्थामे शुद्ध परिणमन होता है। इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ये चार अशुद्ध प्राण पुद्गल कर्मके सम्बन्धसे है। पाच इंद्रियोकी रचना तथा कायका वर्तन, बचनका वर्तन व मनकी रचना, श्वासोच्छ्वासका वर्तन नामकर्मके उदयसे व आयु प्राण आयुकर्मके उदयसे होता है। ये

द्रव्य प्राण हैं । पांच इंद्रियोसे व मन वचन काय व श्वाससे कार्य लेनेमें जो आत्मामें ज्ञान और वीर्यकी प्रगटता है व योगोंका हलन-चलन है वह आत्माके अशुद्ध भाव हैं—तथा आयु कर्मके उदयसे आत्माका किसी शरीरमें रुका रहना ये सब भाव प्राण हैं । ये द्रव्य और भाव प्राण मेरे आत्मस्वभावसे भिन्न है । मैं सदा ही अपने शुद्ध सुख सत्ता चैतन्य बोध आदि प्राणोंका धारी हूं यही भावना मोक्षमार्गमें सहायक है ॥९८॥

उत्थानिका—आगे प्राण पौद्गलिक हैं जैसा पहले कहा है उसीको दिखाते हैं—

जीवो पाणणिवद्धो वद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजं कम्मफलं वज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ ५६ ॥

जीवः प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकैः कर्मभिः ।
उपभुंजानः कर्मफलं बध्यतेऽन्यैः कर्मभिः ॥ ५९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(मोहादिएहि कम्मेहि) मोहनीय आदि कर्मोसे (वद्धो) बंधा हुआ (जीवो) जीव (पाणणिवद्धो) चार प्राणोसे सम्बन्ध करता है (कम्मफलं उवभुंजं) व कर्मोके फलको भोगता हुआ (अण्णेहि कम्मेहि वज्झदि) अन्य नवीन कर्मोसे बंध जाता है ।

विशेषार्थ शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष आदि शुद्ध भावोसे विलक्षण मोहनीय आदि आठ कर्मोसे बंधा हुआ यह जीव इंद्रिय आदि प्राणोंको पाता है । जिसके कर्मबंध नही होते उसके यह चार प्राण भी नही होते है इसीसे यह जाना जाता है कि ये प्राण पुद्गल कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं तथा जो इन बाह्य प्राणोंको

रखता है वही परम समाधिसे उत्पन्न जो नित्यानन्दमई एक सुखामृतका भोजन उसको न भोगता हुआ इन इंद्रियादि प्राणोंसे कड़वे विषके समान ही कर्मोंके फलरूप सुख दुःखको भोगता है और वही जीव कर्मफल भोगता हुआ कर्म रहित आत्मासे विपरीत अन्य नवीन कर्मोंसे बंध जाता है इसीसे जाना जाता है कि ये प्राण नवीन पुद्गल कर्मके कारण भी हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रीतिसे यह दिखलाया है कि जिन शरीर, वचन, मनकी क्रियाओंमें और इंद्रियोंके विषयभोगमें यह संसारी जीव लुब्ध हो रहा है वे सब मन वचन काय और इंद्रिय रूपी प्राण तथा आयु और श्वासोच्छ्वासपूर्व बद्ध कर्मोंके फलसे पैदा होते हैं। जिन शुद्धात्माओंके शरीर ही नहीं होते वहां ये प्राण नहीं पाये जाते हैं इसीसे प्रमाणित है कि ये कर्मबद्ध जीवमें कर्मोंके उदयसे पैदा होते है। पुद्गलमई ये प्राण है इसलिये इनका कारण भी कर्मपुद्गल है। इन पुद्गलमई शरीरादि और इंद्रियोंके द्वारा यह जीव पुद्गलकर्मोंके उदयसे प्राप्त संसारीक पराधीन सुखदुःखको भोगता रहता है। पुद्गलीक प्राणोसे ही पुद्गलीक भोग होता है। भोगोके भोगमें रागद्वेष करता हुआ जीव फिर नवीन पुद्गलकर्मोंको बांध लेता है। सिद्ध यह किया गया है कि ये प्राण पुद्गलके कारणसे उपजे हैं व पुद्गलको ही भोगते हैं तथा पुद्गल कर्मोंको उपजाते हैं इससे ये चार प्राण पौद्गलिक है-आत्माके निज स्वभाव नहीं हैं। इनको सदा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावसे भिन्न जानना चाहिये। श्री पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा भी है-

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

भावार्थ—जबतक मन वचन काय तीनोंको आत्माकी बुद्धिसे मानता रहेगा तबतक इस जीवके संसार है। जब इन तीनोंसे मैं भिन्न हूं ऐसी भेद भावना करेगा तब ही मोक्षको प्राप्त कर सकेगा। मैं एक शुद्ध ज्ञान चेतनारूप प्राणका धारी हूं ऐसा ही अनुभव उन कर्मोंसे छुडानेवाला है जिनके उदयसे यह जीव पुनः पुनः प्राणोंको पाकर कष्ट पाता है ॥ ५९ ॥

उत्थानिका—आगे प्राण नवीन कर्म पुद्गलके बन्धके कारण होते हैं इसी ही पूर्वोक्त कथनको विशेषतासे कहते हैं:—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥६०॥

प्राणाबाधं जीवो मोहप्रद्वेषाभ्यां करोति जीवयोः ।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभिः ॥ ६० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जदि) जब (जीवो) यह जीव (मोहपदेसेहि) मोह और द्वेषके कारण (जीवाणं पाणाबाधं) अपने और पर जीवोंके प्राणोंको बाधा (कुणदि) पहुंचाता है तब (हि) निश्चयसे इसके (सो बधो) वह बन्ध (णाणावरणादिकम्मेहि) ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंसे (हवदि) होता है।

विशेषार्थ—जब यह जीव सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानरूपी दीपकसे मोहके अंधकारको विनाश करनेवाले परमात्मासे विपरीत मोहभाव और द्वेषभावसे परिणमन करके अपने भाव और द्रव्य प्राणोको घातता हुआ एकेन्द्रिय आदि जीवोंके भाव और आयु आदि द्रव्य प्राणोंको पीड़ा पहुचाता है तब इसका ज्ञानावरणादि

कर्मोंके साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षसे विपरीत है तथा मूल और उत्तरप्रकृतियोंके भेदसे अनेक रूप है। इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंधके कारण होते हैं। यहां यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरेको मारनेकी इच्छासे गर्म लोहेके पिंडको उठाता हुआ पहले अपनेको ही कष्ट दे लेता है फिर अन्यका घात हो सके इसका कोई नियम नहीं है तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहेके स्थानमें मोहादि परिणामोंसे परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप शुद्ध प्राणको घातता है उसके पीछे दूसरेके प्राणोंका घात हो व न हो ऐसा कोई नियम नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि मन वचन काय व स्पर्शन आदि इंद्रियोंके द्वारा व्यापार करता हुआ यह संसारी जीव जब रागद्वेष मोह भावोंसे परिणमन करता है तब यह हिंसक हो जाता है। यह बात भी ठीक ही है कि बुद्धिपूर्वक इन प्राणोंसे काम लेते हुए इच्छा अवश्य होती है जो रागका अंग है। यह मोह राग या द्वेष जब जब थोडे या बहुत आत्माके परिणाममें झलकेंगे उसी समय आत्माके स्वाभाविक वीतराग ज्ञानभाव रूप भाव प्राणका और कुछ अंशमें शरीर बल आदि द्रव्य प्राणोका घात करेंगे। इसलिये इच्छापूर्वक इन प्राणोका व्यापार अपना घात करता है। इतना ही नही वह भाव यदि परकी हिंसारूप होता है तो एकेन्द्रिय आदि अन्य जीवोंके कष्ट पहुंचानेके व्यापारमे लगा हुआ अन्य जीवोको भी पीड़ा पहुंचाता है—अन्य जीवोके भाव और द्रव्य प्राणोंका घात करता है। इस हिंसककी चेष्टा होनेपर भी कभी

कभी अन्य प्राणी बच जाते हैं तथापि इस हिंसकका हिंसाभाव अवश्य ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके बंधका कारण होता है। जैसे हम यदि दूसरेके मारनेको गर्म लोहा हाथमें उठावें तो उसके पास पहुंचनेके पहले हमारा हाथ तो अवश्य जले हीगा। दूसरेके पास हम फेंक सकें व उसको लग ही जावे इसका कोई नियम नहीं है वैसे जब हम प्राणोंके कारण हिंसात्मक भाव करेंगे तब दूसरेकी हिंसा हो व न हो, हम तो अवश्य हिंसाके भावोंसे कर्मबन्ध करलेंगे। कर्मबन्धमें कारण जीव और अजीव दोनोंका आधार है। जीवका आधार उसके कषायसहित कृत, कारित या अनुमोदनरूप मन वचन कायके व्यापाररूप संरंभ अर्थात् संकल्प, समारम्भ अर्थात् प्रबन्ध, आरम्भ अर्थात् कार्यमें परिणमन करते हुए योग और उपयोग हैं। अजीव अधिकरण शरीर, वचन, मनकी क्रियाएं व इंद्रियोंका वर्तन आदि है। जैसा आधार होगा व अपनी शक्ति होगी उसके अनुसार कर्मोका तीव्र या मंद बन्ध हो जायगा। इसीसे यहां सिद्ध किया गया है कि इस संसारी जीवके आयु आदि प्राणोंका सम्बन्ध कर्मबन्धका कारण है अतएव इनका सम्बन्ध त्यागने योग्य है।

हिंसक भाव पहले अपना बिगाड़ करता है इस सम्बन्धमें स्वामी अमृतचंद्र आचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अच्छा कहा है—

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ ४३ ॥

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥ ४६ ॥

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

भाव यह है-कषायरूप मन, वचन, कायके योगोके द्वारा द्रव्य और भाव प्राणोको पीडित करना निश्चयसे हिंसा है। अपने भावोमे रागादिभावोका प्रगट न होना ही अहिंसा है तथा उनहीका पैदा हो जाना ही हिंसा है, यह जिनमतका सार है। रागद्वेषके विना योग्य आचरण करने हुए मात्र अन्य प्राणियोके प्राण घात होजानेसे कभी भी हिंसाका दोष नहीं होता है। इसीके विपरीत जब प्रमादके द्वारा राग आदिके वश प्रवृत्ति की जायगी तब इस व्यापारसे कोई जीव मरो या न मरो हिंसा निश्चयसे होती रहती है, क्योकि कषायके आधीन होकर यह जीव पहले ही अपनेसे ही अपने आत्माकी हिंसा करता है फिर दूसरे प्राणियोके प्राणोकी हिंसा होय भी व न भी होय, नियम नहीं है। प्रयोजन यह है कि इस जीवके मोह रागद्वेषरूप भाव ही हिंसक परिणाम हैं। जो भाव इन शरीर आदि प्राणोके निमित्तको पाकर हो जाते हैं, इन परिणामोसे ही कर्म पुद्गलोका बन्ध होता है जिस बधके कारण संसारमें जन्ममरणादि दुःखोको उठाता हुआ यह जीव भ्रमण करता है और स्वाधीन आत्मानन्दरूप मोक्षका लाभ नही कर सक्ता है इसलिये इन शरीरादि प्राणोका सम्बन्ध त्यागने योग्य है और

निज ज्ञानचेतनारूप प्राण ग्रहण करने योग्य है—यही निज हितका साधन है ॥ ६० ॥

उत्थानिका—आगे इंद्रिय आदि प्राणोंकी उत्पत्तिका अंतरंग कारण उपदेश करते हैं—

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणो पुणो पुणो अण्णो ।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥ ६१ ॥
आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुनः पुनरन्यान् ।
न जहाति यावन्ममत्वं देहप्रधानेषु विषयेषु ॥ ६१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(कम्ममलिमसो) कर्मोंसे मैला (आदा) आत्मा (पुणो पुणो) बार बार (अण्णो पाणे) अन्य २ नवीन प्राणोंको (धारदि) धारण करता रहता है। (जाव) जब तक (देहपधाणेसु विसएसु) शरीर आदि विषयोंमें (ममत्तं ण जहदि) ममताको नहीं छोड़ता है।

विशेषार्थः—जो आत्मा स्वभावसे भावकर्म, द्रव्य कर्म और नोकर्मरूपी मैलसे रहित होनेके कारण अत्यन्त निर्मल है तौभी व्यवहार नयसे अनादि कर्मबंधके वशसे मैला हो रहा है। ऐसा होता हुआ यह आत्मा उस समय तक बार बार इन आयु आदि प्राणोंको प्रत्येक शरीरमें नवीन नवीन धारता रहता है जिस समय तक यह शरीर व इंद्रिय विषयोंसे रहित परम चैतन्यमई प्रकाशकी परिणतिसे विपरीत देह आदि पंचेंद्रियोंके विषयोंमें स्नेह रहित चैतन्य चमत्कारकी परिणतिसे विपरीत ममताको नहीं त्यागता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इंद्रिय आदि प्राणोंकी उत्पत्तिका अंतरंग कारण देह आदिमें ममत्व करना ही है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने बतलाया है कि इस संसारी जीवके संसारमे भ्रमण करते हुए जो वारवार प्राणोंका धारण प्रत्येक नए२ शरीरमें जाकर होता है उसका अन्तरंग कारण शरीर आदिमें मोह–ममत्त्व है। हरएक संसारी आत्मा अनादिकालसे ही प्रवाहरूपसे कर्मोंसे बन्धा चला आरहा है–उन कर्मोंके उदयसे एक गतिको छोड़कर दूसरी गतिमें जाता है। जहा जाता है वहां जो शरीर व एक या दो या तीन या चार या पांच इन्द्रियें प्राप्त होती है उनहीके विषयभोगोंकी चाहनामें पडकर उस शरीरसे अत्यन्त रागी हो जाता है, जन्मभर इसी रागभावकी पूर्तिकी चेष्टा किया करता है, इच्छाके अनुसार भोग सामग्रीको पानेका उद्यम करके उनको एकत्र किया करता है। इसी ही उद्यममें एक क्षणमे आयु समाप्त होनेपर शरीर छोडता है और जैसी आयु बाधी होती है उसके अनुसार दूसरे शरीरमें पहुंच जाता है। वहां भी इसी तरह शरीरके विषयोंमें फस जाता है। मोह या ममताभाव जबतक बना रहता है तबतक संसारके पार पहुंचनेका मार्ग ही नहीं मिलता है। वश मोही जीव यदि ममत्त्वको न त्यागे तो अनन्त कालतक भ्रमण ही करता रहेगा। और जब कभी भी श्री गुरुके सम्यक् उपदेशसे ससार शरीरभोगोंको असार जानकर इनसे मोह त्याग अपनी शुद्ध परिणतिमे प्रेम करेगा तब ही इसकी ममताकी डोरी टूट जायगी। वस मिथ्यात्त्व भावके जाते ही इसका ससारका पार निकट आ जायगा–थोडे ही कालमें शरीर रहित हो मुक्त हो जायगा।

श्री पूज्यपाद स्वामीने “ समाधिशतक ” में कहा भी है–

देहान्तरगतेर्बीज देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीज विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥ ७४॥

भावार्थ–इस देहमें आत्मापनेकी भावना करनी कि जो शरीर है सो मैं हूं. जो मैं हूं सो शरीर है यही ममत्त्व अन्य अन्य देह धारण करनेका कारण है जब कि आत्मामे ही आत्मापनेकी भावना करनी शरीर रहित होनेका कारण है। स्वामी अमितिगति महाराज बृहत् सामायिकपाठमें कहते हैं–

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बांधवा मेऽगजा–
स्तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सजना मे जनाः ॥

इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः ।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीभ्रस्यते ॥ २५ ॥

भावार्थ–मेरी माता है, मेरी स्त्री है, मेरा घर है, मेरे भाई हैं, मेरा पुत्र है, मेरा पिता है, मेरा धन दौलत है, मेरा सुख है, मेरे सज्जन हैं, मेरे आदमी हैं इस तरह घोर ममतारूप अंधेरेके वशसे ज्ञानकी अवस्था जिसकी बंदसी होगई है ऐसा प्राणी सुख प्राप्तिके कारणरूप अपने हितसे दूर रहता है ।

और भी कहते है कि जबतक जैन वचनोंमें नहीं रमता है तब तक ममताकी डोरी नहीं टूटती है:–

कारिष्यामीद कृतमिदमिदं कृत्यमधुना,
करोमीति व्यग्र नयसि सकल कालमफलं ।
सदा रागद्वेषप्रचयनपरं स्वार्थविमुख,
न जैनेऽविक्रत्त्वे वचसि रमसे निर्वृतिकरे ॥५७ ॥

भावार्थ–मै ऐसा करूंगा, मैने ऐसा किया है, मै अब ऐसा करता हूं इस तरह आकुलतामें पडाहुआ तू अपना सर्व जीवन-काल निर्फल खोदता है तथा सदा अपने आत्माके कल्याणसे विमुख

होकर रागद्वेषके भीतर पडा रहता है और मुक्तिके कारण विकार रहित जिनेन्द्रके वचनोमें नहीं रमन करता है ।

इस तरह जबतक ममता है तबतक ससार है, ऐसा मानकर तथा इन शरीर आदि प्राणोको पुद्गलजनित व ससारके दु खोके व भ्रमणके कारण जानकर इनसे ममता छोडकर अपने ही शुद्ध आत्मस्वरूपमें रत होकर साम्यभावरूप चारित्रमें तिष्ठकर निजानंदका लाभ करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥ ६१ ॥

उत्थानिका—आगे इद्रिय आदि प्राणोके अन्तरंग नाशके कारणको प्रगट करते है—

> जो इदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
> कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥६२॥
>
> य इद्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमत्मक ध्यायति ।
> कर्मभिः स न रज्यते कथ त प्राणा अनुचरन्ति ॥६२॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो) जो कोई (इदियादि विजयी) इद्रिय आदिका जीतनेवाला ((भवीय) होकर (उवओगम्) उपयोगमई (अप्पग) आत्माको (झादि) ध्याता है। (सो) सो जीव (कम्मेहि) कर्मोंसे (ण रंजदि) नही रगता है अर्थात नही बधता है (किह) तव किस तरह (पाणा) प्राण (तं) उस जीवको (अणुचरंनि) आश्रय करेंगे ? ।

विशेषार्थ—जो कोई भव्य जीव अतीन्द्रिय आत्मासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतमें सतोषके बलसे जितेन्द्रिय होकर तथा कषाय रहित निर्मल आत्मानुभवके बलसे कषायको जीतकर केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगमई अपनी ही आत्माको ध्याता है वह चैतन्य-

चमत्कारमई आत्माके गुणोंके विघ्न करनेवाले ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे नहीं बंधता है। कर्मबंधके न होनेपर ये इंद्रियादि द्रव्यप्राण किस तरह उस जीवका आश्रय करसक्ते हैं? अर्थात् किसी भी तरह आश्रय नहीं करेंगे। इसीसे जाना जाता है कि कषाय और इंद्रियके विषयोंका जीतना ही पंचेन्द्रिय आदि प्राणोंके विनाशका कारण है।

भावार्थ–यहां आचार्यने वह उपाय बताया है जिस उपायसे शरीर और उसके अंग इन्द्रियादि न प्राप्त हो। शरीर धारनेका मूल कारण गति, आयु आदि कर्मोंका उदय है। कर्मका उदय कर्मोंके बंध विना नहीं होसक्ता। कर्मोंका बंध इंद्रियोंके विषयोंमें आशक्ति करने तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंमें परिणमन करने और निज आत्माकी अश्रद्धा होनेसे होता है। इसलिये जो यह चाहते हैं कि शरीर और इंद्रियोंका सम्बन्ध न हो और यह आत्मा अपने निज अमूर्तिक स्वभावमें ही अनन्तकाल विश्राम करता हुआ निज आनन्दका स्वाधीनपने भोग करे उनको उचित है कि निज आत्माके शुद्ध ज्ञानानंदमई स्वभावकी दृढ़ प्रतीति करके अपनी इन्द्रियोंकी आशक्तिको छोड़कर उनको अपने वश करें तथा क्रोधादि कषायोंको जीतकर शांतभावका आश्रय करें और निश्चल चित्त हो अपने ही शुद्ध ज्ञानदर्शनमई आत्माका ध्यान करके अनुभव करें और आनन्दामृतका पान करें–वश, वीतराग परिणामोंमे परिणमन करनेसे कर्मका बन्ध न होगा। जब बन्ध न होगा तब उदय कहांसे होगा? उदय विना शरीर तथा प्राणोका धारण न होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राणरहित होनेका

उपाय जितेंद्रिय होकर निज शुद्ध आत्माका अनुभव है । ऐसा ही श्री अमृतचन्द्राचार्यने समयसारकलशमें कहा है:—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पा,
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धाः,
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ २० ॥

भावार्थ—किसी भी तरह मोहको हटाकर जो निश्चल ज्ञानमई-आत्मीक भावकी भूमिका आश्रय करते है वे मुक्तिके साधकपनेको पाकर सिद्ध हो जाते है । जो मिथ्यादृष्टी मूर्ख हैं वे इस भूमिको न पाकर संसारमें भ्रमण करते हैं—

श्री अमितिगति महाराज सामायिकपाठमे कहते हैं—

सर्वारंभकषायसंगरहितं शुद्धोपयोगोद्यतं,
तद्रूपं परमात्मनो विकलिलं बाह्यव्यपेक्षाऽतिगं ।
तन्निःश्रेयसकारणाय हृदये कार्यं सदा नापरं,
कृत्यं कापि चिकीर्षवो न सुधियः कुर्वंति तद्ध्वंसकं ॥७१॥

भावार्थ—जो परमात्माका स्वभाव सर्व आरम्भ व कषाय या परिग्रहसे रहित है, शुद्धोपयोगमें लीन है, कर्म रहित है, बाहरी पदार्थोंके आलम्बसे शून्य है उसी स्वभावको मुक्तिके लाभके लिये अपने हृदयमें सदा ध्याना चाहिये, अन्य किसीको नहीं । जो संसारके बन्धको मेटना चाहते है वे बुद्धिमान इस निज शुद्ध स्वभावके नाशक किसी भी कामको कभी भी नहीं करते हैं । ऐसा जानकर शरीरके त्यागके लिये शरीरका मोह छोडकर निज शुद्ध आत्माका एक ध्यान ही कार्यकारी है ऐसा निश्चय करना चाहिये यह तात्पर्य है ॥ ६२ ॥

इस तरह "एवं सपदेसेहिं सम्मग्गो" इत्यादि आठ गाथाओंसे सामान्य भेद भावनाका अधिकार समाप्त हुआ ।

अथानंतर इक्यावन गाथा तक विशेष भेदकी भावनाका अधिकार कहा जाता है । यहां विशेष अन्तर अधिकार चार हैं । उन चारोंके बीचमें शुद्ध आदि तीन उपयोगकी मुख्यतासे ग्यारह गाथाओं तक पहला विशेष अन्तर अधिकार प्रारम्भ किया जाता है, उसमें चार स्थल हैं । पहले स्थलमें मनुष्यादि पर्यायोंके साथ शुद्धात्म स्वरूपका भिन्नपना बतानेके लिये "अत्थित्तणिच्छदस्सर-हिं" इत्यादि यथाक्रमसे तीन गाथाएं हैं । उसके पीछे उनके संयोगका कारण "अप्पा उवओगप्पा" इत्यादि दो गाथाएं हैं । फिर शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग तीनकी सूचनाकी मुख्यतासे "जो जाणादि जिणिंदे" इत्यादि गाथा तीन हैं । फिर मन वचन कायका शुद्धात्माके साथ भेद है ऐसा कहते हुए "णाहं देहो" इत्यादि तीन गाथाएं हैं । इस तरह ग्यारह गाथाओंसे पहले विशेष अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है ।

उत्थानिका—आगे फिर भी शुद्धात्माकी विशेष भेद भावनाके लिये नर नारक आदि पर्यायका स्वरूप जो व्यवहार जीवपनेका हेतु है दिखाते हैं:—

अत्थित्तणि[illegible]स्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो ।
अत्थो [illegible] सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ ६३ ॥

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे संभूतः ।
अर्थः पर्यायः स संस्थानादि प्रभेदैः ॥ ६३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(अत्थित्तणिच्छिदस्स) अपने

अस्तित्त्व कर निश्चित (अत्थस्स) जीव नामा पदार्थके (हि) निश्चयसे (अत्थंतरम्मि संभूदो) पुद्गल द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुआ (अर्थः) नर नारक आदि विभाव पदार्थ है (सो) वही (संठाणादिप्पभेदे हि) संस्थान आदिके भेदोंसे (पज्जायो) पर्याय है।

विशेषार्थ–चिदानन्दमई एक लक्षणरूप स्वरूपकी सत्तामें स्थिर ज्ञानमई परमात्मा पदार्थरूप शुद्धात्मासे अन्य ज्ञानावरणादि कर्मोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ जो नर नारक आदिका स्वरूप है वह छः संस्थान व छः संहनन आदिसे रहित परमात्मा द्रव्यसे विलक्षण संस्थान व संहनन आदिके द्वारा भेदरूप विकार रहित शुद्धात्मानुभव लक्षणरूप स्वभाव व्यंजनपर्यायसे भिन्न विभाव व्यंजनपर्याय है।

भावार्थ–यहां यह बताया है कि यह जीव प्रवाहरूपसे अनादिकालसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे बन्धा चला आरहा है–इस जीवके स्वरूपकी सत्ता जीवमें सदा स्थिर रहती है। जीवके भीतर जो ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुण है वे जीवमें सदासे हैं व सदा रहेंगे–जीव अपने अनन्त गुणोंके साथ एकमेक होकर भी अपने लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशोंको भी रखता है। वे प्रदेश भी घटते बढ़ते नहीं हैं–ऐसा जीव अपने अखंड स्वभावकी सत्ताको रखता हुआ अनादि कर्मबन्धके उदयके आधीन इस संसारमें भ्रमण करता हुआ भिन्न२ शरीरोंको धारणकरके नर, नारक, तिर्यंच, मनुष्य नाम पाता है–इन शरीरोंके प्रमाण आत्माके प्रदेश संकोचविस्तार स्वभावके कारण होजाते हैं। शरीरके सम्बन्धसे अनेक प्रकार आकारोंको धारण करता है। इन आकारोंके परिवर्तनको

व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे आकार भिन्न २ होता है वैसे ज्ञान दर्शन वीर्य आदि विशेष गुणोकी प्रगटता भी भिन्न २ प्रकारकी होजाती है। ऐसी अवस्थाएं होती रहती हैं, छूटती रहती हैं। ये सब कर्मके द्वारा उत्पन्न अवस्थाएं नाशवत हैं ऐसा निश्चयकर अपने स्वाभाविक पुद्गलके संयोगसे भिन्न शुद्ध असंख्यात प्रदेशरूप सिद्ध पर्यायको ही ग्रहण करने योग्य जानना चाहिये, नरनारकादि रूपोंको त्यागने योग्य मानना चाहिये ॥ ६३ ॥

उत्थानिका—आगे उन्हीं व्यजन पर्यायके भेदोको प्रगट करते बताते है—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादु हि णामकम्मस्स ॥ ६४ ॥

नरनारकतिर्यक्सुराः संस्थानादिभिरन्यथा जाताः ।
पर्याया जीवानामुदयाद्धि नामकर्मणः ॥ ६४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(णामकम्मस्स उदयादु) नाम कर्मके उदयसे (हि) निश्चयसे (जीवाणं) संसारी जीवोंकी (णरणारयतिरियसुरा) नर, नारक, तियच और देव (पज्जाया) पर्यायें (संठाणादीहिं) संस्थान आदिके द्वारा (अण्णहा) स्वभाव पर्यायसे भिन्न अन्य२ रूप (जादा) उत्पन्न होती हैं।

विशेषार्थ—निर्दोष परमात्मा शब्दसे कहने योग्य, नाम गोत्रादिसे रहित शुद्ध आत्मा द्रव्यसे भिन्न नाम कर्मके बन्ध, उदय, उदीरणा आदिके वशसे जीवोंकी नर, नारक, तिर्यंच तथा देव रूप अवस्थाएं अर्थात् विभाव व्यजन पर्यायें अपने भिन्न २ आकारोंसे भिन्न२ उपजती हैं। मनुष्य भवमें जो समचतुरस्रसंस्थान

व औदारिकादि शरीर होता है उसकी अपेक्षा अन्य भवमें उससे भिन्न ही संस्थान शरीर आदि होते हैं। इस तरह हरएक नए नए भवमे कर्मकृत भिन्नता होती है, परन्तु शुद्ध बुद्ध एक परमात्मा द्रव्य अपने स्वरूपको छोडकर भिन्न नही हो जाता है। जैसे अग्नि तृण, काष्ठ, पत्र आदिके आकारसे भिन्न२ आकारवाली हो जाती है तो भी अग्निपनेके स्वभावको अग्नि नही छोड़ देती है।] क्योकि ये नरनारकादि पर्यायें कर्मोंके उदयसे होती है इससे ये शुद्धात्माका स्वभाव नही है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने फिर इसी बातको स्पष्ट किया है कि ये संसारी जीव कर्मोंसे बद्ध हैं इसीसे उनको चारगतियोंके अनेक प्रकारके शरीरोंको धारकर अनेक रूप होना पडता है। नामकर्मके उदयसे एकेंद्रिय पर्यायमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तथा वनस्पतिरूप; द्वेन्द्रियमे लट, केचुआ, कौडी, संख आदि रूप; तीन इन्द्रियमे चीटी, चीटे, खटमल, जू, जोक आदि रूप, चौद्रियमें मक्खी, भ्रमर, तितली, भिड़, पतगा आदि रूप और पंचेंद्रियमें मच्छ, गाय, भैस, कुत्ता, बिल्ली, सिंह, हिरण, सर्प, नकुल, कबूतर, काक, मोर, मैना, तोता आदि अनेक रूप तिर्यंच गतिकी अवस्थाओमें नाना प्रकार शरीरके आकार रंग, हड्डी, मांस आदि प्राप्त करने पड़ते हैं। मनुष्य गतिमें अनेक रगके, अनेक प्रकारके सुन्दर, असुन्दर, मोटे पतले, रूखे चिकने शरीरोंको धारकर अनेक आर्य व अनार्य देशोंमें जन्म लेकर रहना पडता है। देवगतिमे भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, कल्पवासी देवोमे वैक्रियिक शरीरकी अनेक जातियोमें जन्म लेकर अनेक प्रकारके छोटे व बडे शरीर पाकर

समय विताना पडता है । इसी तरह नरक गतिमें अनेक प्रकारके भयावने असुन्दर छोटेवडे शरीरोंको धारकर सात नरकोंमें कष्ट उठाना पडता है । आचार्य कहते हैं कि संसारमें अनेक शरीरोंमें जीवका आकार संकोच विस्तारसे अनेक प्रकार हो जाता है व शरीरकी अनेक प्रकारकी अच्छी बुरी अवस्थाएं होती हैं इनमें कारण नामकर्मका विचित्र प्रकारका उदय है । अन्य कर्मोके उदयके वशसे आत्मीक गुणोंकी विकारता रहती है । सर्व संसारीक व्यंजन पर्यायें कर्मद्वारा जनित हैं—मेरे शुद्ध ज्ञानानन्दमई आत्मीक स्वभावसे भिन्न हैं । यद्यपि मेरी आत्माने इस पंच परिवर्त्तनरूप संसारमें अनेक अवस्थाएं धारण करके अनेक भेष वनाए हैं, परन्तु मेरा निश्चित असंख्यात प्रदेशमई आकार व मेरे निश्चित स्वाभाविक गुण तथा स्वभाव सब मेरेमें वैसे ही रहे—उनकी अवस्थाएं कर्मके निमित्तसे अनेक विकाररूप हुई तथापि उनका स्वभाव कभी मिटा नहीं । मैं जब कर्मके आवरणके भावको चित्तसे हटाकर अपनेको देखता हूं तो अपनेको सिद्ध भगवानरूप ही शुद्ध अनन्त शक्तियोका धारी ही देखता हूं और इसी लिये निजानन्दरूपी अमृतके पानके लिये मै इसी अपने स्वभावका अनुभव करता हुआ स्वाद लेता हू । यही भावना कार्यकारी है ।

महाराज कुन्दकुन्दाचार्यजीने समयसारजीमे भी शरीरोकी अवस्थाओंको नामकर्मकृत बताया है—

> एकं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पञ्च इन्दिया जीवा ।
> बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ७० ॥
> एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं ।

पयडीहिं पोग्गलमईहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥ ७१ ॥
पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा वादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ७२ ॥

भावार्थ-एकेंद्रिय, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, पंचेंद्रिय जाति, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सब नामकर्मकी प्रकृतियें हैं। जो ये १४ जीव समासरूप जीवोंके भेद अर्थात् एकेंद्रिय सूक्ष्म, एकेंद्रिय वादर, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, पचेंद्रिय असैनी, पचेंद्रिय सैनी ये सात पर्याप्त व सात अपर्याप्त पैदा हुए हैं सो सब पुद्गलमई नामकर्मकी प्रकृतियोंके कारणसे पुद्गलरूप ही बने हुए हैं। इनको निश्चयसे जीव कैसे कहा जा सक्ता है? सिद्धांतमें जो पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म, वादर जीवोंके नाम कहे हैं सो शरीरको ही जीवकी संज्ञा व्यवहारनयसे कही गई है। निश्चयसे जीव इन शरीरादिसे रहित शुद्ध टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा स्वभावका धरनेवाला है। यही मेरा स्वभाव है। ऐसी भावना करके अपने आत्माको सर्व नरनारक आदि पर्यायोंसे भिन्न एकाकाररूप अनुभव करना चाहिये, यह तात्पर्य है।

उत्थानिका-आगे यह प्रकाश करते हैं कि जो कोई अपने स्वरूपमे अस्तित्त्वको रखनेवाले परमात्मद्रव्यको जानता है वह परद्रव्यमें मोहको नहीं करता है-

तं सब्भावणिवद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं, ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥६५॥

त सद्भावनिबद्ध द्रव्यस्वभाव त्रिधा समाख्यातम्।
जानाति य. सविकल्प न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥ ६५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जो) जो ज्ञानी (सब्भावणिबद्धं) अपने स्वभावमें तन्मय (तिहा समक्खादं) व तीन प्रकार कहे हुए

(दव्वसहावं) द्रव्यके स्वभावको (सवियप्पं) भेद सहित (जाणदि) जानता है (सो) वह (अण्णदवियम्हि) अन्य द्रव्यमें (ण मुहदि) मोहित नहीं होता है।

विशेषार्थ-जो कोई परमात्म द्रव्यके स्वभावको ऐसा जानता है कि यह अपने स्वरूप सत्तामें तन्मय रहता है तथा इसका स्वभाव तीन प्रकार कहा गया है अर्थात् केवलज्ञान आदि गुण हैं, सिद्धत्त्व आदि विशुद्ध पर्यायें हैं तथा इन दोनोंका आधाररूप परमात्म द्रव्य है तैसे ही शुद्ध पर्यायोंमें उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य रूप है ऐसे स्वरूप अस्तित्त्वके साथ तीन रूप है तथा ज्ञान दर्शन भेदसहित है इनमें साकार ज्ञान व निराकार दर्शन है। वह भेद-ज्ञानी विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव आत्मतत्त्वको जानता हुआ देह व रागादि परद्रव्योंमें मोह नहीं करता है।

भावार्थ-इस गाथाका भाव यह है कि द्रव्य छः है इन छहों द्रव्योंकी स्वरूप सत्ताको 'कि इनका अस्तित्त्व सदासे है व सदा रहेगा, व ये गुण पर्याय मय हैं व उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं' इस तरह तीन प्रकार जैसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है वैसा उनको भेद प्रभेद सहित अच्छी तरह जानता है वही ज्ञानी है। उस ज्ञानीको यह जगत यद्यपि मिश्रित अनेक अवस्थामय है तथापि अलग अलग प्रगट होता है। जितनी आत्माएं हैं सब शुद्ध ज्ञानानंदमय झलकती हैं, जितने अनात्म द्रव्य पुद्गलादि हैं वे सब अचेतन प्रगट होते हैं। उसको अपने आत्माकी सत्ता भी अन्य आत्माओंसे जुदी भासती है। वह अपनी आत्माको परम-वीतराग ज्ञानदर्शन सुख वीर्यका समूहरूप एक अखंड अपने ही

शरीरमें विराजित अनुभव करता है ऐसे अनुभवी जीवका स्वभावसे ही मोह अपने ही निज द्रव्यको छोड़कर अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं रहता है-वह जगतकी अवस्थाओंको ज्ञाताद्दष्टाके समान देखता जानता है-उनके किसी पर्यायके होनेमे हर्ष व किसी पर्यायके विगड़नेमें द्वेष नहीं करता है, वीतरागी रहता हुआ ज्ञानी वन्धमें नहीं पड़ता है। वास्तवमे मोहकी जड़ काटनेवाला पदार्थोंका सम्यग्श्रद्धान और सम्यग्ज्ञान है। इनके होनेपर मोहकी गांठ टूट जाती है और कुछ काल पीछे ही मोहका सर्वथा क्षय हो जाता है, और आत्मा केवलज्ञानी हो जाता है। इस तरह जिस तरह वने यथार्थज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानलोचन स्त्रोत्रमे श्री वादिराज महाराज कहते हैं:-

अनाद्यविद्यामयमूर्च्छिताग, कामोदरक्रोधहुताशतसम्।
स्याद्वादपीयूषमहौपधेन, त्रायस्व मा मोहमहाहिदष्टम्॥३१॥

भावार्थ-मै अनादिकालके अज्ञानमई रोगसे मूर्छित हूं, काम क्रोधकी अग्निसे जल रहा हूं, मोह महा सर्पसे डसा गया हूं, मुझे स्याद्वादरूपी अमृतमई महा औषधि पिलाकर मेरी रक्षा कर।

श्री आत्मानुशासनमे गुणभद्राचार्य कहते हैं-

मुहु' प्रसार्य सद्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥ १७७॥

भावार्थ-वारवार सच्चे ज्ञानका विस्तार करके व पदार्थोंके यथार्थ स्वभावोको देखता हुआ एक अध्यात्मज्ञानी मुनि रागद्वेष दूरकर निज आत्माका ध्यान करे।

इससे यह सिद्ध है कि ज्ञानी जीव ही मोहका क्षय कर सक्ता है॥ ६९॥

इस तरह नर नारक आदि पर्यायोके साथ परमात्माका विशेष भेद कथन करते हुए पहले स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ।

उत्थानिका-पूर्वमें कहे प्रमाण आत्माका नर, नारक-आदि पर्यायोके साथ भिन्नताका ज्ञान तो हुआ, अब उनके संयोगका कारण कहते है-

अप्पा उवयोगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो हि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥६६॥

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः ।
स हि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ॥६६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अप्पा) आत्मा (उवओगप्पा) उपयोग स्वरूप है, (उपओगो) उपयोग (णाणदंसणं) ज्ञानदर्शन (भणिदं) कहा गया है। (सो हि अप्पणो उवओगो) वही आत्माका उपयोग (सुहो वा असुहो) शुभ या अशुभ (हवदि) होता है ।

विशेषार्थ-चैतन्यके साथ होनेवाला जो कोई परिणाम उसको उपयोग कहते है उस उपयोगमई यह आत्मा है । वह उपयोग विकल्प सहित ज्ञान व विकल्प रहित दर्शन होता है, ऐसा कहा गया है। वही ज्ञानदर्शनोपयोग जब धर्मानुरागरूप होता है तब शुभ है और जब विषयानुरागरूप होता है व द्वेष मोहरूप होता है तब अशुभ है। गाथामे वा शब्दसे शुभ अशुभ अनुरागसे रहित शुद्ध उपयोग भी होता है ऐसा तीन प्रकार आत्माका उपयोग होता है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह कहा है कि जिन कर्मोंके उदयसे निश्चयसे शुद्ध परन्तु अनादि कर्मबंधसे अशुद्ध इस जीवके

नरनारक आदि पर्यायें होती है उन कर्मोंका बध इसी जीवके अशुद्ध उपयोगसे होता है। आत्मा चेतना गुणधारी है उसीके परिणामको उपयोग कहते है। उसके दो भेद हैं—एक दर्शन, जो सामान्यरूपसे विना आकारके पदार्थोमे प्रवर्तन करता है। दूसरा ज्ञान—जो विशेष रूपसे आकारसहित पदार्थोंको जानता है। अल्पज्ञानीके ये दर्शन और ज्ञान उपयोग एक साथ नही होते है। पहले दर्शन पीछे ज्ञान होता है। ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। जब मोहकी कलुषतासे उपयोग मैला नही रहता है तब ज्ञानदर्शनोपयोग शुद्ध होता है और शुद्धोपयोग कर्मवन्धका कारण नही होता है, परन्तु जब मोहकी कलुषतासे उपयोग मैला होता है तब वह अशुद्धोपयोग कहलाता है। उस अशुद्धोपयोगके दो भेद हैं-एक शुभोपयोग दूसरा अशुभोपयोग। जब उपयोगमे कषायकी मन्दतासे धर्मानुराग होता है तब वह शुभोपयोग कहलाता है और जब पचेंद्रियोके विषयोंमें लीन रहता है व कषायोकी तीव्रतासे तीव्र क्रोध, मान, माया व लोभमे फंसकर मोही द्वेषी होता है तब वह उपयोग अशुभ उपयोग कहलाता है। ये ही दो प्रकारका अशुद्ध उपयोग कर्मवन्धका कारण है। शुभ उपयोगमे विशुद्धता तथा अशुभ उपयोगमे सक्लेशपना रहता है।

ऐसा जानकर शुद्धोपयोगको उपादेय मानकर उसकी प्राप्तिका सदा ही यत्न करना चाहिये। **श्री आत्मानुशासनमे** कहा है.—

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च पट् त्रयं।
हितमाद्यमनुष्ठेय शेषत्रयमथाहितम् ॥ २३९ ॥
तत्राप्याद्य परित्याज्य शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभ च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥२४०॥

भावार्थ–शुभ उपयोग उससे पुण्यबन्ध उसका फल संसारीकसुख, अशुभ उपयोग उससे पापबन्ध, उसका फल दुःख, इन छहोंमें व्यवहारमें पहले तीन हितकारी हैं इससे ग्रहण योग्य हैं तथा दूसरे तीन हितनाशक हैं इससे त्यागने योग्य हैं । उनमें भी निश्चयसे आदिका शुभोपयोग त्यागने योग्य है जिसके त्याग होते हुए शेष दो भी स्वयं नहीं होते अर्थात् पुण्यबन्ध व सांसारिक सुख नहीं होते । शुभको छोड़कर शुद्धोपयोग होते हुए अन्तमें परमपदको यह आत्मा प्राप्त कर लेता है ॥ ६६ ॥

उत्थानिका–आगे फिर कहते हैं कि जब यह अशुद्ध उपयोग ही नरनारकादि पर्यायोंके कारणरूप परद्रव्यमई पुद्गलकर्मके बंधका कारण होता है तब किस कर्मका कौन उपयोग कारण है–

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं, तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥६७॥

उपयोगो यदि हि शुभः पुण्य जीवस्य संचयं याति ।
अशुभो वा तथा पाप तयोरभावे न चयोऽस्ति ॥ ६७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(हि) निश्चयसे (जदि) यदि (उवओगो) उपयोग (सुहो) शुभ हो तो (जीवस्स) इस जीवके (पुण्णं) पुण्य कर्म (संचयं जादि)का संचय होता है (वा) अथवा (असुहो) अशुभ हो (तध) तब (पाव) पापका संचय होता है । (तेसिमभावे) इन शुभ अशुभ उपयोगोंके न होनेपर (चयं) संचय (ण अत्थि) नही होता है ।

विशेषार्थ–जब शुभ उपयोग होता है तब इस जीवके द्रव्य पुण्यकर्मका बंध होता है और जब अशुभोपयोग होता है तो द्रव्य

पापका संचय होता है—इन दोनोंके विना पुण्य पापका बंध नहीं होता है अर्थात् जब दोष रहित निज परमात्माकी भावनारूपसे शुद्धोपयोगके बलकेद्वारा दोनों ही शुभ अशुभ उपयोगोंका अभाव किया जाता है तब दोनो ही प्रकारके कर्मबंध नही होते है।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि कर्मबंधका कारण कषायकी कलुपता है। जब आत्मा निष्कपाय या वीतराग अर्थात् साक्षात् शुद्धोपयोगमय होता है तब इसके कर्मबंध नहीं होता है। ११ वें गुणस्थानसे कपायका उदय नहीं है। सयोग केवली तक योगोंका सकम्पपना है इसीलिये मात्र साता वेदनीय नामका पुण्यकर्म एक समयकी स्थितिधारी आता है और झड़ जाता है। जिस बंधमें कमसे कम अतर्मुहूर्त स्थिति पड़े उसही को बंध कह सक्ते है ऐसा बंध सूक्ष्मलोभ नामके दशवें गुणस्थान तक ही होता है। आयु कर्मके बंधके अवसरपर आठ कर्म योग्य व शेप समयोंमें सात कर्म योग्य पुद्गलोंका आश्रव तथा बंध होता है। इनमें चार घातिया कर्म ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतराय द्रव्य पाप कर्म हैं तोभी इनका बंध सदा ही हुआ करता है। क्योंकि ज्ञानदर्शनमें जितनी कमी है व वीर्यमे जितनी कमी है व मोहकी जितनी कालिमा है उतनी ही थिरता उपयोगकी नहीं होती है। इस अथिरताके दोपसे हर समय इन चार घातिया कर्मोंका बंध हुआ करता है, परतु जब आत्मामें शुभोपयोग होता है तब इन पाप कर्मोंमें अनुभाग बहुत हीन पड़ता है, अशुभोपयोगके होनेपर तीव्र पड़ता है। अघातिया कर्मोंमे पुण्य पापके भेद हैं। साता वेदनीय; उच्च गोत्र, देव मनुष्य

गति शुभ, शुभग, आदेय, यश आदि नाम कर्मकी शुभ प्रकृतियें, तथा देव मनुष्य व तिर्यंच आयु कर्म, द्रव्य पुण्य कर्म हैं जब कि असाता वेदनीय; नीच गोत्र; नरक गति अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय आदि नाम कर्मकी अशुभ प्रकृतियें, तथा नरक आयु ये द्रव्य पाप कर्म हैं।

जब इस जीवका उपयोग मंदकषाय रूप होकर दान पूजा जप तप स्वाध्यायमें लीन होता है तब शुभोपयोग कहलाता है। उस समय घातिया कर्मोंके सिवाय चार अघातिया कर्मोंमें द्रव्य पुण्य कर्मका ही बंध होता है और जब इस जीवका उपयोग तीव्र कषायरूप होकर हिंसा, असत्य, पर हानि, विषय भोग आदिमें लीन होता है तब अशुभ उपयोग होता है उस समय घातिया कर्मोंके सिवाय चार अघातिया कर्मोंमे द्रव्य पाप कर्मका ही बंध होता है।

शुभ व अशुभ कलिमाको बन्धका कारण जानकर हमको मुक्ति पानेके लिये एक शुद्धोपयोगकी भावना ही कर्तव्य है।

स्वामी अमितिगति बड़े सामायिकपाठमें कहते हैं–

पूव कर्म्म करोति दुःखमशुभं सौख्य शुभ निर्मितं ।
विज्ञायेत्त्यशुभ निहंतु मनसो ये पोषयंते तपः ॥
जायते समसंयमैकनिधयस्ते दुर्ल्लभा योगिनो ।
ये त्वत्रोभयकर्म्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥ ९० ॥

भावार्थ–पूर्वमे बांधा हुआ अशुभकर्म दुःख पैदा करता है जब कि शुभ कर्म सुख पदैा करता है, ऐसा जानकर जो इस अशुभको नाश करनेके भावसे तप करते हैं और समता तथा संयमरूप होजाते हैं ऐसे योगी भी दुर्लभ हैं। परंतु जो पुण्य पाप दोनो ही प्रकारके कर्मोंके नाशमें लवलीन हैं उन योगियोकी तो बात ही क्या कहनी।

प्रयोजन यह है कि जो शुद्धोपयोगके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंके नाशको चाहते हैं ऐसे ही साधु प्रशसनीय हैं, क्योकि शुद्ध वीत-राग भाव ही बन्धनाशक तथा निजानन्ददायक और साक्षात् मुक्तिका मार्ग है ॥ ६७ ॥

इस तरह शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोगका सामान्य कथन करते हुए दूसरे स्थलमे दो गाथाएँ समाप्त हुईं।

उत्थानिका—आगे विशेष करके शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तधेव अणगारे।
जीवे य साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ ६८ ॥

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धास्तथैवानागारान्।
जीवे च सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य ॥ ६८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जो) जो जीव (जिणिंदे) जिनेन्द्रोको (जाणादि) जानता है (सिद्धे) सिद्धोको (पेच्छदि) देखता है। (तधेव) तैसे ही (अणगारे) साधुओंका दर्शन करता है (य) और (जीवे साणुकपो) जीवोपर दया भाव रखता है (तस्स) उस जीवका (सो उवओगो) वह उपयोग (सुहो) शुभ है।

विशेषार्थ—जो भव्य जीव अरहंतोको ऐसा जानता है कि वे अनन्तज्ञान आदि चतुष्टयके धारी हैं तथा क्षुधा आदि अठारह दोषोसे रहित है तथा सिद्धोको ऐसा देखता है कि वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित हैं तथा सम्यक्त आदि आठ गुणोमे अंतर्भूत अनन्त गुण सहित है तैसे ही अनगार शब्दसे कहने योग्य निश्चय व्यवहार पच आचार आदि शास्त्रोक्त लक्षणके धारी आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंकी भक्ति करता है और त्रस स्थावर जीवोंकी

दया पालता है उस जीवके ऐसा व इसी जातिका उपयोग शुभ कहा जाता है।

भावार्थ--इस गाथामें शुभोपयोगका वास्तविक कथन बताया है। जो यथार्थमें सम्यग्दृष्टी हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, भेद विज्ञानसे स्वपरके ज्ञाता हैं उन्हींके ज्ञानमें अरहंत सिद्ध साधुओंका सच्चा स्वरूप व सच्चा प्रेम झलकता है व वे ही सच्चे हार्दिक दयावान होते हैं।

वे ही इस बातको जानते हैं कि जिन्होंने अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वको जीत लिया है, वेही जिन है उन्हींमें इन्द्र तुल्य चार घातिया कर्मोंको क्षय करके अनंतज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य्यको लब्धकर स्वरूप मगन रहनेवाले तथा क्षुधा, पिपासा, रोगादि अठारह दोषोसे रहित व अपनी दिव्यध्वनिसे मोहांधकारको नाशकर ज्ञान ज्योति प्रगटानेवाले श्री जिनेन्द्र या अरहंत होते हैं। तथा जो सर्व कर्म बंध रहित स्वरूपसे पूर्ण शुद्ध व निजानन्दमें तन्मय हैं वे सिद्ध हैं, जिन्होने सब कुछ सिद्ध कर लिया है व फिर जिनको कभी संसारमें फंसना नही है तथा जो भेदाभेद रत्नत्रयके प्रतापसे मोक्षका साधन करते हैं वे गृह रहित दिगम्बर साधु है। उनका उपदेश मोक्षमार्गमें प्रेरणा करनेवाला है। सर्व जीवोंको अपने समान जाननेवाले तथा व्यवहारमें प्राणोंके भेदसे त्रस स्थावर प्राणी है ऐसा समझनेवाले ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव दयाके सागर होते हैं--वे किसी भी जीवको कष्ट देना नहीं चाहते हैं। इसी लिये साधु पदमें वे स्थावरतककी दया पालते हैं, परंतु जब गृहस्थ अवस्थामें होते हैं तब संकल्प करके त्रस घात

नहीं करते हैं परन्तु लाचारीसे जो गृहस्थके आरंभ कार्य करने पड़ते हैं उनमे यथासंभव रक्षाके भावसे वर्तते हुए जो त्रस या स्थावरकी हिंसा होजाती है उससे अपनी निंदा करते हुए दयारससे सदा भीगे रहते है ऐसे महात्माओंके हृदयमें शुभोपयोग रहकर महान पुण्य कर्मका सचय करता है। इस गाथामे आचार्यने यह भी बतादिया है कि व्यवहार धर्म पंचपरमेष्ठीके गुणोमे भक्ति तथा अहिंसा धर्म है। दयारूप वर्तना अहिसा धर्मका एक अंग है। जीवोकी रक्षा हो यही भाव शुभोपयोग है। श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीने पाचपरमेष्ठियोका स्वरूप द्रव्यसग्रहमें इस तरह कहा है—

णट्ठ चदुघाइकम्मो दसण सुहणाणवीरिय मइओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरहो विचिंतिज्जो॥

भावार्थ–जिन्होने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं व जो अनंत दर्शन, अनत सुख, अनंत ज्ञान व अनतवीर्यमई है व परम औदारिक शरीरमे बिराजित है तथा वीतराग आत्मा है वे अरहंत हैं उनका ध्यान करना चाहिये।

णट्टट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धोझाएह लोयसिहरत्थो॥

भावार्थ–जिसने आठ कर्म तथा शरीरोंको नष्ट कर दिया है। जो लोक अलोकका ज्ञाता दृष्टा है, पुरुषाका है व लोकके शिखरपर विराजित है सो आत्मा सिद्ध है, उसका ध्यान करना चाहिये।

दसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्प पर च जुजइ सो आयरिओ मुणी झेयो॥

भावार्थ–जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सम्यक्-

तप और सम्यक् वीर्यरूपी पांच प्रकारके आचारमें अपनी आत्माको तथा दूसरे शिष्योंको लगाते हैं वे मुनि आचार्य हैं उनको ध्याना चाहिये ।

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥

भावार्थ-जो रत्नत्रयसे युक्त हैं, नित्य धर्मोपदेश देनेमें लीन है, यतियोंमें श्रेष्ठ हैं वह आतमा उपाध्याय है उसको नमस्कार हो।

दसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्च सुद्ध साहू स मुणी णमो तस्स ॥

भावार्थ-जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र रूप मोक्षके मार्गको नित्य शुद्ध रूपसे साधन करते हैं वह मुनि साधु हैं उनको नमस्कार हो । इस तरह पांच परमेष्ठी परम हितकारी हैं । इनकी यथायोग्य भक्ति करना शुभोपयोग है ।

अनुकम्पाका स्वरूप स्वयं श्री कुन्दकुन्द महाराजने पंचास्तिकायमे इसतरह कहा है:-

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा ॥१३७॥

भावार्थ-जो कोई जीव प्यासा हो, भूखा हो, रोगादिसे दुःखी हो उसको देखकर जो कोई उसकी पीडासे आप दुःखी होता हुआ दया करके उस दुःखके दूर करनेकी क्रियाको प्राप्त होता है उस पुरुषके यह अनुकम्पा होती है । वास्तवमें श्री देवगुरु शास्त्रकी भक्ति और दयाधर्ममे सर्व शुभोपयोग गर्भित है।

यह शुभोपयोग राग सहित होनेसे मुख्यतासे पुण्य बंधका

कारण है। मोक्षका कारण साक्षात् शुद्धोपयोग है जहां मात्र शुद्ध आत्मामें ही आप तन्मय रहकर वीतरागभावमें लीन रहता है। इसलिये शुद्धोपयोगको ही उपादेय मानकर उस रूप होनेकी चेष्टा करते हुए जबतक शुद्धोपयोग न हो शुभोपयोगमें वर्तना चाहिये।

वास्तवमें शुभोपयोग धार्मिक भाव है सो सम्यग्दृष्टिके पाया जाता है मिथ्यादृष्टीके नहीं। तथापि जहां व्यवहारकी दृष्टिसे देखा जाता है वहां निश्चय सम्यक्त न होते हुए जो व्यवहार सम्यक्ती देवगुरु शास्त्रकी भक्ति तथा दया मार्गमें व परोपकारमें वर्तन करता है उसको भी मंदकषाय होनेसे शुभोपयोग कह सक्ते हैं। यह शुभोपयोग अतिशय रहित साधारण पुण्य कर्म वंध करता है जब कि सम्यक्त्व सहित शुभोपयोग अतिशयरूप भारी विशेष पुण्य कर्म बांधता है ॥ ६८ ॥

उत्थानिका—आगे अशुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ ६९ ॥

विषयकषायावगाढो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः ।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभः ॥ ६९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(जस्स) जिस जीवका (उवओगो) उपयोग (विसयकसाओगाढो) विषयोंकी और कषायोंकी तीव्रतासे भरा हुआ है (दुस्सुदिदुच्चितदुट्ठगोट्ठिजुदो) खोटे शास्त्र पढने सुनने, खोटा विचार करने व खोटी संगतिमई वार्तालापमें लगा हुआ है, (उग्गो) हिंसादिमे उद्यमी दुष्ट रूप है, (उम्मग्गपरो) तथा मिथ्यामार्गमे तत्पर है ऐसे चार विशेषण सहित है (सो असुहो) सो अशुभ है।

विशेषार्थः—जो विषय कषाय रहित शुद्ध चैतन्यकी परिणतिसे विरुद्ध विषय कषायोंमें परिणमन करनेवाला है उसे विषय कषायावगाढ़ कहते हैं। शुद्ध आत्मतत्त्वको उपदेश करनेवाले शास्त्रको सुश्रुति कहते हैं उससे विलक्षण मिथ्या शास्त्रको दुःश्रुति कहते हैं। निश्चिन्त होकर आत्मध्यानमें परिणमन करनेवाले मनको सुचित्त कहते हैं। व्यर्थ वा अपने और दूसरेके लिये इष्ट कामभोगोंकी चिंतामें लगे हुए रागादि अपध्यानको दुश्चित्त कहते हैं, परम चैतन्य परिणतिको उत्पन्न करनेवाली शुभ गोष्ठी है या संगति है उससे उल्टी कुशील या खोटे पुरुषोंके साथ गोष्ठी करना दुष्ट गोष्ठी है। इस तरह तीन रूप जो वर्तन करता है उसे दुःश्रुति, दुश्चित्त, दुष्टगोष्टीसे युक्त कहते हैं। परम उपशम भावमें परिणमन करनेवाले परम चैतन्य स्वभावसे उल्टे भावको जो हिंसादिमें लीन है उग्र कहते हैं, वीतराग सर्वज्ञ कथित निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गसे विलक्षण भावको उन्मार्गमें लीन कहते हैं इसतरह चार विशेषण सहित परिणामको व ऐसे परिणामोंमें परिणत होनेवाले जीवको अशुभोपयोग कहते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने अशुभोपयोगका बहुत ही बढ़िया स्वरूप बताया है।

ज्ञान दर्शनोपयोगकी परिणतिमें जब ऊपर लिखित शुभोपयोगके व शुद्धोपयोगके भाव नहीं होते हैं तब तीसरे अशुभोपयोगके भाव अवश्य होते हैं। क्योंकि हरएक जीवके तीन प्रकारके उपयोगोंमेंसे एक न एक उपयोग एक समयमें अवश्य पाया जायगा। अशुभोपयोग भावकी पहचान यह है कि जिसका उपयोग पांचों

इन्द्रियोंकी तीव्र इच्छासे विवश हो इन्द्रिय भोगोंके संकल्परूप संरंभमें, उनके प्रवन्ध रूप समारंभमें व उनके भोगने रूप आरंभमें वर्तन करता है, व क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंकी तीव्रतामें फंसकर इन कषायोंके साथ मनके, वचनके व कायके वर्तनेमें लग जाता है, जिससे मारपीट करता है, गाली बकता है, दूसरेको तुच्छ समता है, कपटसे ठगता है, अन्यायसे धन एकत्र करता है, व विषय कषायोमे तथा मिथ्या एकांत धर्ममें फंसानेवाले खोटे शास्त्रोके पढ़नेमे लग जाता है, व कामभोगकी या अन्य दुष्ट चितारूप फिकरोंमें लगा रहता है व खोटे मित्रोंके साथ बैठकर परनिन्दा, आत्मप्रशंसा व खोटे मत्र करनेकी गोष्टीमें उलझा रहता है व जुआरमण, चौपड, सतरज, तास खेलन, भंडरूप वचन व चेष्टाके व्यवहारमे रति करता है व सदा भयानकरूप हो हिंसा प्रवृत्ति, मृषावाद, चोरीकरण, कुशील व परिग्रहवृद्धिमे फंसा रहता है व जिनेन्द्रप्रणीत मार्गसे विरुद्ध अन्य संसारके वढानेवाले मिथ्यामार्गोंकी सेवा पुजा भक्ति व श्रद्धामें लगा रहता है उसको अशुभोपयोग कहते है। यह अशुभोपयोग पापकर्मका बाधनेवाला है जिस पापकर्मके फलसे यह जीव नरक, निगोद, तिर्यंच व खोटी मनुष्य पर्यायमे जाकर महान् असह्य सकटोंको उठाता है। श्री पंचास्तिकायमे भी आचार्यने अशुभोपयोगका स्वरूप इसतरह कहा है:—

चरिया पमादबहुला कालुस्स लोलदा य विसयेसु ।
परिपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥ १३९ ॥

भावार्थ—स्त्री, भोजन, राजा व देश कथा सम्बन्धी भावोंमें मिली हुई वृथा राग उपजानेवाली प्रमादरूप क्रिया अथवा असा-

चधानीसे हिंसारूप गृहस्थीके आरंभकी क्रिया, चित्तकी मलीनता, इंद्रियोंके विषयभोगोंमें लोलुपता, अन्य प्राणियोंको दुःख देनेवाली क्रिया व दूसरोंकी निन्दा इत्यादि प्रवृत्ति पापका आश्रव करती है।

श्री कुलभद्रआचार्यकृत सारसमुच्चयमें अशुभोपयोगके भावोंको इस तरह बताया है—

कषायविषयैश्चित्तं मिथ्यात्वेन च संयुतम् ।
संसारबीजता याति विमुक्तं मोक्षबीजताम् ।' ३३ ॥

भावार्थ—जो मन विषय कषायोंसे व मिथ्यादर्शनसे पीड़ित है वह संसारके बीजपनेको प्राप्त होता है और इनहीसे रहित मोक्षका बीज होता है।

अज्ञानावृत्तचित्ताना रागद्वेषरतात्मनाम् ।
आरंभेषु प्रवृत्ताना हितं तस्य न भीतवत् ।२५२॥

भावार्थ—जिनका चित्त अज्ञानमें वर्तन करता है व जो राग द्वेषमें रत हैं व जो आरंभोमें वर्तन करते हैं उनका हित उसी तरह नहीं होता है जैसे डरपोकका हित नहीं होता है।

अशुभोपयोगके परिणामोसे यहां भी संक्लेशभाव होता है, आकुलता होती है, भय रहता है, जिससे सुख शांति नहीं प्राप्त होती है तथा उन परिणामोंके द्वारा दूसरोको भी कष्ट होता है तथा उनसे जो पापकर्मका बन्ध होता है वह उदयमें आकर जीवोंको अनेक कुयोनियोमें महा दुःख प्राप्त कराता है।

इससे अशुभोपयोग मूल संस्कारका कारण है तथा सब तरहसे हानिकारक है इससे सर्वथा त्यागने योग्य है, यह भावार्थ है ॥६९॥

उत्थानिका–आगे शुभ अशुभ उपयोगसे रहित शुद्ध उपयोगको वर्णन करते है–

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए॥ ७० ॥

अशुभोपयोगरहितः शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि॥ ७० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ.–(अहं) मैं (असुहोवओगरहिदो) अशुभोपयोगसे रहित होता हू. (सुहोवजुत्तो ण) शुभोपयोगमें भी परिणमन नहीं करता हूं तथा (अण्णदवियम्मि) निज परमात्मा सिवाय अन्य द्रव्यमे तथा जीवन मरण, लाभ, अलाभ, सुख दु:ख, शत्रु मित्र, निंदा प्रशंसा आदिमें (मज्झत्थो होज्जं) मध्यस्थ होता हुआ (णाणप्पगम्) ज्ञानस्वरूप (अप्पगं) आत्माको (झाए) ध्याताहूं।

विशेषार्थ–अशुभोपयोग तथा शुभोपयोगमें परिणमन न करके वीतरागी होकर ज्ञानसे निर्मित ज्ञानस्वरूप तथा उस केवलज्ञानमें अंतर्भूत अनंतगुणमई अपनी आत्माको शुद्ध ध्यानके विरोधी सर्व मनोरथरूप चिंताजालको त्यागकर ध्याताहू। यह शुद्धोपयोगका लक्षण जानना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें शुद्धोपयोगका स्वरूप जो वास्तवमें अनुभवगम्य है, बचनगोचर नहीं है, उसका संकेत स्वरूप कथन किया है।

जहा ध्याताका उपयोग मिथ्यामार्ग, व विषय कषायरूप अशुभोपयोगसे बिलकुल दूर रहकर भक्ति, पूजा, दान, परोपकार आदि मंद कषायसे होनेवाले शुभोपयोगोंसे भी छुटा हुआ होता

है और द्रव्यार्थिक दृष्टिके द्वारा परिणमन करता हुआ पर्यायार्थिक दृष्टिसे जो जीवन मरण, लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, निंदा प्रशंसा आदिमें विकल्प उठकर किसीमें राग व किसीमें द्वेष होता था सो नहीं होकर समताभावमें मग्न होजाता है और केवल मात्र ज्ञायक स्वभावरूप अपने ही शुद्ध आत्माके भीतर लय होजाता है वह शुद्धोपयोग है। इस शुद्धोपयोगकी दशामे ध्याताके अंतरंगमें ध्याता, ध्येय, ध्यानके विकल्प नहीं होते। जो ध्याता है वही ध्येय है, वही ध्यान है। आत्मामे एकाग्र परिणतिको ही शुद्धोपयोग कहते हैं। यही स्वात्मानुभवरूप दशा है, यही ध्यानकी अग्नि है जो कर्मोंको नाश करती है, यही रत्नत्रयकी एकतारूप निश्चय मोक्षमार्ग है, यही साधन है जिससे मोक्षकी सिद्धि होती है। निर्जराका यही मुख्य उपाय है। इस शुद्धोपयोगमे अपूर्व आनन्दका स्वाद आता है जिससे ध्याता परमसुखसमुद्रमे मग्न होकर एक शुद्ध अद्वैत भावरूप होजाता है, इस शुद्धोपयोगकी दशा श्री नागसेनमुनिने तत्त्वानुशासनमे इसतरह कही है—

तदेवानुभवश्चायमेकाग्र्यं परिमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥ १७० ॥

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥ १७१ ॥

तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥ १७२ ॥

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान्।
निरस्ताहममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥

भावार्थ—उसी ही अपने आत्माको अनुभव करताहुआ परम एकाग्रभावको पाता है तथा वचनअगोचर स्वाधीन आनन्दका लाभ करता है। जैसे वायु रहित प्रदेशोंमें रक्खा हुआ दीपक नहीं कापता है—अखंड जलता है तैसे योगी अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होता हुआ एकाग्रभावको नहीं त्यागता है तब बाहरी अन्य पदार्थोंके होते हुए भी अपने आत्मामें अपने आत्माको अनुभव करते हुए और कुछ भी नही झलकता है। इस तरह अपने आत्माको एकाग्रभावसे अनुभव करते हुए वह योगी 'जिसका सर्व अहंकार ममकार नष्ट होगया है' आगामी आने योग्य कर्मोंको रोक देता है और पुराने बांधे हुए कर्मोंका क्षय करता है। यही शुद्धोपयोगकी दशा है। श्री देवसेनाचार्य तत्वसारमे कहते हे —

ससहाव वेदंतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दंसणणाणं चरित्त च ॥५६ ॥
जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं ।
सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे ॥५७॥

भावार्थ—वह योगी निश्चल चित्तको परभावोसे छूटा हुआ अपने स्वभावको जब अनुभव करता है तब वही जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप जानना चाहिये। जो जीव निश्चयनयके विषयरूप शुद्ध भावमें आश्रय लेता है उसके अनुभवमें जो आत्मा है सो ही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन व सम्यग्चारित्र है अथवा वही शुद्ध ज्ञान चेतना है।

शुद्धोपयोग परम कल्याणकारी है ऐसा जान इसीको उपादेय मान इसीका उद्यम करना चाहिये। इसतरह शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोगका वर्णन करते हुए तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे शरीर, वचन और मनके सम्बन्धमें मध्यस्थभावको झलकाते हैं—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमत्ता णेव कत्तीणं ॥ ७१ ॥

णाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारण तेषाम् ।
कर्ता न न कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥ ७१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(अहं देहो ण) मैं शरीर नहीं हूं (ण मणो) न मन हूं (ण चेव वाणी) और न वचन ही हूं (ण तेसिं कारणं) न इन मन वचन कायका उपादान कारण हूं। (ण कर्ता) न मैं इनका करनेवाला हूं (ण कारयिदा) न करानेवाला हूं (णेव कत्तीणं अणुमंता) और न करनेवालोंकी अनुमोदना करता हूं।

विशेषार्थ—मन, वचन, कायके व्यापारसे रहित 'परमात्म द्रव्यसे भिन्न जो मन, वचन, काय तीन है' मैं निश्चयसे इन रूप नहीं हूं इसलिये इनका पक्ष छोड़कर मै अत्यन्त मध्यस्थ होता हूं। विकार रहित परम आनन्दमई एक लक्षणरूप सुखामृतमे परिणति होना उसका जो उपादान कारण आत्मद्रव्य उसरूप मैं हूं। मन वचन कायोंका उपादान कारण पुद्गल पिंड है' मै नहीं हूं। इस कारणसे उनके कारणका भी पक्ष छोड़कर मध्यस्थ होता हूं। मै अपने ही शुद्धात्माकी भावनाके सम्बन्धमें कर्ता, करानेवाला तथा अनुमोदना करानेवाला हूं परंतु उससे विलक्षण मन वचन कायके सबंधमें कर्ता, करानेवाला, तथा अनुमोदना करनेवाला नही हूं। इसलिये इसका पक्ष भी छोड़कर मैं अत्यंत मध्यस्थ होता हूं।

भावार्थ—इस संसारी प्राणीकी सर्व व्यवहार क्रियाएं मन,

वचन, कायके व्यापारसे होती है। यहां आचार्य शुद्धात्माकी तरफ लक्ष्य करके कहते हैं कि यह आत्मा न शरीर है, न मन है, न बाणी है, न उनका कारण है, न उनका कर्ता है, न करनेवाला है, न इनका होना किसीके चाहता है। निश्चय नयसे आत्मा ज्ञायक-स्वभाव है। उसका स्वभाव न शरीर लेना न उसकी क्रिया करना है, न वचनोका व्यवहार करना है न मनका सकल्प विकल्प करना है। जितनी मन वचन कायकी क्रियाएं होती है वे मुख्यतासे मोहके कारणसे सराग अवस्थामे तथा नामकर्मके कारणसे वीतराग अवस्थामे होती हैं। इनकी क्रियाओमें बारहवें गुणस्थान तक क्षयोप-शम ज्ञानोपयोग काम करता है जो आत्माके शुद्ध ज्ञानसे भिन्न है। जैसे मन वचन कायकी क्रियाए स्वभावसे शुद्ध कर्म रहित आत्मामे नहीं होती है वैसे मन, वचन, कायकी रचना भी आत्मासे नहीं होती है न आत्मा उनरूप है, न उनका कारण है क्योकि आत्मा चैतन्यरूप अमूर्तीक है, जब कि मन वचन काय जड़रूप मूर्तीक हैं। हृदयस्थानमें मनोवर्गणासे बना हुआ द्रव्य मन आठ पत्रके कमलके आकार है। भाषा वर्गणाओंसे वचन, तथा आहारक वर्गणा-ओंसे हमारा शरीर बनता है। इस तरह ये मन वचन काय पुद्गल-मई हैं। इनका कारण भी पुद्गल है। मेरे चैतन्य स्वभावसे ये सर्वथा भिन्न हैं ऐसा समझकर इनसे वैराग्यभाव लाकर शरीरमें विराजित शुद्धात्माको ही अपना स्वरूप समझना चाहिये।

जबतक इन मन वचन कायोमे अहंबुद्धि न छोड़ेगा तबतक इस जीवको स्वपदका भान नही होसक्ता। श्री पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमे कहा है—

स्वबुद्धया यावद् गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषा भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

भावार्थ-जब तक मन वचन कायोको आत्माकी बुद्धिसे सम-झता रहेगा तब तक इसके संसार है। इन हीसे मैं पृथक् हू ऐसे भेदका अभ्यास होनेपर मुक्तिका लाभ होता है। जो निज शुद्ध आत्माको शरीरादिसे भिन्न नहीं अनुभव करते हैं वे अज्ञानी रहते हैं जैसा श्री अमितिगति महाराजने सामायिकपाठमें कहा है—

गौरो रूपधरो दृढः परिदृढः स्थूलः कृशः कर्कशो ।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना ॥
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो ।
नित्य ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युत ॥ ७० ॥

भावार्थ—मूर्ख अज्ञानी जीव सर्व दोष व विघ्नोसे रहित निर्मल अविनाशी ज्ञानमई स्वभावधारी आत्माको न जानकर यह मिथ्या कल्पना किया करते हैं कि मैं गोरा हू, रूपवान हूं, बल-वान् हू निर्बल हूं, स्थूल हूं, पतला हूं, कठोर हूं, देव हू, मनुष्य हूं, पशु हूं, नारकी हूं, नपुसक हूं, पुरुष हूं तथा स्त्री हूं।

वास्तवमे जिन्होने अपने आत्माके स्वभावको अच्छी तरह जान लिया है उनकी कल्पना शरीर, वचन व मन सम्बन्धी क्रिया-ओंमें कभी नही होती है। वे अखंड ज्योतिमई अपने आत्माको समझते हुए ससारकी अवस्थाओंके ज्ञाता दृष्टा रहते हैं, उनसे स्वयं विकारी नहीं होते हैं ॥७१॥

उत्थानिका—आगे शरीर, वचन तथा मनको शुद्धात्माके स्वरूपसे भिन्न परद्रव्यरूप स्थापित करते हैं—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं पि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ ७२ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिंडः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ ७२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(देहो य मणो वाणी) शरीर, मन और वचन (पोग्गलदव्वप्पगत्ति) ये तीनों ही पुद्गल दव्य-मई (णिद्दिट्टा) कहे गए हैं। (पुणो) तथा (पोग्गलदव्वं पि) पुद्गल द्रव्य भी (परमाणुदव्वाणं पिंडो) परमाणुरूप पुद्गल द्रव्योका समूहरूप स्कंध है।

विशेषार्थ-जीवके साथ इन मन वचन कायकी एकता व्यवहार नयसे माने जानेपर भी निश्चयनयसे ये तीनों ही परम चैतन्य-रूप प्रकाशकी परिणतिसे भिन्न हैं। वास्तवमे ये परमाणुरूप पुद्ग-लोके बने हुए स्कंधरूप वर्गणाओसे बनकर पुद्गलद्रव्यमई ही है।

भावार्थ-पहली गाथामे जिस वातको दिखलाया है उसीका यहां स्पष्ट कथन है कि जब निश्चय नयसे आत्माके निज परम स्वभावकी तरफ दृष्टि डालते हैं तो वहा शुद्ध ज्ञानानंदमई आत्माका ही राज्य है। वहा न क्षयोपशम ज्ञान है, न क्षयोपशम वीर्य है, न मोहका उदय है, न नामकर्मका उदय है जिनके कारण भाव मन, भाव वचन व भाव काय योग काम करते है और न वहा पुद्गलीक मनोवर्गणाओंसे बना मन है, न भाषा वर्गणाओसे बना वचन है, न आहारक वर्गणासे बना हुआ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर है, न तैजस वर्गणासे बना हुआ तैजस शरीर है और न कार्माण वर्गणाओंसे बना हुआ कार्माण शरीर है। अतएव मैं मन

वचन कायसे भिन्न शुद्ध चैतन्य धातुकी बनी हुई एक अपूर्व अमूर्तीक वस्तु हूं । यही विश्वास शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका बीज है। क्योंकि जिसने मन वचन कायको अपने स्वरूपसे भिन्न जाना उसने काय सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्ब, वस्त्र, आभूषण, भूमि, मकान, देश, राज्य आदिको भी अपनेसे भिन्न जाना है। बस वही वैराग्यकी सीढ़ीपर चढ़कर शुद्धोपयोगकी भूमिकामें पहुंच सक्ता है।

पुद्गल द्रव्य मूलमें परमाणुरूप है जिसका फिर दूसरा विभाग नहीं होसक्ता है । पुद्गलमें बहु प्रदेशी रूप होकर परस्पर बन्धकर संघातरूप होनेकी शक्ति है जिससे अनेक परमाणु अनेक संख्यामें अनेक प्रकारसे परस्पर मिलकर अनेक प्रकारके स्कंधोंको बनाते रहते हैं जिनको वर्गणाएं कहते हैं। इन्हीं वर्गणाओंसे मन, वचन, काय बनते हैं, ऐसा ही हमें निश्चय करना चाहिये । जिसने इनको भिन्न जाना उसीका सबसे राग छूटेगा जैसा कि श्री अमितिगति महाराजने छोटे सामायिकपाठमें कहा है-

> यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
> पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठंति शरीरमध्ये ॥२७॥

भावार्थ-जिसकी एकता शरीरसे नहीं है उसकी एकता पुत्र, स्त्री, मित्र आदिसे कैसे होसक्ती है जैसे यदि चमड़ेको शरीरसे अलग किया जाय तो उसीके साथ रोम छिद्र भी अलग हो जांयगे क्योंकि वे चमड़ेके ही सम्बन्धसे रहते हैं । इस तरह मन वचन कायको व उनकी क्रियाओंको भिन्न माननेसे ही अपना भिन्न स्वरूप हमको भिन्न झलकने लगता है। यही मनन परम हितकारी है ॥ ७२ ॥

उत्थानिका–आगे फिर दिखाते हैं कि इस आत्माके जैसे शरीररूप पर द्रव्यका अभाव है वैसे उसके कर्तापनेका भी अभाव है।

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं ।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ ७३ ॥

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृताः पिण्डम् ।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य ॥ ७३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(णाहं पोग्गलमइयो)मैं पुद्गल मई नहीं हूं (ते पोग्गला पिंड मया ण कया) तथा वे पुद्गलके पिंड जिनसे मन वचन काय बनते हैं मेरेसे बनाए हुए नहीं हैं (तम्हा) इस लिये (हि) निश्चयसे (अह देहो ण) मैं शरीररूप नहीं हूं (वा तस्स देहस्स कत्ता) और न उस देहका बनानेवाला हूं।

विशेषार्थ–मै शरीर नहीं हूं क्योकि मै असलमे शरीर रहित सहज ही शुद्ध चैतन्यकी परिणतिको रखनेवाला हूं इससे मेरा और शरीरका विरोध है। और न मैं इस शरीरका कर्ता हूं क्योकि मै क्रियारहित परम चैतन्य ज्योतिरूप परिणतिका ही कर्ता हूं–मेरा कर्तापना देहके कर्तापनसे विरोधरूप है।

भावार्थ-इस गाथामे आचार्यने आत्मा और शरीरका भेद–ज्ञान और भी अच्छी तरह दिखा दिया है कि आत्माका स्वरूप स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित चैतन्यमई है। जब कि शरीर जिन पुद्गलोसे बना है उन पुद्गलोका स्वरूप स्पर्श, रस, गंध, वर्णमई जड़ अचेतन है। तथा आत्मा अपनी चेतनामई परिणतिका करनेवाला है–वह जडकी परिणतिको करनेवाला नहीं है–हरएक द्रव्य अपनी उपादान शक्तिसे अपने ही अनत गुणोमें परिणमन किया करता है। चेतन

आत्मा चैतन्यमई गुणोमें जैसे परिणमन करता है वैसे पुद्गल जड़ अपने जड़पनेके गुणमें परिणमन करता है। शुद्ध अवस्थामे आत्मा शुद्ध भावोंका ही कर्ता है। अशुद्ध अवस्थामें आत्माके उपयोगरूप परिणमनमें जब साथ साथ रागादि भावकर्मकी शक्ति भी अपना फल झलकाती है तब शुद्ध उपयोगका परिणमन न प्रगट होकर उस उपयोगका औपाधिक परिणमन होता है अर्थात् अशुद्ध भावोका झलकाव होता है तब इन भावोंका भी करनेवाला आत्माको अशुद्ध निश्चयनयसे कह सक्ते हैं, परन्तु कोई आत्मा पाप कर्मोंका बन्ध नहीं चाहता है तौ भी आत्माके रागद्वेषादि भावोंका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणाएं आठ कर्मरूप होकर स्वय अपनी शक्तिसे कार्माण शरीर बना देती हैं। कर्मोंके अद्‌भुत बलके प्रयोगसे न चाहते हुए भी एक आत्मा किसी शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमे चला जाता है, वहां पहुंचते ही बांधे हुए कर्मोंके उदयकी असरसे आहार वर्गणाएं स्वयं खिचकर आती हे जिनसे यह स्थूल शरीर बनता है। हमारे बिना किसी बुद्धिपूर्वक प्रयोगके कर्मोंकी अपूर्व चमत्कारिक शक्तिसे ही शरीरके अंग उपांग छोटे बड़े सुन्दर असुन्दर बनते रहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि जैसे आत्माके कार्माण शरीर स्वयं बन जाता है वैसे यह स्थूल शरीर भी स्वयं बनता रहता है। आत्मा निश्चयसे जैसे कार्माण शरीरका कर्ता नहीं वैसे इस स्थूल औदारिक शरीरका भी कर्ता नहीं और न यह पुद्गल पिंडको बनाता है। लोकमे अनेक परमाणु स्वयं मिलकर अनेक पिंड बनाते रहते हैं। नदीमें पानीकी रगड़से बड़े२ सुन्दर पत्थरके गोले बन जाते हैं—उनको कोई जीव नहीं बनाता है।

इस जीवको अशुद्ध अवस्थामें व्यवहार नयसे कर्मोंका व शरीरका कर्ता कहते है क्योंकि जिन कर्मोंके निमित्तसे शरीर बने है उन कर्मोंके संचय होने योग्य अशुद्ध भावोंको इस जीवने किया था। जैसे किसी आदमीको शीतज्वर होजाय तो उसको शीतज्वरका कर्ता व्यवहारसे कहेंगे परंतु निश्चयसे उसने अपनेमें कभी भी शीतज्वरका होना नहीं चाहा है। वह ज्वर स्वयं शरीरके भीतर वायु आदि कारणोसे पैदा हुआ है क्योंकि उसने शरीरकी रक्षाका यत्न नही किया परन्तु वायुका प्रवेश होने दिया। इसलिये वह शीतज्वरका निमित्त हुआ। इस निमित्त नैमित्तिक भावके कारण उसको शीत ज्वरका कर्ता कहसक्ते है वैसे ही आत्माने अशुद्ध रागादि भाव किये थे जिनके निमित्तसे शरीर प्राप्त हुए इसलिये व्यवहार नयसे आत्माको शरीरोंका निमित्त कर्ता कह सक्ते है परन्तु वास्तवमे इन शरीरोका उपादान कारण पुद्गल ही है आत्मा नही।

व्यवहारमें कुम्हार घटको बनाता है, जुलाहा पटको बनाता है, राज मकानको बनाता है, ऐसा जो कहते है यह भी व्यवहार नयका वचन है। वास्तवमे कुम्हार, जुलाहा, व राजके अशुद्ध भाव व उसकी आत्माके प्रदेशोका हलनचलन निमित्त सहकारी कारण हैं उनके निमित्तको पाकर उनका पुद्गलमई शरीर भी निमित्त होजाता है परन्तु वे घट पट मकान अपने ही उपादान कारणसे स्वयं ही घट, पट, मकानरूप बन जाते है। मिट्टी आप ही घटकी सूरतमें बदलती है। रुई आप ही तागे बनकर कपडेकी सूरतमे बदलती है, ईंट पत्थर लकडी चूना गारा आप ही मकानकी सूरतमें पलटते हैं। इन घट पट मकानमे कुम्हार, जुलाहा, व राजके

शरीर व आत्माका एक भी परमाणु व भाव नहीं है ।

निमित्त मात्र होनेसे व्यवहारसे कुम्हार, जुलाहा व गजको कर्ता कहते हैं वैसे ही व्यवहारसे हम जीवको शरीरका कर्ता कह सक्ते हैं परंतु निश्चयसे नहीं । यहां पर शुद्ध निश्चय नयसे विचार करना है, जो नय जैसे कतकफल मैले पानीमें पड़कर मैलसे पानीको अलग कर देता है वैसे अशुद्ध आत्माके विचारमें पड़कर आत्माको सर्व अशुद्धताओंसे अलग कर देता है । इस शुद्ध निश्चय नयमें आत्मा न पुद्गल स्वरूप है और न पुद्गलका उपादान कर्ता है और न निमित्त कर्ता है । यह आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानानंदका ही करनेवाला है और यही तत्त्वज्ञान शुद्धोपयोगपर पहुंचनेका कारण है ।

श्री अमृतचंद्रस्वामीने श्री समयसारजीमें कहा है:—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृवत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः ॥ २ ॥ १० ॥
ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म, जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा–च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥३॥ १०॥

भावार्थ–शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे देखते हुए जैसे इस आत्माका स्वभाव भोगतापनेका नही है वैसे इसका स्वभाव कर्तापनेका नहीं है । अज्ञानसे ही यह कर्ता होता है, अज्ञानके चले जानेपर यह परभावोंका कर्ता नही होता है । निश्चयसे ज्ञानी आत्मा न तो कर्मोंको करता है न उनका फल भोगता है । वह मात्र उन कर्मोंके स्वभावको जानता है । इस तरह कर्ता भोक्तापनेसे रहित होकर निज परम स्वभावको जानता हुआ अपने शुद्ध स्वभावमें निश्चल रहता हुआ यह आत्मा साक्षात् मुक्तरूप ही झलकता है ।

ऐसा वस्तुका स्वरूप जानकर मैं न देहरूप हूं, न देहका कर्ता हू, ऐसा श्रृद्धान दृढ़ जमाकर देहसे भिन्न निज आत्माको ही अनुभव करके शुद्धोपयोगमई साम्यभावमें कल्लोल करके सदा सुखी होना चाहिये ।

इस तरह मन वचन कायका शुद्धात्माके साथ भेद है ऐसा कथन करते हुए चौथे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई । इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण "अस्थित्तणिस्सदस्स हि" इत्यादि ग्यारह गाथाओंसे चौथेस्थलमें प्रथम विशेष अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

अब केवल पुद्गलकी मुख्यतासे नव (९) गाथा तक व्याख्यान करते हैं । इसमें दो स्थल हैं । परमाणुओंमे परस्पर बंध होता है इस बातके कहनेके लिये "अपदेसो परमाणू" इत्यादि पहले स्थलमें गाथाएं चार हैं। फिर स्कंधोंके बधकी मुख्यतासे "दुवसे दी खधा" इत्यादि दूसरे स्थलमें गाथा पांच है। इस तरह दूसरे विशेष अंतर अधिकारमें समुदायपातनिका है ।

उत्थानिका—यदि आत्मा पुद्गलोंको पिंडरूप नहीं करता है तो किस तरह पिंडकी पर्याय होती है इस प्रश्नका उत्तर देंते हैं—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ ७४ ॥

अप्रदेशः परमाणु. प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो वा ।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥ ७४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(परमाणु) पुद्गलका अविभागी खड परमाणु (जो अपदेसो) जो बहुत प्रदेशोंसे रहित है (पदेसमत्तो य) एक प्रदेशमात्र है और (सयमसद्दो) स्वयं व्यक्तरूपसे शब्द

पर्यायसे रहित है (णिद्धो वा लुक्खो वा) स्निग्ध होता है या रूक्ष होता है इस कारणसे (दुपदेशादित्तम्) दो प्रदेशोंके व अनेक प्रदेशोके मिलनेसे बंध अवस्थाको (अणुहवदि) अनुभव करता है।

विशेषार्थः—जैसे यह आत्मा शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूपसे बंध रहित है तौ भी अनादिकालसे अशुद्ध निश्चयनयसे स्निग्धके स्थानमें रागभावसे और रुक्षके स्थानमें द्वेषभावसे जब जब परिणमन करता है तब तव परमागममें कहे प्रमाण बंधको प्राप्त करता है तैसे ही परमाणु भी स्वभावसे बंध रहित होने पर भी जब जब बंधके कारणभूत स्निग्ध रूक्ष गुणसे परिणत होता है तब तब दूसरे पुद्गल परमाणुसे विभाव पर्यायरूप बंधको प्राप्त होजाता है।

भावार्थ—आचार्यने इस गाथामें यह दिखलाया है कि परमाणुओंमें स्वयं बंध होनेकी शक्ति है जैसे कोई संसारी जीव बंध न चाहता हुआ भी जब २ रागद्वेषसे परिणमन करता है तब २ कर्म वर्गणाएं स्वय आकर बन्ध जाती हैं ऐसा कोई विलक्षण निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है वैसे परमाणु भी अपने स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण परस्पर बध जाते हैं और स्वय स्कंधरूप बहुप्रदेशी होजाते हैं। यद्यपि एक परमाणु स्वभावसे बहु प्रदेश रहित एक प्रदेशी है तथा स्पर्श रस गध वर्ण गुणोको रखनेवाला है और शब्द रहित है तथापि स्कन्ध बनकर बहुप्रदेशी होजाता है। जगतमें परमाणु परस्पर मिलकर अनेक तरहके स्कंधोंमें सदा बनते रहते हैं। जैसे अग्निकी गरमीसे पानी अपने आप भाफ बन जाता है। भाफ जमकर मेघ होजाते हैं। मेघोंमें बरफ गोले होजाते हैं। बरफके गोले गिरते हैं—गिरते २ गरमीके कारण स्वयं पानीरूप हो

जाते हैं। पानी स्वयं नीमकी संगतिसे कडुवा, ईखकी संगतिसे मीठा नींबूकी संगतिसे खट्टा हो जाता है। पानीके बहावसे नदीके किनारे टूट जाते हैं-पानी मट्टीको बहा ले जाता है व मट्टी कहीं जमकर टापूसा बन जाती है। सूर्यकी गरमी पाकर मोम स्वयं पिघल जाता है। हवाके लगनेसे मकान, कपडे, बर्तनादिकी अवस्था पलट जाती है। इत्यादि जगतमें अकेले ही पुद्गल अपने भिन्न २ स्वभावसे बडे २ काम करते दिखाई पडते हैं। इसी तरह परमाणु भी दो अधिक चिकने या रूखे अंशधारी परमाणुसे बंध जाते हैं। जैसे परमाणु बंधकर स्कंध हो जाते है वैसे स्कंध टूटकर परमाणुकी अवस्थामें भी आजाते हैं। जिसमें मिलने विछुडनेकी शक्ति हो उसे ही पुद्गल कहते हैं। इससे यह बात बताई गई है कि शरीर, वचन तथा मन जिन स्कंधोंसे बने है वे स्कंध स्वयं परमाणुओंके बंधनेसे पैदा होते रहते हैं। आत्मा स्वभावसे पुद्गलसे भिन्न है ऐसा समझकर शुद्ध आत्माके मननमें उपयुक्त हो साम्यभावकी प्राप्ति करनी चाहिये, यह तात्पर्य्य है।

उत्थानिका-आगे वे स्निग्ध रूक्ष गुण किस तरह है ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हैं:-

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं व लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुहवदि ॥ ७५ ॥

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वम्।
परिणामाद् भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ ७५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(अणुस्स) परमाणुका (णिद्धत्तणं वा लुक्खत्तं) चिकनापना या रूखापना (एगादी) एक अंशको

आदि लेकर (एगुत्तम्) एक एक बढ़ता हुआ (परिणामादो) परिणमन शक्तिके विशेषसे (जाव अणंतत्तम्) अनंतपने तक (अणुहवदि) अनुभव करता है ऐसा (भणिदं) कहा गया है।

विशेषार्थ–जैसे जल, बकरीका दूध, गायका दूध, भैंसका दूध एक दूसरेसे अधिकर चिकनाईको रखता है इसी तरह यह संसारी जीव चिकनाईके स्थानमें रागपनेको, रूखेपनके स्थानमे द्वेषपनेको बन्धके कारणभूत जघन्य विशुद्ध या संक्लेश भावको आदि लेकर परमागममें कहे प्रमाण उत्कृष्ठ विशुद्ध या संक्लेश भाव पर्यंत क्रमसे बढ़ता हुआ रखता है। इसी तरह पुद्गल परमाणु द्रव्य भी पूर्वमें कहे हुए जल दूध आदिकी बढ़ती हुई शक्तिके दृष्टान्तसे एक गुण नामकी जघन्य शक्तिको आदि लेकर क्रमसे गुण नामसे प्रसिद्ध अविभाग परिच्छेदोकी शक्तिसे बढ़ता हुआ अनन्तगुणतक चला जाता है। क्योंकि पुद्गल द्रव्य परिणमनशील है। परिणामोंका होना वस्तुका स्वभाव है सो कोई मेटनेको समर्थ नहीं है।

भावार्थ–यहां यह दिखलाते हैं कि पुद्गलके परमाणुओंमें रूखा तथा चिकना स्पर्शगुण होता है। उस स्पर्शके अनंत भेद होते हैं। सब ही परमाणु परिणमनशक्तिके निमित्तसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी सहायतासे अपने स्पर्श रस गंध वर्णमें परिणमन करते रहते हैं। इसी परिणमनके कारण चिकनेपन तथा रूखेपनके अनंत भेद होजाते हैं। जो परमाणु किसी विशेष समयमें एक जघन्य अंश या अविभाग परिच्छेद कि जिससे कम अंश नहीं होसक्ता रखता है वही परमाणु दूसरे आदि समयोंमें अधिक अंशरूप हो जाता है। यहांतक कि उसमें अनंत अंश

चिकने या रूखेपनके हो जाते हैं—अथवा कोई परमाणु अधिक अंश चिकने या रूखेपनेको रखता था सो अंशोंमें घटते हुए एक अंश तक शक्तिका धारी हो सक्ता है। जैसे जलकी चिकनईसे बकरीके दूधमें चिकनई ज्यादा है, बकरीके दूधसे गायके दूधमें, गायके दूधसे भैंसके दूधमें ज्यादा है। इसी तरह एक ही समयमें अनंत परमाणुओंमें भिन्न२ प्रकारकी कमती बढ़ती अंशोंको रखनेवाली चिकनई या रूखापन होता है। संभव है बहुतसे परमाणु समान अविभाग परिच्छेदोंके धारक एक समयमे हों। वास्तवमें प्रत्येक परमाणु अनंत, स्निग्ध या रूक्ष शक्तिका धारक है। तथापि उसके अंशोंमें पर निमित्तके वशसे परिणमन होता रहता है जिस परिणमनको हम तिरोभाव या आविर्भाव कहसक्ते हैं। जितनी चिकनई या रूखापन प्रगट है उसका तो आर्विभाव है व जितनी चिकनई या रूखापन अप्रगट है उसका तिरोभाव है। जैसे जीव कषायके मंद उदयसे मदराग द्वेषको, मध्यम कषायोदयसे मध्यमराग-द्वेषको तथा उत्कृष्ट कषायके उदयसे उत्कृष्ट राग द्वेषको प्रगटाता है। जीवका चारित्रगुण कषायोंके उदयके निमित्तसे तिरोहित होता है—जितना कम उदय होता है उतना कम ढकता है।

परमाणुमे यह परिणमन शक्ति न होती तो एक कच्चा आम पक जानेपर अधिक चिकना न होता व जल गायके शरीरके स्पर्शसे दूधकीसी चिकनईमें न परिणमन करता।

यह परिणमनशक्ति वस्तुका स्वभाव है, प्रत्यक्ष अनुभव-गोचर है। कालादिके निमित्तसे पुद्गल द्रव्य परिणमते हुए दिखाई पड़ते हैं। एक पत्थर जो रूक्ष स्पर्शका होता है रस्सीकी रगड़के

लगनेसे कालान्तरमे चिकना स्पर्शवाला होजाता है। ऐसा वस्तु-स्वभाव जानकर अपने आत्माको शुद्ध निश्चयनयसे सिद्ध समान अनुभव करके तथा सर्व प्रकारके परमाणुओसे जुदा जान करके अपने स्वाभाविक सदृश परिणमनका धारी मान करके हरसमय शुद्ध ज्ञानानंदका ही स्वाद लेना योग्य है, यह भाव है।

उत्थानिका—अब यहां प्रश्न करते हैं कि किस प्रकारके चिकने रूखे गुणसे पुद्गलका पिंड बनता है ? इसीका समाधान करते हैं—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिका जदि वज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥ ७६ ॥

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामा समा वा विषमा वा ।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीनाः ॥ ७६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(अणुपरिणामा) परमाणुके पर्याय भेद (णिद्धा वा लुक्खा वा) स्निग्ध हो या रूक्ष हो (समा वा) दो, चार, छ. आदिकी गणनासे समान हो (विसमा वा) वा तीन, पांच, सात, नव आदिकी गणनासे विषम हो (जदि) जो (हि) निश्चयसे (आदिपरिहीणा) जघन्य अंशसे रहित हो (समदो) तथा गिनतीकी समानतासे (दुराधिका) दो अधिक अंशमें हो तो (वज्झन्ति) परस्पर बंध जाते हैं।

विशेषार्थ—पुद्गलके परमाणु रूक्ष हो या स्निग्ध गुणमें परिणत हों तथा सम हों या विसम हो, दो गुणांश अधिक होनेपर परस्पर बंध जाते हैं। दो गुण अधिकपनेका भाव यह है कि मानलो एक दो अंशवाला परमाणु है तथा दूसरा भी दो अंशवाला है इतने हीमें परिणमन करते हुए एक किसी दो अंशवाले परमा-

णुमें दो अंश अधिक होगए तब वह परमाणु चार अंशरूप शक्तिमें परिणमन करनेवाला होजाता है। इस चार गुणवाले परिमाणुका पूर्वमें कहे हुए किसी दो अंशधारी परमाणुके साथ बंध होजायगा तैसे ही दो परमाणु तीन तीन अंश शक्तिधारी हैं उनमेंसे एक तीन अंश शक्ति रखनेवाले परमाणुमें मानलो परिणमन होनेसे दो शक्तिके अंश अधिक होनेसे वह परमाणु पांच अंशवाला होगया। इस पंच अंशवालेका पहले कहे हुए किसी तीन अंशवाले परमाणुसे बंध होजावेगा। इसतरह दो अंशधारी चिकने परमाणुका दूसरे दो अधिक अंशवाले चिकने परमाणुके साथ या दो अंशवाले रूखेका दो अधिक अंशवाले रूखेके साथ, वा दो अंशवाले चिकनेका दो अधिक अंशवाले रूखे परमाणुके साथ बंध होजावेगा। इसी तरह समका या विषमका बंध दो अंशकी अधिकता होनेपर ही होगा। जो परमाणु जघन्य चिकनईको जैसे जलमें मान ली जावे या जघन्य रूखेपनेको जैसे बालूकणमें मान लीजावे, रखता होगा उनका बंध उस दशामें किसी भी परमाणुसे नहीं होगा। यहां यह भाव है कि जैसे परमचैतन्यभावमे परिणतिको रखनेवाले परमात्माके स्वरूपकी भावनामई धर्मध्यान या शुक्ल ध्यानके बलसे जब जघन्य चिकनईकी शक्तिके समान सब राग क्षय होजाता है या जघन्य रूखेपनेकी शक्तिके समान सर्व द्वेष क्षय होजाता है तब जैसे जलका और बालूका बंध नहीं होता वैसे जीवका कर्मोंसे बंध नहीं होता। वैसे ही जघन्य, स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणुका भी किसीसे बंध नहीं होगा यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि परमाणुओंके परिणमन शक्तिके अंशोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके होते हैं। वे परमाणु रूखे हो या चिकने हो परस्पर दो अंश अधिकता रखनेसे बंध जाते हैं। ऐसा कुछ वस्तुका स्वभाव है कि दो अंशकी ही अधिकताके अंतरसे परमाणुओंका बन्ध होता है—न तो एक अंशकी अधिकतासे होता है न दोसे अधिक अंशकी अधिकतासे होता है। इसपर भी जिस परमाणुमें सबसे कम चिकनई या रुखापन होगा वह भी किसीसे नहीं बंधेगा। इस तरह दो अंशवालेका चार अंशवालेके साथ, चार अंशवालेका छह अंशवालेके साथ, छह अंशवालेका आठ अंशवालेके साथ, आठ अंशवालेका दश अंशवालेके साथ बन्ध होजायगा। इस तरहके बन्धको सम संख्याका बन्ध कहते हैं। सम जातिकी संख्यामे दो अधिक होनेसे बराबर बन्ध होजायगा जैसे किसी परमाणुमें एक हजार दो अंश हैं दूसरेमें एक हजार चार अंश है तो परस्पर बन्ध हो जायगा।

इसी तरह तीन अंशवालेका पांच अंशवाले परमाणुके साथ, पांच अंशवालेका सात अंशवालेके साथ, सात अंशवालेका नौ अंशवालेके साथ, नौका ग्यारह अंशवाले परमाणुसे बंध होजायगा, इसको विसम संख्याका बंध कहते हैं। इसमें भी दोकी अधिकतासे बराबर बंध होता रहेगा। जैसे तीन हजार पांच अंशधारी परमाणुका तीन हजार सात अंशधारी परमाणुके साथ बंध होजावेगा। बंध होनेमें यह बात नहीं है कि रूखा चिकनेसे ही बंधे, किन्तु यह बात है कि रूखा रूखेसे, चिकना चिकनेसे व रूखा चिकनेसे तीनों प्रकारसे बंध होता है।

वधका भाव यह है कि परस्पर मिलके एकरूप होजाना। यदि तीन गुणवाले रूखे परमाणुके साथ पाच गुणवाले चिकने परमाणुका वध होगा तो वध होनेपर वह स्कंध चिकना होजायगा जैसा श्री उमास्वामी महाराजने श्री तत्वार्थसूत्रमें कहा है "वधेऽधिकौ पारिणामिकौ च।" ३७।५॥ अर्थात् बंध होते हुए अधिक गुणवाला दूसरेको अपनेरूप परिणमा लेता है। सर्वज्ञज्ञानमे जिस तरह परमाणुओंके स्कध वननेकी रीति झलकी थी उसका यहा कथन किया गया है। वर्तमानमे यदि विज्ञान उन्नति करे तो इस नियमको प्रत्यक्ष करके दिखा सकेगा। सर्वज्ञके ज्ञानकी अपूर्व शक्ति है, इसलिये सर्वज्ञ भाषित कथन किसी तरह असत्य नही पड़ सक्ता, ऐसा जानकर निज आत्माको सर्वज्ञत्त्व प्राप्त करानेके लिये रागद्वेष त्याग शुद्धोपयोगमे ही हमको प्रवर्तना योग्य है॥ ७६॥

उत्थानिका—आगे इसी ही पूर्व कहे हुए भावको विशेष समर्थन करते है—

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण वधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्झदि पञ्चगुणजुत्तो॥७७॥

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति।
रूक्षेण वा त्रिगुणतोऽणुर्बध्यते पचगुणयुक्तः॥ ७७॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(णिद्धत्तणेण) चिकनेपनेकी अपेक्षा (दुगुणो) दो अशधारी परमाणु (चदुगुणणिद्धेण वा लुक्खेण) चार अशधारी चिकने या रूखे परमाणुके साथ (वंधम् अणुभवदि) वन्धको प्राप्त हो जाता है। (तिगुणिदो अणु) तीन अंशधारी चिकना या रूखा परमाणु (पचगुणजुत्तो) पांच अशधारी

चिकने या रूखे परमाणुके साथ (वज्रादि) बंध जाता है ।

विशेषार्थ-गाथामें गुण शब्दसे शक्तिके अंशोंको अर्थात् अविभाग परिच्छेदोंको ग्रहण करना चाहिये । जैसे पहले कहे हुए जलविंदु तथा बालूके दृष्टांतसे जिन जीवोंका रागद्वेष परमानन्दमई स्वसंवेदन ज्ञानगुणके बलसे नष्ट होगया है उनका कर्मके साथ बन्ध नहीं होता । इसी तरह जिन परमाणुओंमें जघन्य चिकनाई या रूखापन है, उनका भी किसीसे बंध नहीं होता । बन्ध दो अंशकी अधिकतासे दो अंश या तीन अंश आदिधारी परमाणुओंका परस्पर होगा जैसा इस गाथामें कहा है:—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहण्णवज्जे विसमे वा ॥
(गोमटसारजीवकांड ६१४)

भाव यह है कि जघन्य अंश परमाणुको छोड़कर दो चार आदि सम संख्यामें या तीन पांच आदि विषम संख्यामें हो तो भी दो अंश अधिक होनेसे चिकनेका चिकनेके साथ, रूखेका रूखेके साथ तथा चिकनेका रूखेके साथ बंध होजायगा ।

भावार्थ-इससे पहली गाथामे अच्छी तरह खोल दिया है।

इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण स्निग्ध रूक्ष अवस्थामें परिणत परमाणुका स्वरूप कहते हुए पहली गाथा, स्निग्ध रूक्ष गुणका वर्णन करते हुए दूसरी, स्निग्ध या रूक्ष गुणमें दो अंश अधिकसे बन्ध होगा ऐसा कहते हुए तीसरी तथा उसके ही दृढ़ करनेके लिये चौथी इस तरह परमाणुओके परस्पर बंधके व्याख्यानकी मुख्यतासे पहले स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा दो परमाणु आदि धारी परमाणुओंके स्कंधोंको आदि लेकर अनेक प्रकारके स्कंधोका कर्ता नहीं है:—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा वादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ ७८ ॥

द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः सूक्ष्मा वा वादरा ससंस्थानाः ।
पृथिवीजलतेजोवायव स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥ ७८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(दुपदेसादी खंधा) दो परमाणुके स्कधसे आदि लेकर अनन्त परमाणुके स्कंध तक तथा (सुहुमा वा वादरा) सूक्ष्म या वादर (ससंठाणा) यथासमव गोल, चौखुटे आदि अपने अपने आकारको लिये हुए (पुढविजलतेउवाऊ) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु (सगपरिणमेंहि) अपने ही चिकने रूखे परिणामोंकी चिचित्रतासे परस्पर मिलते हुए (जायंते) पैदा होते रहते है।

विशेषार्थ—संसारी अनंत जीव यद्यपि निश्चयसे टाकीमें उकेरी मूर्तिके समान ज्ञायक मात्र एक स्वरूपकी अपेक्षासे शुद्ध बुद्धमई एक स्वभावके धारी है तथापि व्यवहारनयसे अनादि कर्मबंधकी उपाधिके वशसे अपने शुद्ध आत्मस्वभावको न पाते हुए पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुकायिक होकर पैदा होते है। यद्यपि वे इन पृथ्वी आदि कायोंमें आकर जन्मते है तथापि वे जीव अपनी ही भीतरी सुख दुःख आदि रूप परिणतिके ही अशुद्ध उपादान कारण है, पृथ्वी आदि कायोमें परिणमन किये हुए पुद्गलोंके नहीं। कारण यह है कि—उनका उपादान कारण पुद्गलके

स्कंध ही हैं। इसलिये यह जाना जाता है कि पुद्गलके पिंडोंका कर्ता जीव नहीं है।

भावार्थ–यहां आचार्यने यह बात दिखाई है कि आत्मा अमूर्तीक है तथा स्पर्श रस गंध वर्णसे रहित है इसलिये वह अपने ही ज्ञानादिगुणोंकी परिणतिके सिवाय किसी भी मूर्तीक पुद्गलकी पर्यायका उपादान कारण नही होसक्ता है। क्योंकि कार्य उपादान कारणके समान होता है अर्थात् उपादान कारण ही दूसरे समयमे स्वयं कार्यमें बदल जाता है। मिट्टीका पिंड स्वयं ही घड़ा बनजाता है। गेहूंका आटा स्वयं ही रोटीमें बदल जाता है। सुवर्णकी डली स्वय कंकणरूप होजाती है। इसलिये जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जगतमे दीख पडते हैं चाहे वे अचित्तरूप हो, अर्थात् जीव रहित हों या सचित्तरूप हों अर्थात् जीव सहित हो, चाहे वे सूक्ष्म हों अर्थात् इंद्रियगोचर न हो व बाधारहित हों, चाहे वे बादर हों अर्थात् इंद्रियगोचर व बाधासहित हों आहारक वर्गणा नामके स्कंधोके परस्पर मिलनेसे बनते हैं। तथा अनेक तरहके स्कंध परमाणुओंके मिलनेसे बनते हैं। श्री गोमटसारमें संख्याताणु, असंख्याताणु, अनंताणु, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा, कार्माण वर्गणा आदि बाईस प्रकारकी वर्गणाएं बताई हैं वे सब परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे ही बनती हैं। इन वर्गणाओंसे ही जीवोंके औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर बनते है। अपने स्निग्ध रूक्ष गुणोके कारण पुद्गलोंमें परस्पर मिलकर बंध होनेकी व बिछुड़नेकी शक्ति मौजूद है। पुद्गल स्वभावसे ही परिणमन करते है। पुद्गलोंके

स्कंधोंके गोल, चौखुंटे, तिखुटे आदि आकर सब परस्पर बंधकी अपेक्षासे होजाते हैं । एक रतन पाषाणकी खानमें अनेक प्रकारके स्पर्श, रस, गंध वर्णधारी छोटे बड़े, टेढ़े सीधे, पाषाण खंड परमाणुओंकि स्निग्ध रूक्ष गुणोंके विचित्र परिणमनकी अपेक्षा स्वभावसे ही बन जाते हैं—उनको बह्मा कोई बनाता नहीं है । जैसे प्रत्यक्ष जगतमें मेघ जल आदिके व इन्द्र धनुष, बिजली आदिके स्वाभाविक परिणमन देखनेमें आते हैं वैसे सर्वत्र पुद्गलोंके ही विचित्र परिणमनसे नानाप्रकार स्कंध बन जाते हैं । जैसे श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्तीने गोम्मटसारमें कहा है—

णिद्धिदरगुणअहिया हीण परिणामयंति बंधम्मि ।
संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसाण खंधाण ॥ ६१८ ॥

अर्थ—संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेशवाले स्कंधोंमें स्निग्ध या रूक्षके अधिक गुणवाले परमाणु या स्कंध अपनेसे हीन गुणवाले परमाणु या स्कंधोंको अपनेरूप परणमाते हैं । जैसे एक हजार स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंसे युक्त परमाणु या स्कंधको एक हजार दो अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु या स्कंध परणमाता है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि दो अधिक अंशके होते हुए रूखे या चिकने परमाणु या स्कंध परस्पर एक दूसरेसे अपनी ही शक्तिसे बन्ध जाते हैं। इसी शक्तिके कारण पुद्गलोंकी विचित्रता जगतमें प्रगट हो रही है ।

ऐसा जानकर 'कि पुद्गल पर्यायका उपादान कारण पुद्गल ही है व सब प्रकारके जीवोंके शरीरोंकी रचना पुद्गलके ही उपादान

कारणसे होती है' हमको इस आत्माका स्वमात्र शुद्ध ज्ञानानंदमय अनुभवकर साम्यभावमें रहना चाहिये ॥ ७८ ॥

उत्थानिका—आगे यह आत्मा बन्ध कालमें बन्ध योग्य पुद्गलोंको बाहर कहींसे नहीं लाता है ऐसा प्रगट करते हैं—

ओग्गाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाउग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ ७९ ॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः ॥ ७९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(लोगो) यह लोक (सव्वदो) अपने सर्व प्रदेशोंमें (सुहमेहिं) सूक्ष्म अर्थात् इंद्रियोंसे ग्रहणके अयोग्य (वादरेहिं) वादर अर्थात् इंद्रियोंके ग्रहण योग्य (य) और (अप्पा उग्गेहिं) कर्मवर्गणारूप होनेको अयोग्य (जोग्गेहिं) तथा कर्मवर्गणाके योग्य (पोग्गलकायेहि) पुद्गल स्कंधोंसे (ओग्गाढगाढणिचिदो) खूब अच्छी तरह बहुत गाढ़ा भरा हुआ है ।

विशेषार्थः—यह लोक अपने सर्व प्रदेशोंमें पुद्गल स्कंधोंसे गाढ़ा भरा हुआ है वे स्कंध कोई इंद्रिय गोचर हैं, कोई इंद्रिय गोचर नहीं है, उनमेंसे जो अत्यन्त सूक्ष्म वा स्थूल हैं वे कर्मवर्गणारूप नहीं हैं किन्तु जो अतिसूक्ष्म व स्थूल नहीं हैं वे कर्मवर्गणा योग्य हैं। यद्यपि इंद्रियोंसे ग्रहण न होनेके कारण ये भी सूक्ष्म हैं—यहां यह भाव है कि जैसे यह लोग निश्चय नयसे शुद्ध स्वरूपके धारी किन्तु व्यवहार नयसे कर्मोंके आधीन होनेसे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वानस्पतिके पांच भेदरूप सूक्ष्म स्थावर शरीरोंको प्राप्त जीवोंसे निरंतर सर्व जगह भरा हुआ है तैसे यह पुद्गलोंसे भी भरा है।

इससे जाना जाता है कि जितने शरीरको रोककर एक जीव ठहरता है उसी ही क्षेत्रमें कर्मयोग्य पुद्गल भी तिष्ठरहे हैं–जीव उनको कहीं बाहरसे नहीं लाता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि जीव स्वभावसे कर्मवर्गणाओंको कहींसे लाते नहीं है–यह असख्यात प्रदेशीलोक सर्व तरफ अनंतानत पुद्गल स्कंधोंसे भराहुआ है। एक आकाशके प्रदेशमें सूक्ष्म परिणमनको प्राप्त अनंतवर्गणाए मौजूद है। सामान्यसे जगतमें सूक्ष्म तथा बादर दो प्रकारके पुद्गल स्कध हैं। जो किसी भी इंद्रियसे ग्रहण योग्य हैं उनको बाथर कहते है। परन्तु जो किसी भी इंद्रियसे ग्रहणयोग्य नहीं हैं उनको सूक्ष्म कहते हैं। कर्मरूप होनेको योग्य कार्माण वर्गणा सूक्ष्म है। ऐसी कर्म वर्गणाए उन आकाशके प्रदेशोंमें भी भरी हुई है जहां एक जीव किसी छोटे या वडे शरीरमें तिष्ठा हुआ है। कोई भी जीव बुद्धिपूर्वक उन वर्गणाओंको लेकर या खींचकर बाधता नहीं है। किन्तु जब ससारी जीवोंके नाम कर्मके उदयसे आत्मामें सकम्पपना होता है तब आत्माकी योग शक्तिके परिणमनके निमित्तसे कर्म वर्गणाए यथायोग्य बन्धके समुख होकर बन्ध जाती हैं, ऐसा कोई निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे गर्म लोहेका गोला चारो ओरसे पानी ग्रहण करनेको निमित्त है वैसे अशुद्ध जीव कर्म वर्गणाओको ग्रहण कर लेता है।

अथवा जैसे गर्मीका निमित्त पाकर जल स्वयं भाफरूप परिणमन करजाता है व सूर्यका निमित्त पाकर कमल स्वयं खिल जाता है इसी तरह जीवके योगका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाए

स्वयं बन्ध योग्य होजाती हैं। आत्माका स्वभाव कर्मोको ग्रहण करनेका नहीं है—इसलिये यह आत्मा कर्म बन्धका न उपादान कर्ता है न निमित्त कर्ता है जैसा कि स्वयं स्वामीने श्रीसमयसारजीमें कहा है—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०८॥

भावार्थ—जो ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मोके परिणमन होते हैं उनको यह आत्मा न उपादान रूपसे कर्ता है न निमित्त रूपसे कर्ता है, यह तो मात्र उन सर्वकी सब अवस्थाओंको जाननेवाला है। आत्माका निज स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है जब हम शुद्ध निश्चय-नयसे आत्माके असली स्वभावको विचार करते हैं तब वहां आत्मा सब तरह पुद्गल द्रव्यका अकर्ता और भोगता झलकता है तौभी यह बात जान लेनी चाहिये कि इस आत्मामें अनन्त शक्तियां हैं उनमेसे कोई शक्तियां अशुद्ध अवस्थामें काम करती हैं परन्तु वे शक्तियां शुद्ध अवस्थामें काम नही करती हैं। जैसे वैभाविक शक्ति जिसके कारण यह जीव रागद्वेष रूप परिणमन करता है या योगशक्ति जिससे जीव कर्मोके बन्धनेमें निमित्त होता है। पूर्वबद्ध चारित्र मोहनीयके उदयसे वैभाविक शक्ति और नामकर्मके उदयसे योग शक्ति परिणमन करती है। इसी हेतुसे शुद्ध आत्माको लक्ष्यमें लेकर आत्माको कर्मोका अकर्ता तथा अभोक्ता कहा है। यहां यह भी समझना चाहिये कि आत्माके मन वचन काय योगोका परिणमन अथवा आत्म प्रदेशोंका परिणमन व कर्म ग्रहण करनेमें मूल कारणभूत आत्माकी योगशक्तिका परिणमन सब जीवोके एक समान नहीं होता है किसीके अधिक किसीके कम। जैसी योग

शक्तिका परिणमन होता है वैसी ही कम व अधिक कर्म वर्गणाओं-का ग्रहण होता है। ये कर्म वर्गणाएं कुछ तो ऐसी ही हैं जो आत्माके प्रदेशोंमें ही बैठी हैं अर्थात् आत्माके प्रदेश जहां हैं वहां ही अनंतानंत वन्धने योग्य तिष्ठ रही हैं अथवा कुछ ऐसी हैं जो आत्माके प्रदेशोंसे बाहर हैं। इनमें भी कुछ ऐसी हैं जिनको यह जीव ग्रहणकर चुका है। कुछ ऐसी हैं जिनको इस जीवने कभी ग्रहण नहीं किया है। योगोंके निमित्तसे यथासम्भव स्वक्षेत्र व पर क्षेत्रमें तिष्ठती वर्गणाएं कभी ग्रहीत कभी अग्रहीत कभी मिश्र बंधनेको सन्मुख होती हैं इसहीको आश्रव कहते हैं। तथा उनका जीवके प्रदेशोंके साथ स्थिति अनुभागको लिये परस्पर एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होजाता है। उन वर्गणाओंका अपने मूल स्थानको छोडना यह तो आश्रव है और आत्माके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रके अवगाह रूपसे बंध होजाना सो बंध है। यदि आत्माके प्रदेशोंमें तिष्ठती हुई ही वर्गणाओंका बंध हो तौ भी उन वर्गणा-ओंको हलन चलन करके सर्व आत्म-प्रदेशोंमें व्यापना पड़ेगा यही आश्रव है और फिर उनका आत्मप्रदेशोंमे यथासम्भव ज्ञानावर-णादि प्रकृतियोंकी संख्याको लिये हुए एक क्षेत्रावगाह रूप ठहर जाना और ठहरे रहना सो बन्ध है।

योगशक्तिके निमित्तसे कर्मोंका आना अर्थात् वन्धके सन्मुख होना होता है यह आश्रव है ऐसा ही भाव श्री गोम्मटसार जीव-कांडमें कहा है—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जाहु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१५॥

भावार्थ-पुद्गलविपाकी शरीर नाम कर्मके उदयसे मन वचन कायसे युक्त जीवकी वह शक्ति जो कर्मोंके और नोकर्मोंके आनेमें कारण है योग शक्ति है। यह भाव योग है-और आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होना द्रव्य योग है।

गोमटसार कर्मकांडमें प्रदेशबन्धका स्वरूप ऐसा दिया हुआ है-

एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं ।
बंधदि सगहेदूहि य अणादियं सादियं उभयं ॥ १८५ ॥

भावार्थ-जघन्य अवगाहनारूप एक क्षेत्रमें स्थित और कर्मरूप परिणमनेके योग्य अनादि अथवा सादी अथवा दोनों रूप जो पुद्गल द्रव्य है उसको यह जीव अपने सब प्रदेशोंसे मिथ्यात्वादिके निमित्तसे बांधता है।

एय सरीरो गाहियमेयक्खेत्तं अणेयखेत्तं तु ।
अवसेसलोयखेत्त खेत्तणसारिट्ठिं रूवी ॥ १८६ ॥

भावार्थ-एक शरीरसे रुकी हुई जगहको एक क्षेत्र कहते हैं शेष सर्व लोकके क्षेत्रको अनेक क्षेत्र कहते हैं। अपने २ क्षेत्रमे ठहरे हुए पुद्गल द्रव्यका प्रमाण त्रैराशिकसे समझ लेना। यहांपर जघन्य शरीर ही एक शरीर लेना क्योंकि निगोद शरीरवाले जीव बहुत है। इस कारण घनांगुलके असंख्यातवें भाग एक क्षेत्र हुआ।

एयाणेयक्खेत्तट्ठिय रूवि अणंतिम हवे जोग्गं ।
अवसेसं तु अजोग्गं सादि अणादी हवे तत्थ ॥ १८७ ॥

भावार्थ-एक तथा अनेक क्षेत्रोंमें ठहरा हुआ जो पुद्गल द्रव्य है उसके अनन्तवें भाग पुद्गल परमाणुओंका समूह कर्मरूप होनेको योग्य है और शेष अनन्त बहुभाग प्रमाण कर्मरूप होनेके

अयोग्य है। इस प्रकार एक क्षेत्र स्थित योग्य, १ एक क्षेत्र स्थित अयोग्य २, अनेक क्षेत्र स्थित योग्य ३, अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य ये चार भेद हुए। इन चारोंमें भी एक एकके सादि तथा अनादि भेद जानना। जो पहले ग्रहण किये जाचुके हैं उनको सादि कहते है व जिनको अभीतक ग्रहण नही किया गया है उनको अनादि कहते है। यह जीव मिथ्यात्त्वादिके निमित्तसे समय समय प्रति कर्मरूप परिणमने योग्य समय प्रबद्ध प्रमाण परमाणुओको ग्रहणकर कर्मरूप परिणमाता है। वहां किसी समय तो पहले ग्रहण किये हुए जो सादि द्रव्यरूप परमाणु है उनका ही ग्रहण करता है। किसी समयमे अभीतक ग्रहण करनेमें नहीं आए ऐसे अनादि द्रव्यरूप परमाणुओको ग्रहण करता है और कभी मिश्ररूप ग्रहण करता है। समय प्रबद्धका यह प्रमाण है—

रुयलरसरूगगयेहिं परेणद चरमचदुहिं फासेहिं।
सिद्धादोऽभव्वादोऽणतिमभाग गुण दव्व ॥ १९१ ॥

यह समय प्रबद्ध सब पाच प्रकार रस, पाच प्रकार वर्ण, दो प्रकार गन्ध तथा शीतादि चार अतके स्पर्श इन गुणोकर सहित परिणमता हुआ सिद्ध राशिके अनंतवें भाग अथवा अभव्य राशिसे अनन्तगुणा पुद्गल द्रव्य जानना।

भावार्थ—इतना द्रव्यकर्मरूप या नोकर्मरूप यह संसारी जीव हरसमय ग्रहण करके बाधता रहता है। इनमे योगोकी विशेषतासे कुछ कम व अधिक सख्या होती है।

श्री अकलंकदेवकृत तत्वार्थराजवार्तिकमे आश्रव और

बंध तत्वका यह लक्षण "जीवाजीवाश्रव. " के सूत्रकी व्याख्यामें किया है—

वार्तिक—पुण्यपापागमनद्वारलक्षण आश्रवः। टीका—पुण्यपापलक्षणस्य कर्मण आगमद्वारमाश्रव इत्युच्यते। आश्रव इवाश्रवः क उपमार्थः? यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते। तथा मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत इति मिथ्यादर्शनादिद्वारमाश्रवः।

अर्थ—पुण्य पाप लक्षण कर्मका आगमनका द्वार जो है सो आश्रव है। आश्रव जो छिद्र ताके समान हो सो आश्रव है। जैसे समुद्रके विषैं जल नदीनिका मुखकर निरन्तर परिपूर्ण होय है यातैं मिथ्यादर्शनादि द्वारकरि अनुप्रविष्ट कर्म जे हैं तिनकरि आत्मा निरंतर परिपूर्ण होय है यातैं मिथ्या दर्शनादिक द्वार जो है सो आश्रव है॥ १६॥ भावार्थ—वास्तवमे यह द्वार है सो भावाश्रव है और कर्म पुद्गलोंका प्रवेश होना सो द्रव्य आश्रव है।

वा०—आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बंधः—टीका—मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययोपनीतानां कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च परस्परानुप्रवेशलक्षणो बंधः। बंध इव बंध क उपमार्थः? यथा निगडादि द्रव्यबंधनबद्धो देवदत्तोऽस्वतंत्रत्वादभिप्रेतदेशगमनाद्यभावादतिदुःखी भवति। तथात्मा कर्मबंधनबद्धः, पारतन्त्र्याच्छरीरमानसदुःखाभ्यर्दितो भवति।

अर्थ—मिथ्यादर्शनादि कारण करि ग्रहण किये कर्म प्रदेशनिका और आत्म प्रदेशनिका परस्पर अनुप्रवेश है लक्षण जाका सो बंध है। बधके समान बंध है। जैसे बेड़ी आदि द्रव्य बंधनकरि

बद्ध देवदत्त जो है सो पराधीनपणातें वांछित स्थानने प्राप्त होनेका अभावतें अति दुःखी होय है तैसे ही आत्मा कर्म बंधनकरि बद्ध हुवो संतो पराधीनपणातें शरीर सम्बन्धी दुःखकरि पीडित होय है ॥ १७ ॥

श्लोकवार्तिकके छठे अध्यायमे आश्रवका स्वरूप कहते हुए कहा है–" स आश्रव इह प्रोक्त कर्मागमनकारणं " वह योग ही आश्रव है । क्योंकि कर्मोके आगमनका कारण है । योग भाव आश्रव है । इससे यह सिद्ध है कि कर्मोका आगमन होना वह द्रव्याश्रव है । आगे " शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य " सूत्रकी व्याख्यामें कहा है कि " सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योगः शुभो विशुद्ध्यगत्वात् । मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितोऽशुभः संक्लेशांगत्वात् । स पुण्यस्य पापस्य च वक्ष्यमाणस्य कर्मण आश्रवो वेदितव्य ।

अर्थात् सम्यग्दर्शनादिसे रंजित शुभ योग है क्योकि विशुद्धता है तथा मिथ्यादर्शनादिसे अनुरंजित योग अशुभ है क्योकि संक्लेशता है । ये ही क्रमसे पुण्य पाप कर्मके आश्रव जानने चाहिये। इन योगोसे पुद्गल आते है। जैसा कहा है "शुभाशुभफलाना तु पुद्गलानां समागम." कि शुभ या अशुभ पुद्गलोका समागम होता है । इस पूर्व कथनसे यही बात सिद्ध होती है जसे कि द्रव्यसंग्रहमें कही है—

आसवदि जेण कम्म परिणामेणप्पणो स विण्णेयो ।
भावासवो जिणुत्तो दव्वासवणं परो होदि ।।
णाणावरणादीण जोग्गं ज पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥

भावार्थ-जिस आत्माके मिथ्यात्त्वादि परिणामसे कर्म पुद्गल आता है वह भावाश्रव है और जो ज्ञानावरणादिके बंध योग्य पुद्गलोका आना अर्थात् बंधके सम्मुख होना सो द्रव्याश्रव है। आश्रव और बंध दोनो एक समयमें होते हैं। वर्गणाओंका इधर उधरसे आत्माके प्रदेशोमें आना सो आश्रव तथा इनका बैठे रहना-एक क्षेत्रावगाहरूप बने रहना सो बंध है। एक समयमें बंधा हुआ द्रव्य पुद्गल आश्रव रूप तो बंधके समयमें ही हुआ परंतु बंध रूप अवस्था उस समय तक रहेगी जबतक वे कर्म अपनी स्थितिको न छोडेंगे और आत्माके प्रदेशोंसे छूट न जायगे। यहां प्रयोजन यह है कि आत्मा स्वभावसे कर्मोका न आश्रव करता है न बंध करता है। संसारी आत्माएं पूर्व कर्मके उदयसे जब सकम्प होती है तब स्वभावसे ही निमित्त पाकर वे पुद्गल स्वयं आकर कर्मरूप बध जाते है जैसा कि श्री अमृतचंद्राचार्यने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायमें कहा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽपुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

जीवके भावोंका निमित्त पाकर अन्य अबद्ध कार्माण पुद्गल अपने आप ही कर्मरूप होकर बंध जाते हैं। इससे यह अनुभव करना चाहिये कि आत्मा पुद्गलोका कर्ता नहीं है ॥ ७९ ॥

उत्थानिका-आगे फिर भी कहते हैं कि यह जीव कर्म स्कंधोंका उपादानकर्ता नहीं होता है।

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छन्ति कम्मभावं ण दु ते जीवेण परिणमिदा ॥ ८० ॥

कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य ।
गच्छन्ति कर्मभावं न तु ते जीवेन परिणमिताः ॥ ८० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(कम्मत्तणपाओग्गा) कर्मरूप होनेको योग्य (खंधा) पुद्गलके स्कध (जीवस्स परिणइं) जीवकी परिणतिको (पप्पा) पाकर (कम्मभावं) कर्मपनेको (गच्छंति) प्राप्त हो जाते हैं (दु) परंतु (जीवेण) जीवके द्वारा (ते ण परिणमिदा) वे कर्म नहीं परिणमाए गए हैं।

विशेषार्थ-निर्दोष परमात्माकी भावनासे उत्पन्न स्वाभाविक आनंदमई एक लक्षणस्वरूप सुखामृतकी परिणतिसे विरोधी मिथ्यादर्शन, रागद्वेष आदि भावोंकी परिणतिको जब वह जीव प्राप्त होता है तब इसके भावोंका निमित्त पाकर वे कर्मयोग्य पुद्गल स्कध आप ही जीवके उपादान कारणके विना ज्ञानावरणादि आठ या सात द्रव्य कर्मरूप हो जाते हैं। उन कर्म स्कंधोंको जीव अपने उपादानपनेसे नही परिणमाता है। इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह जीव कर्म स्कंधोंका कर्ता नही है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने आत्माको द्रव्य कर्मोंका अकर्त्ता और भी स्पष्ट रूपसे बतादिया है। कर्तापना दो प्रकारका होता है-एक उपादान कर्तापना, दूसरा निमित्त कर्तापना। जो वस्तु दूसरे क्षणमें आप ही वदलकर किसी पर्यायरूप होजावे उसको किसी समयकी अपेक्षा कार्य और उसके पूर्व समयकी अपेक्षा उसको उपादान कारण कहते है। जैसे रोटीका उपादान कारण आटा, आटेका उपादान कारण गेहूं, इत्यादि। सुवर्णकी मुद्रिकाका उपादान कारण सुवर्णकी डली। पुद्गलकी अवस्थाका उपादान कारण पुद्गल

है, जीवकी अवस्थाका उपादान कारण जीव है। जो उपादान कारण कार्यके लिये सहकारी कारण हों उनको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे गेहूंका आटा बनानेमे चक्की आदि, आटेको रोटी बनानेमें चकला, तवा, बेलन, अग्नि आदि। हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त कारणोकी आवश्यक्ता होती है। दो कारणोंके विना कार्य नहीं होसक्ता है। इसी नियमके अनुसार ज्ञानावरणादि आठ प्रकार पौद्गलीक कर्मके बंध होनेमें उपादान कारण कर्म वर्गणाएं हैं। वे पुद्गलके कार्माण स्कंध आप ही अपनी शक्तिसे द्रव्य कर्मरूप होजाते हैं। इनके इस उपादान रूप कार्यके लिये निमित्त कारण जीवके अशुद्ध परिणाम हैं। जब आत्मा पूर्वमें बांध हुए कर्मोंके उदयके असरसे अपने प्रदेशोमें सकम्प होता है और क्रोधादि कषायोसे मैला होजाता है तब ही इस आत्माके अशुद्ध योग और उपयोग कर्मके बंध होनेमें निमित्त होते हैं। जो आत्मा शुद्ध है वह कर्मबंधमे निमित्त कारण भी नहीं है। अतएव यदि शुद्ध निश्चय नयसे किसी भी आत्माके असली स्वभावका विचार करे तो यही झलकेगा कि यह आत्मा स्वभावसे इन पौद्गलिक कर्मोका न उपादानकर्ता है और न निमित्तकर्ता है। बहुतसे काम एक दूसरेके विना करे व चाहे हुए भी निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे होते रहते हैं। कोई मनुष्य रोगी होना नहीं चाहता है, परन्तु शरीरमें जब अशुद्ध द्रव्य असर करता है तब रोग पैदा होजाता है। हम यदि दो सेर पानी अग्निपर चढ़ावें और यह चाहे कि दो सेरसे कम न हो। हमारी इस चाहके अनुसार काम न होगा। वह पानी अवश्य भाफ बनकर उड़ेगा और पानी कम हो-

जायगा । अथवा हम यह चाहें कि अग्निपर रखते ही पानी एक सेरका आधसेर होजावे तौभी हमारी चाहके अनुसार कार्य न होगा। वह पानी अपनी शक्तिसे ही अपने यथायोग्य कालमे ही आधा रहेगा । संसारी आत्माओंके संसार होनेमें जीवके अशुद्धभाव और कर्मके बंधका निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध बीज और वृक्षकी तरह अनादिसे है । अनादि प्रवाहसे जैसे बीजसे वृक्ष, फिर इस वृक्षसे दूसरा बीज, इस बीजसे दूसरा वृक्ष, फिर इस वृक्षसे तीसरा बीज इसतरह जबतक बीज भस्म न हो व उगनेकी शक्तिसे रहित न हो तबतक बराबर वह बीज वृक्षकी सतानको करता रहेगा। इसी तरह पूर्वबद्ध कर्मके असरसे आत्माके अशुद्ध योग और उपयोग होते है। अशुद्ध योग उपयोगसे नवीन कर्मोका बंध होता है। इनही कर्मोंके उदय होनेपर फिर अशुद्ध योग उपयोग होते है। उनसे फिर नवीन कर्मोंका बंध होता है इस तरह जबतक आत्मासे योग तथा उपयोगके अशुद्ध होनेके कारण यथायोग्य नाम कर्म तथा मोहनीय कर्मके उदय-का नाश न हो तबतक अशुद्ध योग और उपयोग होते रहेंगे। जिस आत्मासे स्वात्मध्यानके बलसे सर्व कर्म भस्म होजाते है वह शुद्ध होजाता है । वह शुद्ध उपयोगका धारी आत्मा सिद्ध होकर कर्मके द्वारा होनेवाली संसारकी सन्तानसे सदाके लिये मुक्त होजाता है ।

निश्चय नयसे आत्माको द्रव्य कर्मोंका अकर्त्ता समझकर उसके ज्ञायकभावमे तिष्ठकर साम्यभावसे निजानदका स्वाद लेना योग्य है।

श्री अमृतचद आचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे कहा है—

एवमय कमकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशाना प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

भावार्थ-इस तरह यह आत्मा निश्चयसे कर्मके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे व कर्मरूप पौद्गलिक कर्मोंसे संयुक्त न होनेपर भी अज्ञानियोंको स्वभावसे ही यह आत्मा रागी द्वेषी मोही व कर्म बंधरूप मालूम होता है यही उनका अज्ञान संसारका बीज है। इसी बीजसे संसारमें अनादिसे जन्म मरणरूपी वृक्ष होता चला आया है। जहां इस अज्ञानको नाशकर सम्यग्ज्ञानका लाभ हुआ और अपना ही आत्मा स्वभावसे सर्व द्रव्य कर्मोंसे तथा रागादि भाव कर्मोंसे भिन्न शुद्ध सिद्धसमान अपनी श्रद्धामे आगया बस संसारका बीज नष्ट हुआ। समाधिशतकमें श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है-

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ-इस शरीरमें आत्माकी भावना अन्य शरीर धारनेका बीज है, और आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही आत्माकी भावना करनी देहरहित होनेका बीज है।

स्वामी समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें कहते हैं—

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिर हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततो भूर्भगवाननन्तजित् ॥६६॥

भावार्थ-अनन्त दोषोंके निवासका स्थान है शरीर जिसका ऐसा मोहमई पिशाच अनादिकालसे हृदयमे अंगीकार होरहा था। हे भगवन् ! आपने उसको अपने आत्मतत्त्वकी रुचिकी प्रसन्नतासे जीत लिया इसीलिये आपको अनन्तजित या अनन्तनाथ कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस आत्माको अपनी ही परिणतिका कर्ता तथा भोक्ता निश्चयसे निश्चय करना चाहिये ॥ ८० ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरके आकार परिणत होनेवाले पुद्गलके पिंडोंका भी जीव कर्ता नहीं है—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो हि जीवस्स ।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ ८१ ॥

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनर्हि जीवस्य ।
संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥ ८१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(ते ते) वे वे पूर्व बांधे हुए (कम्मतगदा) द्रव्यकर्म पर्यायमें परिणमन किये हुए (पोग्गलकाया) पुद्गल कर्मवर्गणास्कंध (पुणो वि) फिर भी (जीवस्स) जीवके (देहंतर सकमं) अन्य भवको (पप्पा) प्राप्त होनेपर (देहा) शरीर (संजायंते) उत्पन्न करते हैं।

विशेषार्थ—औदारिक आदि शरीर नामा नामकर्मसे रहित परमात्मस्वभावको न प्राप्त किये हुए जीवने जो औदारिक शरीर आदि नामकर्म बाधे हैं उस जीवके अन्य भवमें जानेपर वे ही कर्म उदय आते हैं। उनके उदयके निमित्तसे नोकर्म वर्गणाएं औदारिक आदि शरीरके आकार स्वयमेव परिणमन करती है इससे यह सिद्ध है कि औदारिक आदि शरीरोका भी जीव कर्ता नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्य मुख्यतासे इस बातको बताते हैं कि जैसे द्रव्य कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है वैसे नोकर्मोंका भी कर्ता नहीं है। द्रव्यकर्मोंके उदयसे विशेष करके शरीर नामा नामकर्मके उदयसे औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस शरीरके आकाररूप परिणमन करनेको वर्गणाएं आती है और बंधन संघात आदि कर्मके उदयसे इन चारों शरीरोंके आकाररूप स्वयं

हैं। इन चार शरीरोंको नोकर्म कहते हैं। यह संसारी जीव किसी भी स्थूल औदारिक शरीरमें जो मनुष्य तथा तिर्यंचोंके होता है तथा वैक्रियिक शरीरमें जो देव व नारकियोंके होता है, उसी समय तक रह सक्ता है जहांतक उस गति सम्बन्धी आयु कर्मकी वर्गणाएं उदय देती रहती हैं। जब उस विशेष आयुकी सब वर्गणाएं झड जाती हैं तब ही इस जीवको वह गति और वह शरीर छोड़कर अन्य किसी बांधी आयुके उदयसे अन्यभवमें जाना पड़ता है। तब जाते हुए मार्गमें जिसको विग्रहगति कहते हैं इस जीवके साथ दो सूक्ष्म शरीर रहते हैं-एक तैजस शरीर, दूसरा अपने ही बांधे हुए द्रव्य कर्मोंका कार्माण शरीर। इन द्रव्य कर्मोंका उदय कभी बंद नहीं होता। विग्रहगतिमे वे अपने असरसे जीवको लेजाते हैं। जब यह तीन, दो वा एक समय मात्र मोड़े लेनेके कारण विग्रहगतिमें रहता है तब इसके औदारिक और वैक्रियिक शरीर नहीं होता। जो जीव मोडे नहीं लेता है सीधा दूसरे भवमें जाता है वह मरणसे दूसरे समयमें ही अन्य जन्ममें जन्म लेलेता है। जिसको मध्यमें एक समय लगेगा वह मरणके तीसरे समयमें, जिसको दो समय लगेंगे वह मरणके चौथे समयमें, जिसको तीन समय लगेंगे वह मरणके पांचवे समयमें जन्म लेलेता है। मरणका समय व उत्पत्तिका समय यदि न गिना जावे तो विग्रह गतिमें अधिकसे अधिक तीन समय ही लगें। औदारिक या वैक्रियिक शरीर योग्य वर्गणाओंको ग्रहण करना यही जन्मका प्रारम्भ है। कर्मोंके ही उदयसे यह जीव विना चाहे हुए मरण करके दूसरी पर्यायमें उत्पन्न होता है। वहां वर्गणाओंका ग्रहण नाम-

कर्मके उदयसे स्वयमेव होता रहता है। वे वर्गणाएं आप ही पर्याप्ति निर्माण अगोपाग आदिके उदयसे औदारिक या वैक्रियिक शरीरके आकार परिणमनकर जाती है। जैसे जीवके अशुद्ध भावोका निमित्त पाकर लोकमे सर्वत्र भरी हुई कार्माण वर्गणाए स्वय ही ज्ञाना-वरणादि आठ कर्मरूप परिणमन कर जाती है, इसी तरह नाम व गोत्रके उदयसे भिन्न २ जातिकी वर्गणाए स्वय ही अनेक प्रकारके देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंचोके शरीरोंके आकाररूप परिणमन कर जाती है। जैसे जीव द्रव्य कर्मोंका निश्चय नयसे उपादान या निमित्तकर्ता नहीं है तैसे यह जीव शरीरोका भी उपादान या निमित्तकर्ता नही है। इसलिये मै सब प्रकारके पौद्गलिक शरीरोसे भिन्न होकर उनका किसी तरह कर्ता धर्ता नहीं हू ऐसा अनुभव करके निज आत्माके शुद्ध स्वभावमें ही उपयुक्त रहना योग्य है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमे कहते है कि यह शरीर-रूप कैदखाना जीवका रचा नही है, कर्मोका रचा है। जैसे—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलै. ॥
कर्मारातिभिरायुरुद्धनिगलालग्नं शरीरालयं-
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥ ५९ ॥

भावार्थ—यह शरीररूपी जेलखाना है जिसको दुष्ट कर्म-रूपी शत्रुओने बनाया है। यह शरीररूपी कारागार हड्डियोसे बना हुआ, नसोके जालोसे वेष्ठित, चर्मसे ढका हुआ तथा रुधिर व गीले मांससे लिप्त अति गुप्त बनाया गया है जिसमे रहनेवाले जीवके पैरमे आयुकर्मकी दृढ जंजीरें लगी हुई है। हे निर्बुद्धि! तू इस शरीरको कैदखाना जानकर इससे वृथा प्रीति मतकर।

भाव यह है कि शरीर आत्माका कोई कारण या कार्य नहीं है, कर्मोंका ही कार्य है ऐसा जानकर सर्व प्रकारके शरीरोंसे अपनी आत्माको भिन्न अनुभव करना चाहिये ॥ ८१ ॥

उत्थानिका–आगे कहते है कि पांचों ही शरीर जीव स्वरूप नहीं हैं—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजयिओ ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ ८२ ॥

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तेजसः ।
आहारकः कार्मणः पुद्गलद्रव्यात्मका सर्वे ॥ ८२ ।

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(ओरालिओ देहो) औदारिक शरीर (य) और (वेउव्विओ) वैक्रियिक देह (य तेजयिओ) और तैजस शरीर (आहारय, कम्मइओ) आहारक शरीर और कार्मण शरीर ये (सव्वे) सब पांचों शरीर (पोग्गलदव्वप्पगा) पुद्गल द्रव्यमई हैं ।

विशेषार्थः–ये शरीर पुद्गल द्रव्यके बने हुए हैं इसलिये मेरे आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं, क्योकि मै शरीर रहित चैतन्य चमत्कारकी परिणतिमें परिणमन करनेवाला हूं, मेरा सदा ही अचेतन शरीरपनेसे विरोध है ।

भावार्थ-संसारी जीवोंके पांच प्रकारके शरीर पाए जाते हैं। हरएक शरीर अपने २ नामकर्मके उदयसे बनता है। औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे औदारिक शरीर आहारक वर्गणासे, वैक्रियिक शरीर नामकर्मके उदयसे वैक्रियिक शरीर आहारक वर्गणासे, आहारक शरीर नामकर्मके उदयसे आहारक शरीर आहारक

वर्गणासे तथा तैजस शरीर नामकर्मके उदयसे तैजस शरीर तैजस वर्गणासे और कार्मण शरीर नामकर्मके उदयसे कार्मण शरीर कार्मण वर्गणासे बन जाता है- इन शरीरोंका उपादान और निमित्त कारण पुद्गल ही है, आत्मा नहीं है। इस तरह आत्माको शरीर और द्रव्यकर्म तथा रागादि कर्मकृत विकारोसे भिन्न अनुभव करके साम्यभावका लाभ करना चाहिये। श्री अमृतचंद्रस्वामी समयसार-कलशमें कहते है-

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०-९॥

भावार्थ-हे भव्य जीवो! अब तुम इस समयसे द्रव्य कर्म और उनके फल स्वरूप नोकर्म और भाव कर्मसे अत्यन्त विरक्त भावकी निरंतर भावना करके तथा सर्व अज्ञान चेतनाके नाशको अच्छी तरह नचाकरके तथा अपने निजरससे भरे हुए स्वभावको पूर्ण करके और अपनी ज्ञानचेतनाको आनन्द सहित नचाते हुए शांत रसका सर्वकाल पान करो। मैं सिद्ध शुद्ध ज्ञानानदमय हूं। इस भावनामें दृढ हो आनन्द लाभ करो ॥ ८२ ॥

इस तरह पुद्गल स्कंधोंके बन्धके व्याख्यानकी मुख्यतासे दूसरे स्थलमें पांच गाथाए पूर्ण हुईं। इस तरह " अपदेसो परमाणू " इत्यादि ९ गाथाओसे परमाणु और स्कंध भेदको रखनेवाले पुद्गलोके पिंड बननेके व्याख्यानकी मुख्यतासे दूसरा विशेष अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

आगे उन्नीस गाथा पर्यंत 'जीवका पुद्गलके साथ बंध है' इस मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं। इसमें छः स्थल हैं। इनमेंसे आदिके स्थलमें " अरसमरूवं " इत्यादि शुद्ध जीवके व्याख्यानकी गाथा एक है, " मुत्तो रूवादि " इत्यादि पूर्वपक्ष व उसके परिहारकी मुख्यतासे दो गाथाएं हैं, ऐसे पहले स्थलमें तीन गाथाएं हैं। फिर भाव बंधकी मुख्यतासे " उवओगमओ " इत्यादि दो गाथाएं हैं। आगे परस्पर दोनो पुद्गलोंका बन्ध होता है, जीवका रागादि परिणामके साथ बन्ध है और जीव पुद्गलोका वन्ध है ऐसे तीन प्रकार बन्धकी मुख्यतासे "फासेहि पुग्गलाणं" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर निश्चयसे द्रव्य बन्धका कारण होनेसे रागादि परिणाम ही बन्ध है। ऐसा कहते हुए "रत्तो बन्धदि" इत्यादि तीन गाथाएं हैं। आगे भेदभावनाकी मुख्यतासे " भणिदा पुढवी " इत्यादि दो सूत्र हैं। फिर यह जीव रागादि भावोका ही कर्ता है, द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है ऐसा कहते हुए " कुव्वं सहावमादा " ऐसे छठे स्थलमें गाथाएं सात हैं। जहां मुख्यपना शव्द कहा है वहां यथासंभव और भी अर्थ मिलता है ऐसा भाव सर्व ठिकाने जानना योग्य है। इस तरह उन्नीस गाथाओंसे तीसरे विशेष अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है ॥

उत्थानिका—ऐसा प्रश्न होनेपर कि इस जीवका शरीरादि परद्रव्योंसे भिन्न अन्य द्रव्योंसे असाधारण अपना स्वरूप क्या है? आचार्य उत्तर देते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्त चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ८३ ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहण जीवमनिर्दिष्टसस्थान ॥ ८३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ'--(जीवम्) इस जीवको (अरसं) पांच रससे रहित (अरूवम्) पाच वर्णसे रहित (अगंधं) दो गंधसे रहित तथा इन्होके साथ आठ प्रकार स्पर्शसे रहित, (अव्वत्तं) अप्रगट (असद्दं) शब्द रहित, (अलिंगग्गहणं) किसी चिह्नसे न पकड़ने योग्य (अणिद्दिट्ठसंठाणं) नियमित आकार रहि (चेदणागुणं) सर्व पुद्गलादि अचेतन द्रव्योंसे भिन्न और समस्त अन्य द्रव्योसे विशेष तथा अपने ही अनन्त जीव जातिमें साधारण ऐसे चैतन्य गुणको रखनेवाला (जाण) जानो ।

विशेषार्थः--अलिग ग्रहण जो विशेषण दिया है उसके बहुतसे अर्थ होते है वे यहा समझाए जाते है । लिग इद्रियोको कहते हैं । उनके द्वारा यह आत्मा पदार्थोंको निश्चयसे नहीं जानता है क्योकि आत्मा स्वभावसे अपने अतीन्द्रिय अखंडज्ञान सहित है इसलिये अलिंग ग्रहण है अथवा लिंग शब्दसे चक्षु,आदि इन्द्रियें लेना, इन चक्षु आदिसे अन्य जीव भी इस आत्माका ग्रहण नहीं कर सके क्योकि यह आत्मा विकार रहित अतींद्रिय स्वसवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा ही अनुभवमे आता है इसलिये भी अलिग ग्रहण है । अथवा धूम आदिको चिह्न कहते हैं जैसे धुएंके चिह्नरूप अनुमानसे अग्निका ज्ञान करते हैं ऐसे यह आत्मा जानने योग्य पर पदार्थोंको नहीं जानता क्योकि स्वय ही चिह्न या अनुमान रहित प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानको रखनेवाला है उसे ही जानता है इसलिये भी अलिग ग्रहण है अथवा कोई भी अन्य पुरुष जैसे

धूमके चिह्नसे अग्निका ग्रहण कर लेते हैं वैसे अनुमानरूप चिह्नसे आत्माका ग्रहण नहीं कर सक्के क्योंकि वह चिह्न रहित अतीन्द्रिय ज्ञानके द्वारा जानने योग्य है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। अथवा लिंग नाम शिखा, जटा धारण आदि भेषका है इससे भी आत्मा पदार्थोंका ग्रहण नहीं कर सक्ता क्योंकि स्वाभाविक, विना किसी चिह्नके उत्पन्न अतींद्रिय ज्ञानको यह आत्मा रखनेवाला है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। अथवा किसी भी भेषके ज्ञानसे पर पुरुष भी इस आत्माका ग्रहण नही कर सक्के क्योंकि यह आत्मा अपने ही वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानसे ही जाना जाता है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। इसतरह अलिंग ग्रहण शब्दकी व्याख्यासे शुद्ध जीवका स्वरूप जानने योग्य है यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामे आचार्यने यह वताया है कि यह आत्मा पुद्गलके गुण जो स्पर्श रस गंध वर्ण हैं उनसे रहित है इसलिये पुद्गलसे भिन्न अमूर्तीक है। तथा इसी लिये यह आत्मा प्रगट देखनेमे नहीं आता है न इससे पौद्गलिक शब्द होते हैं न इसके कोई समचतुरस्र संस्थान आदि शरीर सम्बन्धी आकार हैं और न यह किसी चिह्नसे जाना जासक्ता है। न तो कोई पुरुष आप ही अपनी इंद्रियोसे अपनी आत्माको देख सक्ता है या मालूम कर सक्ता है, न दूसरे पुरुष दूसरेकी आत्माको किसी इंद्रियसे जान सक्के हैं, न कोई किसी अनुमानसे अपनी आत्माको जान सकता है न दूसरे ही पुरुष किसी अनुमानसे दूसरेकी आत्माको जान सक्के है, न कोई शिखा जटा आदि नानाप्रकार साधुभेषको धरकर अपनी आत्माको जान सक्ता है न दूसरे पुरुष किसी भी भेषके ज्ञानसे

इस दूसरेकी आत्माको जान सक्ते हैं, इसलिये यह आत्मा अपने आपको आप ही अपने स्वसंवेदन ज्ञानसे ही जान सक्ता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह आत्मा शुद्ध ज्ञान चेतनामय सर्व पुद्गलादि द्रव्योंसे भिन्न लक्षणको रखनेवाला है। यद्यपि चेतना गुणकी अपेक्षा सर्व आत्माएं समान है तथापि सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ है तौभी इस मोक्षवांछक पुरुषको उचित है कि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्व ही आत्माओंको शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय, अविनाशी, अमूर्तीक अपने आत्माके समान देखकर सर्वसे रागद्वेष छोड़कर सामान्यतासे शुद्ध आत्माके अनुभवमें तन्मय हो परम समताको प्राप्त करे, जैसा श्री अमृतचन्द्रस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे कहा है—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः॥ २२३॥
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव॥ २२४॥

भावार्थ—यह आत्मा नित्य ही कर्मोंके लेपसे रहित है, अपने स्वरूपमें स्थित है, किसीके द्वारा घातसे रहित है, आकाशके समान अमूर्तीक है, परम पुरुष है, अत्यन्त शुद्ध, परम पदमें स्फुरायमान होनेवाला है, अपने निज पदमें कृतकृत्य है, सकल जानने योग्यका ज्ञाता स्वरूप है, यही परमात्मा है, परमानंदमें डूबा हुआ है, तथा ज्ञानमई सदा ही प्रकाशमान होरहा है। इसतरह शुद्ध आत्माके शुद्ध स्वरूपपर दृष्टि रखकर इसी स्वरूपका एकाग्र होकर अनुभव करना चाहिये। यही स्वात्मानुभव सिद्धपदका कारण है॥ ८३॥

उत्थानिका–आगे जब आत्मा अमूर्तीक शुद्ध स्वरूप है तब इस अमूर्तीक जीवका मूर्तीक पुद्गल कर्मोंके साथ किसतरह बंध होसक्ता है ऐसा पूर्व पक्ष करते हैं—

मुत्तो रूवादिगुणो वज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बंधदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ ८४ ॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः ।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म ॥ ८४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः–(रूवादिगुणो) स्पर्श रस गंध वर्ण गुणधारी (मुत्तो) मूर्तीक पुद्गल द्रव्य (फासेहिं) स्निग्ध, रूक्ष स्पर्श गुणोके निमित्तसे (अण्णम् अण्णेहिं) एक दूसरेसे परस्पर (वज्झदि) बंध जाते हैं । (तव्विरीदो) इससे विरुद्ध अमूर्तीक (अप्पा) आत्मा (किध) किस तरह (पोग्गलकम्मं) पुद्गलीक कर्मवर्गणाको (बंधदि) बांधता है ।

विशेषार्थः–निश्चयनयसे यह आत्मा परमात्मा स्वरूप है, निर्विकार चैतन्य चमत्कारी परिणतिमें वर्तनेवाला है, बंधके कारण स्निग्ध रूक्षके स्थानापन्न रागद्वेषादि विभाव परिणामोसे रहित है और अमूर्तीक है सो किसतरह पुद्गल मूर्तीक कर्मोंको बांध सक्ता है ? किसी भी तरह नहीं बांध सक्ता है ऐसा पूर्वपक्ष शंकाकारने किया है ।

भावार्थ–शंकाकार कहता है कि जब यह आत्मा स्वभावसे अमूर्तीक वीतराग ज्ञान स्वभाव है तब इसके जड़ पुद्गल-स्पर्श रस गंध वर्णवान् पुद्गलोंका सम्बन्ध कैसे होसक्ता है । मूर्तीकका मूर्तीकके साथ स्निग्ध व रूक्ष गुणोंके निमित्तसे बंध होसक्ता है परंतु अमूर्तीकका मूर्तीकके साथ कैसे होसक्ता है ? ॥ ८४ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य समाधान करते हैं कि किसी अपेक्षा व नयके द्वारा अमूर्तीक आत्माका पुद्गलसे बंध होजाता है—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणीहि ॥ ८५

रूपादिकैः रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि ।
द्रव्याणि गुणाश्च यथा तथा बंधस्तेन जानीहि ॥ ८५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जधा) जैसे (रूवादिएहिं रहिदो) रूपादिसे रहित आत्मा (रूवमादीणि दव्वाणि गुणेय) रूपादि गुणधारी द्रव्योंको और उनके गुणोंको (पेच्छदि जाणादि) देखता जानता है (तध) तैसे (तेण) उस पुद्गलके साथ (बंधो) बंध (जाणीहि) जानो ।

विशेषार्थ—जैसे अमूर्तीक व परम चैतन्य ज्योतिमें परिणमन रखनेके कारण यह परमात्मा वर्ण आदिसे रहित है, ऐसा होता हुआ भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसहित मूर्तीक द्रव्योंको और उनके गुणोंको मुक्तावस्थामें एक समयमें वर्तनेवाले सामान्य और विशेषको ग्रहण करनेवाले केवल दर्शन और केवलज्ञान उपयोगके द्वारा ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे देखता जानता है यद्यपि उन ज्ञेयोंके साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वे मूर्तीक द्रव्य और गुण भिन्न हैं और यह ज्ञाता दृष्टा उनसे भिन्न है। अथवा जैसे कोई भी संसारी जीव विशेष भेदज्ञानको न पाता हुआ काष्ट व पाषाण आदिकी अचेतन जिन प्रतिमाको देखकर यह मेरेद्वारा पूजने योग्य है ऐसा मानता है। यद्यपि यहां सत्ताको देखने मात्र दर्शनके साथ उस प्रतिमाका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि

दृश्य दर्शक सम्बन्ध है अथवा जैसे कोई विशेष भेदज्ञानी समव-शरणमें प्रत्यक्ष जिनेश्वरको देखकर यह मानता है कि यह मेरेद्वारा आराधने योग्य हैं, यहा भी यद्यपि देखने व जाननेका जिनेश्वरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि आराध्य तथा आराधक सम्बन्ध है तैसे ही मूर्तीक द्रव्यके साथ बन्ध होना समझो । यहां यह भाव है कि यद्यपि यह आत्मा निश्चयनयसे अमूर्तीक है तथापि अनादि कर्मबन्धके वशसे व्यवहारसे मूर्तीक होता हुआ द्रव्यबधके निमित्त कारण रागादि विकल्परूप भावबंधके उपयोग-को करता है। ऐसी अवस्था होनेपर यद्यपि मूर्तीक द्रव्यकर्मके साथ आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध नही है तथापि पूर्वमें कहे हुए दृष्टा-तसे सयोग सम्बन्ध है इसमें कोई दोष नही है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने अपने आत्माके साथ द्रव्य-कर्म ज्ञानावरणादिका बंध होसक्ता है इस बातको स्पष्ट किया है । जहां मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है वहां मूर्तीक द्रव्य और गुणोको अपने ज्ञान स्वभावसे वीतरागतारूप जानते हुए भी आत्मा बन्धको प्राप्त नही होता है । केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा सर्व मूर्तीक व अमूर्तीक द्रव्योको परम वीतरागतासे देखते जानते हैं इसलिये उनके बन्ध नही होता । इसी तरह अन्य वीतराग सम्यग्दृष्टी आत्माए भी जगतके मूर्तीक अमूर्तीक पदार्थोको यदि उदासीनतासे उनके वस्तु स्वरूपको मात्र समझते हुए देखते जानते है तो उनको इस दर्शन ज्ञानसे भी बन्ध नही होता । बन्धका कारण रागद्वेष है । संसारी आत्मा अनादि कर्मबन्धके सम्बन्धके कारण उन कर्मोके उदयके निमित्तसे रागद्वेष परिणति कर लेता है

इसीको अशुद्ध उपयोग कहते हैं। इस अशुद्ध उपयोगका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाएं स्वयं कर्मरूप हो आत्माके साथ संयोगरूप ठहर जाती हैं।

जिनके रागद्वेष नहीं होता वे मूर्तीक पदार्थोंको देखते जानते हुए भी बन्धको प्राप्त नहीं होते। शुद्ध आत्मामें रागद्वेष नहीं होते इसलिये वे मूर्तीक कर्मोंसे नहीं बंधते हैं। यहां आचार्यने यह दिखाया है कि जैसे यह आत्मा स्वरूपसे अमूर्तीक होता हुआ भी मूर्तीक पदार्थोंको देखता जानता है इसी तरह मूर्तीकके साथ संयोग भी पालेता है। वास्तवमे जो आत्मा किसी भी समयमें अमूर्तीक शुद्ध कर्मबंधसे रहित होता तो वह कभी भी बन्धमें नही पडता, क्योंकि विना रागद्वेष मोहके आत्माके द्रव्यकर्मोंका बध नहीं होसक्ता। यह आत्मा इस ससारमें अनादिकालसे ही बधरूप ही चला आरहा है—स्वभावसे अमूर्तीक होनेपर भी इसका कोई भी अंशरूप प्रदेश अनंत द्रव्यकर्मवर्गणाओके आवरणसे रहित नहीं है, इसलिये व्यवहारमें इस ससारी आत्माको मूर्तीक कहते हैं और इस मूर्तीक आत्माके ही मूर्तीक पुद्गलोंका बंध होता है। जैसे मूर्तीक आत्मा राग द्वेष मोहपूर्वक पदार्थोंको देखता जानता है वैसे यह कर्मपुद्गलोसे भी सयोग पा जाता है। जैसे देखते जानते हुए मूर्तीक द्रव्योका आत्माके साथ न मिटनेवाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु मात्र राग सहित ज्ञेय ज्ञायक सबंध है वैसे मूर्तीक आत्माका द्रव्य कर्मोंके साथ तादात्म्य संबध नहीं है किंतु मात्र संयोग सम्बन्ध है। मूर्तीक आत्मापर प्रत्यक्ष मूर्तीक पदार्थोंका असर पड़ता दीखता है। जैसे मादक वस्तुको पीलेनेसे ज्ञान बिगड़

जाता है। अथवा सराग मूर्तिको देखनेसे सराग भाव व वीतराग मूर्तिको देखनेसे वीतराग भाव होता है। अथवा जैसे सरागी पुरुष बुद्धिपूर्वक भोजन पान वस्त्रादि ग्रहण करता है तैसे वही सरागी अबुद्धि पूर्वक कर्म सिद्धांतके नियमसे कर्मवर्गणाओको ग्रहणकर पूर्वबद्ध मूर्तीक द्रव्यके साथ बांध लेता है। टीकाकारने तीन दृष्टांत दिये हैं—एक केवलज्ञानी परमात्माका कि वे अमूर्तीक होते हुए भी ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे मूर्तीक द्रव्योको देखते जानते हैं तौ भी उनमे तन्मयी नही है। दूसरा साधारण भेद ज्ञान रहित पुरुषका कि वह अरहंतकी मूर्तिको देखकर अपने दर्शक व दर्शन सम्बन्धको जोड़ देता है कि यह पूजने योग्य हें व पुजक हूं। तीसरा एक विशेष भेद विज्ञानीका जो समवशरणमे साक्षात् अरहंतको देखकर उनसे पूज्य पूजक सम्बन्ध करता है। इन दृष्टांतोसे यही दिखलाया है कि जैसे इनमे एक तरहका संयोग सम्बन्ध है वैसा ही आत्माका द्रव्यकर्मोके साथ संयोग सम्बन्ध है। जो मूर्तिको अरहंतकी स्थापना समझकर उस मूर्तिको पुजकर अरहंतकी मैंने पूजा की ऐसा समझते हैं वे तो भेदविज्ञानी हैं। परंतु जो मूर्तिको ही साक्षात् अरहंत एकांतसे मान ले और स्थापना है ऐसा न समझे उसे वृत्तिकारने विशेष भेद विज्ञान रहित पुरुष कहा है ऐसा भाव झलकता है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्यने अपनी वृत्तिमें इसतरह दिखलाया है कि मूर्तीक द्रव्यको जो राग सहित देखता जानता है वही स्वयं रागी होकर उससे बंध जाता है। इसके दो दृष्टांत दिये हैं—एक तो अज्ञानी बालकका जो मिट्टीके बैलको अपना जानता है। दूसरे

ग्वालियेका जो सच्चे बैलको अपना जानता है । यद्यपि दोनो ही तरहके बैल बालक या ग्वालियेसे जुदे हैं तथापि यदि कोई उनको नष्ट करे, बिगाडे व ले जावे तो बालक और ग्वालिये दोनोको महा दुःख होगा क्योकि उनका ज्ञान उन बैलोंके निमित्तसे उनके आकार राग सहित परिणमन कररहा है । यही उन परस्वरूप बैलोके साथ उनके सम्बन्धका व्यवहार है । इसी तरह अमूर्तीक आत्माका जो अनादिकालसे प्रवाहरूपसे एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गलीक कर्मोंके साथ सम्बन्ध चला आरहा है उनके उदयका निमित्त पाकर राग द्वेष मोहरूप अशुद्धोपयोग होता है यही भाव बध है । इसीसे आत्मा बधा हुआ है । पुद्गलीक कर्मोंका बंध व्यवहार मात्र है । यही भावबध द्रव्यबधका कारण है । भावबधसे नवीन द्रव्य कर्म उसी कर्म सहित आत्मामें सयोग पालेते है । श्री तत्वार्थसारमे अमृतचद्रस्वामीने इसी प्रश्नको उठाकर कि अमूर्तीकका बन्ध मूर्तीकके कैसे होता है ? इस तरह समाधान किया है.—

न च बन्धाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्तैः कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्तेरित्यनेकान्तात्तस्य मूर्त्तित्वसिद्धितः ॥ १६ ॥

अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्त्तस्यापि सत्यैक्यं मूर्तत्वमवसीयते ॥ १७ ॥

बन्धं प्रति भवत्यैकमन्योन्यानुप्रवेशतः ।
युगपद्द्रावितः स्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणः ॥ १८ ॥

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् ।
न ह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥ १९ ॥

भावार्थ—अमूर्तीक आत्माके साथ मूर्तीक कर्मोंका बंध अनेकान्तसे असिद्ध नहीं है क्योंकि किसी अपेक्षासे आत्माके मूर्तिपना सिद्ध है । इस अमूर्तीक आत्माका भी द्रव्य कर्मोंके साथ प्रवाह रूपसे अनादिकालसे धारावाही सदाका सम्बन्ध चला आरहा है इसीसे उन मूर्तीक द्रव्यकर्मोंके साथ एकता होते हुए आत्माको भी मूर्तीक कहते हैं । बंध होनेपर जिसके साथ बन्ध होता है उसके साथ एक दूसरेमें प्रवेश होजानेपर परस्पर एकता होजाती है जैसे सुवर्ण और चांदीको एक साथ गलानेसे दोनों एक रूप होजाते हैं उसी तरह जीव और कर्मोंका बंध होनेसे परस्पर एकरूप बंध होजाता है । तथा यह कर्मबद्ध संसारी आत्मा मूर्तिमान है क्योंकि मदिरा आदिसे इसका ज्ञान विगड़ जाता है । यदि अमूर्तिक होता तो जैसे अमूर्तिक आकाशमें मदिरा रहते हुए आकाशको मदवान नहीं कर सक्ती वैसे आत्माके कभी ज्ञानमें विकार न होता । संसारी आत्मा मूर्तिक है इसीसे उसके कर्म बंध होता है । जैसे आत्मा निश्चयसे अमूर्तीक है वैसे उसके निश्चयसे बंध भी नहीं है । जैसे आत्मा व्यवहारसे मूर्तीक है वैसे उसके व्यवहारसे बंध भी होता है । इस तरह अनेकांतसे समझ लेनेमे कोई प्रकारकी शंका नहीं रहती है । सर्वथा शुद्ध अमूर्तीक यदि आत्मा होता तो इसके बंध मूर्तीकसे कभी प्रारंभ नहीं हो सक्ता था । अनादि संसारमे कर्म सहित ही आत्मा जैसा अब प्रगट है वैसा अनादिसे ही चला आ रहा है इसीसे कर्मबंधको व्यवस्था सिद्ध होती है ॥ ८९ ॥

इस तरह शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप जीवके कथनकी मुख्यतासे एक गाथा, फिर अमूर्तीक जीवका मूर्तीक कर्मके साथ कैसे

बंध होता है इस पूर्व पक्षरूपसे दूसरी, फिर उसका समाधान करते हुए तीसरी इस तरह तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका—राग द्वेष मोह लक्षणके धारी भावबन्धका स्वरूप कहते हैं:—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसए जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥ ८६ ॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि।
प्राप्य त्रिविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः सम्बन्धः ॥ ८६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ.—(उवओगमओ जीवो) उपयोगमई जीव (विविधे विसये) नानाप्रकार इंद्रियोके पदार्थोंको (पप्पा) पाकर (मुह्यदि) मोह करलेता है (रज्जदि) राग कर लेता है (वा) अथवा (पदुस्सेदि) द्वेष कर लेता है। (पुणो) तथा (हि) निश्चयसे (जो) वही जीव (तेहिं सबंधो) उन भावोंसे बन्धा है यही भावबंध है।

विशेषार्थः—यह जीव निश्चय नयसे विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी है तौभी अनादि कालसे कर्मबंधकी उपाधिके वशसे जैसे स्फटिकमणि उपाधिके निमित्तसे अन्य भावरूप परिणमती है इसी तरह कर्मकृत औपाधिक भावोंसे परिणमता हुआ इंद्रियोके विषयोंसे रहित परमात्म स्वरूपकी भावनासे विपरीत नाना प्रकार पचेंद्रियोके विषयरूप पदार्थोंको पाकर उनमें राग द्वेष मोह कर लेता है। ऐसा होता हुआ यह जीव राग द्वेष मोह रहित अपने शुद्ध वीतरागमई परम धर्मको न अनुभवता हुआ इन राग द्वेष मोह भावोंसे बद्ध होता है। यहां पर जो इस जीवके यह राग द्वेष मोह रूप परिणाम है सो ही भावबन्ध है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने द्रव्यबंधके कारण भावबंधको स्पष्ट किया है। यह आत्मा यदि शुद्ध अवस्थामें हो तब तो इसके कभी राग द्वेष मोह भाव हो ही नहीं सक्के क्योकि आत्माका स्वभाव वीतरागतासे निज परका ज्ञाता दृष्टा मात्र रहना है—यह उपयोगमई है। शुद्ध उपयोगमें रहना ही इसका धर्म है। जैसे स्फटिकमणिका स्वभाव निर्मल श्वेत है वैसे यह आत्मा शुद्ध है, परंतु संसारमें हरएक आत्मा प्रवाह रूपसे अनादिकालसे पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोकी उपाधिसे संयुक्त चला आरहा है। इस कारण शुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमे न परिणमता हुआ क्षयोपशमरूप मति श्रुतज्ञानसे इंद्रियोंकि और मनके द्वारा जानता देखता है। साथमें मोहका उदय है इसलिये पांचों इंद्रियोंके द्वारा जिन २ पदार्थोंको जानता है उनमेंसे जो अपनेको इष्ट भासते हैं उनमें राग और मोह करलेता है। तथा जो अनिष्ट भासते हैं उनमें द्वेष कर लेता है। उस समय यह आत्मा उस राग द्वेष या मोहके भावसे तन्मई होकर रागी, द्वेषी, मोही हो जाता है। जैसे स्फटिकमणि काले, पीले, हरे डाकके सम्बन्धसे अपनी शुद्धताको छिपाकर काली, पीली, हरी भासती है। इस जीवके इस राग द्वेष मोह भावको इसी लिये भाव बंध कहते है क्योकि उसका उपयोग उन भावोंसे वन्धा हुआ है। अर्थात् उपयोगने अपनेमें रागद्वेष मोहका रंग चढ़ा लिया है। जैसे सफेद वस्त्र काले, पीले, हरे, लाल रंगमें रंगनेसे रंगीन हो जाता है वैसे यह आत्मा रागद्वेष मोहमें रंग जानेसे रागीद्वेषी मोही हो जाता है। उस समय आत्माकी स्वाभाविक वीतरागता

ढक जाती है । इसी भावबंधसे यह आत्मा नवीन कर्मबंध करता है । प्रयोजन यह है कि जैसे सफेद वस्त्र व स्वच्छ स्फटिकको देखनेकी इच्छा करनेवाला रंगके व डाकके सम्बन्धको छुडाता है इसी तरह हमको शुद्ध आत्माके लाभके लिये, रागद्वेष मोहके कारण-भूत कर्मबंधनको आत्मासे हटाना चाहिये और इसी लिये अभेद-रत्नत्रयका शरणलेकर स्वानुभवके बलसे मोहके बलको निर्बल करना चाहिये । यहां मोहसे मिथ्या श्रद्धान तथा राग द्वेषसे क्रोधादि कषायोंका आवेश समझना चाहिये । यही राग द्वेष मोहबन्धके कारण है- ऐसा ही समयसार कलशमें स्वामी अमृतचंद्राचार्यने कहा है—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥ ९-५ ॥

भावार्थ—जो कोई जीव शुद्ध निश्चय नयके विषयभूत शुद्धा-त्मानुभवसे छूटकर ज्ञान रहित हो राग द्वेष मोहको परिणमते हैं वे ही पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंके अनुसार नाना प्रकार भेदरूप कर्मबंधको प्राप्त करते है । इससे यह सिद्ध है कि रागद्वेष मोह कर्मबंधके कारण होनेसे भावबन्ध है ॥ ८६ ॥

उत्थानिका—आगे भावबंधके अनुसार द्रव्यबन्धका स्वरूप बताते हैं—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसए ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवएसो ॥ ८७ ॥

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये ।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥ ८७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(जीवो) जीव (जेण भावेण)

जिस रागद्वेष मोहभावसे (विसए आगदं) इन्द्रियोंके विषयमें आए हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको (पेच्छदि) देखता है (जाणादि) जानता है (तेणेव रज्जदि) उसही भावसे रंग जाता है (पुणो) तब (कम्म) द्रव्यकर्म (वज्झदि) बन्ध जाता है (इति उवएसो) ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है।

विशेषार्थ-यह जीव पांचों इन्द्रियोंके जाननेमें जो इष्ट व अनिष्ट पदार्थ आते हैं उनको जिस परिणामसे निर्विकल्परूपसे देखता है व सविकल्परूपसे जानता है उसी ही दर्शनज्ञानमई उपयोगसे राग करता है क्योंकि वह आदि मध्य अन्त रहित, व रागद्वेषादि रहित चैतन्य ज्योतिस्वरूप निज आत्म द्रव्यको न श्रद्धान करता हुआ, न जानता हुआ और समस्त रागादि विकल्पोंको छोड़कर नहीं अनुभव करता हुआ वर्तन कर रहा है इसीसे ही रागी द्वेषी मोही होकर रागद्वेष मोह कर लेता है। यही भाव-बंध है। इसी भाव बंधके कारण नवीन द्रव्यकर्मोको बांधता है ऐसा उपदेश है।

भावार्थः-इस गाथामे आचार्यने यह बतलाया है कि इस आत्माका अशुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोग द्रव्य कर्मकेबंधके लिये निमित्त कारण है। वे कर्मवर्गणाएं आत्माके भावोंका निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप बंध जाती है। यदि यह आत्मा वीतराग भावसे पदार्थोंको देखे जाने तो भावबंध न हो परन्तु यह रागद्वेष मोहके साथ देखता जानता है इससे अपनेमे भाव बंधको पाकर द्रव्यबन्ध करता है। तात्पर्य यह है कि वीतराग भावसे ही देखना जानना हितकारी है ॥८७॥

इस तरह भावबंधके कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

उत्थानिका-आगे बंध तीन प्रकार है । एक तो पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलोंका नवीन पुद्गल कर्मोंके साथ बध होता है । दूसरा जीवका रागादि भावके साथ बंध होता है । तीसरा उसी जीवका ही नवीन द्रव्यकर्मोंसे बध होता है, इस तरह तीन प्रकार बन्धके स्वरूपको कहते है-

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णं अवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥८८॥

स्पर्शैः पुद्गलाना बधो जीवस्य रागादिभिः ।
अन्योन्यमवगाह पुद्गलजीवात्मको भणितः ॥ ८८ ।

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पुग्गलाण) पुद्गलोंका (बधो) बन्ध (फासेहि) स्निग्ध रूक्ष स्पर्शसे, (जीवस्स) जीवका बन्ध (रागमादीहिं) रागादि परिणामोसे तथा (पोग्गलजीवप्पगो) पुद्गल और जीवका बन्ध (अण्णोण्णं अवगाहो) परस्पर अवगाहरूप (भणिदो) कहा गया है ।

विशेषार्थ-जीवके रागादि भावोंके निमित्तसे नवीन पुद्गलीक द्रव्यकर्मोंका पूर्वमे जीवके साथ बंधे हुए पुद्गलीक द्रव्यकर्मोंके साथ अपने यथायोग्य चिकने रूखे गुणरूप उपादान कारणसे जो बध होता है उसको पुद्गल बंध कहते हैं । वीतराग परम चैतन्यरूप निज आत्मतत्वकी भावनासे शून्य जीवका जो रागादि भावोमे परिणमन करना सो जीवबन्ध है। निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान रहित हो स्निग्ध रूक्षकी जगह रागद्वेषमें परिणमन होते हुए जीवका

बंध योग्य स्निग्ध रूक्ष परिणामोंमें परिणमन होनेवाले पुद्गलके साथ जो परस्पर एक क्षेत्र अवगाहरूप बन्ध है वह जीव पुद्गल बन्ध है इस तरह तीन प्रकार बंधका लक्षण जानने योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बन्ध तत्वका वर्णन किया है। वास्तवमें दो वस्तुओंका मिलकर एकमेक होजाना उसको बंध कहते हैं। यह बन्ध पुद्गल द्रव्यहीमें हो सक्ता है। पुद्गलके परमाणु या स्कंध एक दूसरेसे स्निग्ध रूक्ष गुणके दो अविभाग प्रतिच्छेद या अंशके अधिक होनेपर परस्पर मिलकर एक बन्धरूप स्कंध हो जाते हैं जैसा पहले कहचुके हैं। इस तरहका बंध उस समयमें भी होता है जब जीवके योग और कषायके निमित्तसे द्रव्य कर्मवर्गणाएं आश्रवरूप होती हैं। पूर्वमें बांधी हुई पुद्गलीक द्रव्य कर्म वर्गणाओंके साथ नवीन आश्रवरूप हुए पुद्गलीक कर्म वर्गणाओंका परस्पर स्निग्ध रूक्षगुणके कारण बन्ध हो जाता है। इसको पुद्गल बंध कहते हैं। इस तरहकी व्यवस्था वस्तुस्वरूपके समझने पर यह बात अच्छी तरह ध्यानमें आजायगी कि शुद्ध आत्माके कर्मबन्ध होना असंभव है। अनादिकालसे आत्मा अशुद्ध है अर्थात् कर्मबन्ध सहित है ऐसा माननेपर ही नवीन द्रव्यकर्मोंका पुराने द्रव्यकर्मोंके साथ बन्ध बन सक्ता है, क्योंकि वास्तवमें बन्धरूप पर्याय पुद्गलोंमें ही होती हैं। यह एक प्रकारका पुद्गलबंध है।

मोहनीय आदि कर्मोंके उदयके निमित्तसे जीवके भावोंमें परिणति होकर उनका रागद्वेष मोहरूप परिणत हों जाना सो जीवबंध है। आत्मा किस तरह रागद्वेषरूप परिणमता है इसका स्वरूप शब्दोंसे कहना बहुत दुर्लभ है। जो विलकुल वीतराग हो चुके

हैं उनके कभी भी रागद्वेष मोह पैदा नहीं हो सक्ते क्योंकि उन्होंने मोहकर्मका ही नाश कर डाला है। जिन्होंने मोहका नाश नहीं किया है उनके भीतर रागद्वेष मोह भी किसी न किसी पर्यायमें कम या अधिक अनादिकालसे होते ही रहते हैं, केवल उपशम सम्यक्तमें या उपशम चारित्रमें मोहके उदयके दब जानेसे जीवोंको अन्तर्मुहूर्तके लिये निर्मल सम्यक्त या निर्मल वीतराग चारित्र होता है। इस अवस्थाके सिवाय क्षपक श्रेणीके दसवें गुणस्थान तक बराबर कोई न कोई प्रकारका राग या द्वेष या मोह सहित राग या द्वेष बना ही रहता है। ये राग द्वेष मोह नैमित्तिक या औपाधिक भाव कहलाते हैं क्योंकि जीवके उपयोगके साथ साथ मोहनीय कर्मका अनुभाग या रस झलकता है। जबतक मोहनीय कर्मके उदयसे उसका रस प्रगट होता रहेगा तब ही तक जीवके रागादिरूप भाव होगा। जैसे स्फटिक मणिके नीचे जबतक काली, हरी, पीली डाकका सम्बन्धी रहेगा तब ही तक वह काली, हरी, पीली रूप झलकेगी वैसे ही जीवके विभाव भावोंकी अवस्था समझ लेनी चाहिये। पुद्गलकर्म वर्गणाओंमें इतनी अवश्य शक्ति है कि जीवके उपयोगको मलीन कर देते हैं या इसके गुणोंको ढक देते हैं जिसका दृष्टांत हमको मादक पदार्थमें मिलता है। मादक पदार्थके सेवनसे ज्ञानमें उन्मत्तपना हो जाता है। जीवका शुद्धोपयोगसे शून्य हो अशुद्धोपयोगरूप होना यह जीवबंध या भावबंध कहलाता है।

'एक २ जीवके प्रदेशमें अनंत पुद्गलकर्मवर्गणाओंका अवगाह रूप तिष्टे रहना, जैसे एक छोटेसे कमरेके आकाशमें बहुतसे दीप-

कोंका प्रकाश अवगाह पाकर ठहर जाता है इसको जीव पुद्गलका एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध कहते हैं। इस तरह तीन प्रकारका बन्ध है।

पंचाध्यायीकारने भी बन्धके तीन भेद बताए हैं–

अर्थतस्त्रिविधो बंधो भावद्रव्योभयात्मकः ।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयोद्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥
रागात्मा भावबंधः स जीवबंध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिंडो बंधस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥
इतरेतरबंधश्च देशाना तद्द्वयोर्मिथः ।
बंध्यबंधकभावः स्याद् भावबंधनिमित्ततः ॥ ४८ ॥

भावार्थ–वास्तवमें बंध तीन प्रकार है–भावबन्ध, द्रव्यबन्ध, और उभयबन्ध। इनमेंसे भावबन्ध और द्रव्यबंध तो भिन्न२ स्वतंत्र है। तीसरा उभयबन्ध जीव पुद्गलके मेलसे होता है। रागद्वेष आदि परिणाम भावबंध है इसीको जीवबंध कहते हैं। पुद्गलका पिंड वही द्रव्यबंध है। यह बंध पुद्गलकी स्निग्ध रूक्ष शक्तिसे होता है। भावबंधके निमित्तसे जीवके प्रदेशोंका और द्रव्यकर्मोंका परस्पर एक दूसरेमें प्रवेश होना सो उभयबंध है।

इन तीन प्रकार बंधोंमें रागादिरूप भाव बन्धको ही संसारका कारण जानकर इनकी अवस्थाको त्याग वीतराग साम्य अवस्थामें ही ठहरनेका यत्न करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥८८॥

उत्थानिका–आगे पूर्व सूत्रमें "जीवस्स रायमादीहि" इस वचनसे जो रागपनेको भावबंध कहा था वही द्रव्यबंधका कारण है ऐसा विशेष करके समर्थन करते हैं–

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं तिट्ठंति य जंति वज्झंति ॥ ८९ ॥

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः ।
प्रविशन्ति यथायोग्य तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते ॥ ८९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(सपदेसो) असंख्यात प्रदेशवान (सो) वह (अप्पा) आत्मा है (तेसु पदेसेसु) उन प्रदेशोंमें (पोग्गला काया) कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल पिंड (जहा जोग्ग) योगोंके अनुसार (पविसंति) प्रवेश करते है, (तिट्ठंति) ठहरते हैं, (य जंति) तथा उदय होकर जाते है (वज्झंति) तथा फिर भी बंधते है।

विशेषार्थ-मन, वचन, कायवर्गणाके आलम्बनसे और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे जो आत्माके प्रदेशोमे सकम्पपना होता है उसको योग कहते हैं। उस योगके अनुसार कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलकाय आश्रवरूप होकर अपनी स्थिति पर्यंत ठहरते है तथा अपने उदयकालको पाकर फल देकर उड जाते है तथा केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टयकी प्रगटतारूप मोक्षसे प्रतिकूल बन्धके कारण रागादिकोंका निमित्त पाकर फिर भी द्रव्यबन्धरूपसे बंध जाते है। इससे यह बताया गया कि रागादि परिणाम ही द्रव्य-बंधका कारण है। अथवा इस गाथासे दूसरा अर्थ यह कर सक्ते हैं कि प्रविशन्ति शब्दसे प्रदेशबंध, तिष्ठन्तिसे स्थितिबंध, जंतिसे फल देकर जाते हुए अनुभागबंध और बध्यन्तेसे प्रकृतिबंध ऐसे चार प्रकार बंधको समझना।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने कर्मोंके बंधकी व्यवस्था बताई है कि योगके अधिक या अल्प प्रमाणके अनुसार अधिक या

अल्प कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल आत्माके सर्व प्रदेशोंमें प्रवेश होकर बंध जाते हैं वे अपनी स्थिति तक ठहरते हैं उनमें स्थिति पर्यंत कालतक बंटवारा होजाता है और उस बंटवारेके अनुसार कर्मवर्गणाएं अपने २ समय पर उदय होकर या फल प्रगटकर झड़ती जाती हैं। वे वर्गणाएं फिर भी रागादि भावका निमित्त पाकर बंध जाती हैं। इस संसारमें अनादिकालसे कर्मबंध होनेकी यही व्यवस्था चली आरही है। सदा ही इस आत्माके प्रदेशोंका सकम्परूप योग और कषायका उदय पाया जाता है। रागद्वेषसे रंजित योग अथवा लेश्याके द्वारा यह जीव हर समय नई कर्मवर्गणाओंको अपने प्रदेशोमें प्रवेश कराता रहता है और बांधता रहता है। पूर्वबद्धकर्म अपना समय पाकर फल देकर झडते रहते हैं। इस तरह बंधना खुलना बराबर जारी रहता है। मूल कारण रागद्वेषादि भावबंध है। अतएव इसको जिस तरह हो सके दूर करना चाहिये ॥८९॥

इस तरह तीन तरह बंधके कथनकी मुख्यतासे दो सूत्रोंसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे फिर भी प्रगट करते हैं कि निश्चयसे रागादि विकल्प ही द्रव्यबंधका कारणरूप होनेसे भावबंध है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ ९० ॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभिः रागरहितात्मा ।
एष बन्धसमासो जीवानां जानीहि निश्चयतः ॥ ९० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(रत्तो) रागी जीव ही (कम्मं बंधदि) कर्मोको बांधता है न कि वैराग्यवान तथा (रागरहिदप्पा)

वैराग्य सहित आत्मा (कम्मेहि मुच्चदि) कर्मोंसे छूटता ही है-वह वैरागी शुभ अशुभ कर्मोंसे बंधता नहीं है (एसो बधसमासो) यह प्रगटबंध तत्त्वका सक्षेप (जीवाणं) संसारी जीव सम्बन्धी हे शिष्य ! (णिच्छयदो जाण) निश्चय नयसे जानो ।

विशेषार्थ-इस तरह राग परिणामको ही बंधका कारण जान करके सर्व रागादि विकल्प जालोंका त्याग करके विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी निज आत्मतत्वमें निरन्तर भावना करनी योग्य है ।

भावार्थ-इस गाथामें बहुत ही सरलतासे आचार्यने बता दिया है कि जो जीव रागद्वेषसे पूर्ण हैं वे अवश्य कर्मोंसे बंधते हैं तथा जो रत्नत्रयके प्रभावसे वीतरागताको धारते हैं वे नए कर्मोंको न बांधकर पुराने कर्मोंसे छूटते हैं । इससे यह बताया गया कि रागद्वेष संसारके कारण है व वीतरागभाव मोक्षका कारण है ।

इसलिये मुमुक्षु जीवको निरन्तर रागादि भावोके रङ्गको हटानेके लिये निजात्माकी विभूतिको ही अपनी समझ उसीमें तन्मय हो वीतराग भावकी निरतर भावना करनी चाहिये ।

श्री पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमे भी ऐसा ही कहा है-

बध्यते मुच्यते जीव. सममो निर्मम: क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥

भावार्थ-ममतावाला जीव कर्मोंसे बधता है जब कि ममता रहित जीव मुक्त होता है इसलिये सर्व तरह उद्यम करके निर्मम-त्व भावका चिन्तवन करना चाहिये ॥ ९० ॥

उत्थानिका-आगे द्रव्यबधका साधक जो जीवका रागादि-रूप औपाधिक परिणाम है उसके भेदको दिखाते हैं.—

पारिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥९१॥

परिणामाद्बन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः ।
अशुभौ मोहप्रद्वेषो शुभो वा शुभो भवति रागः ॥ ९१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः–(परिणामादो) परिणामोंसे (बंधो) बंध होता है । (परिणामो) परिणाम (रागदोसमोहजुदो) रागद्वेष मोह युक्त होता है (मोहपदोसो) मोह और द्वेष भाव (असुहो) अशुभ परिणाम है । (रागो) रागभाव (सुहो) शुभ (व असुहो) व अशुभ रूप (हवदि) होता है ।

विशेषार्थ–वीतराग परमात्माके परिणामसे विलक्षण परिणाम रागद्वेष मोहकी उपाधिसे तीन प्रकारका होता है । इनमेंसे मोह और द्वेष दोनों तो अशुभ भाव ही हैं । राग शुभ तथा अशु-भके भेदसे दो प्रकारका होता है । पंचपरमेष्ठी आदिमे भक्तिरूप भाव परम राग कहा जाता है । जब कि विषय कषायोमे उलझा हुआ भाव अशुभ राग होता है । यह तीन ही प्रकारका परिणाम सर्व प्रकारसे ही उपाधि सहित है इसलिये बधका कारण है । ऐसा जानकर शुभ तथा अशुभ समस्तराग द्वेष भावके नाश करनेके लिये सर्व रागादिकी उपाधिसे रहित सहजानन्दमई एक लक्षणधारी सुखामृतस्वभावमई निज आत्मद्रव्यमें ही भावना करनी योग्य है । यह तात्पर्य है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह स्पष्ट किया है कि बंधका कारण जीवका अशुद्ध भाव है जो मोहनीय कर्मके उदयकी

उपाधिके निमित्तसे होता है। मोहनीयकर्म दर्शनमोह और चरित्रमोहके भेदसे दो प्रकार है। दर्शनमोहके उदयसे मिथ्या-श्रद्धानरूप मिथ्यारुचिमई भाव होता है जिससे यह जीव मोक्षकी रुचि न रखकर ससारकी रुचि रखता हुआ संसारके सुखोंमे व उनके कारणोमे तथा उन सुखोके सहकारी धर्माभासोमें रुचि करता है। यह महा अशुभ भाव है। इसी भावसे जीव मिथ्यात्त्वकी स्थिति सत्तर कोड़ाकोडी सागर बाधता है। चारित्र मोहके उदयसे रागद्वेषभाव होता है। क्रोध व मान कषाय तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनके उदयजनित भावको द्वेष कहते हैं। यह द्वेष परिणामोको सल्केश या दु:खी व मलीन करनेवाला है इसलिये अशुभ भाव है। लोभ व माया कषाय तथा रति, हास्य, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इनके उदयसे होनेवाले भावको राग कहते हैं। यह रागभाव जो पाचों इन्द्रियोके भोगनेमें व अभिमानादिकी पुष्टिके लिये होता है वह अशुभ राग है। जब कभी इन ही कषायोकी मंदतासे श्री अरहंत सिद्ध आदि पाच परमेष्टियोंमे भक्तिरूप पूजा, दान, परोपकार, जप तथा स्वाध्याय करनेकी आकाक्षारूप भाव होता है वह शुभ राग है। इनमेंसे शुभ राग तो पुण्यबध करता है और परम्पराय मोक्षका कारण है जब कि अशुभ राग, मोह और द्वेष भाव तो मात्र पाप कर्मोंको बांधते हैं इससे सर्वथा त्यागने योग्य हैं। प्रयोजन यह है कि इन सर्व बंधके कारणभावोको त्यागनेके लिये हमे नित्य शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है। वास्तवमें परिणाम ही बधका कारण है जैसा श्री आत्मानुशासनमें कहा है:—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः ।
तस्मात्पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥ २२ ॥

भावार्थः-आचार्योंने परिणामको ही पुण्य तथा पापका कारण कहा है इसलिये पापोंका नाश और पुण्यका संग्रह करना योग्य है। यह प्रथम अवस्थाका उपदेश है। वीतराग भाव अबंधका करता है वही उपादेय है, यह तात्पर्य है ॥ ९१ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि द्रव्यरूप पुण्य पाप बन्धका कारण होनेसे शुभ अशुभ परिणामोंको पुण्य पापकी संज्ञा है तथा शुभ अशुभसे रहित शुद्धोपयोगमई परिणाम मोक्षका कारण है—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंत्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामोणण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ ९२ ॥

शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भणितमन्येषु ।
परिणामोऽनन्यगतो दुःखक्षयकारणं समये ॥ ९२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अण्णेसु) अपने आत्मासे अन्य द्रव्योंमें (सुहपरिणामो) शुभ रागरूप भाव (पुण्णं) द्रव्य पुन्यबन्धका कारण होनेसे भाव पुण्य है (असुहो) व अशुभ राग-रूप भाव (पावत्ति भणियम्) द्रव्य पाप बन्धका कारण होनेसे भाव पाप कहा जाता है तथा (अणण्णगदो परिणामो) अन्य द्रव्यमें नहीं रमता हुआ शुद्ध भाव (दुक्खक्खयकारणं) संसारके दुःखोंके क्षयका कारण भाव है ऐसा (समये) परमागममें कहा है।

विशेषार्थ-अपने शुद्धात्मासे भिन्न सर्व शुभ व अशुभ द्रव्य हैं। इन द्रव्योंके सम्बन्धमें रहता हुआ जो शुभभाव है वह पुण्य है और जो अशुभभाव है वह पाप है तथा शुद्धोपयोग-

रूप भाव मोक्षका कारण होनेसे शुद्ध भाव है ऐसा परमागममें कहा है अथवा ये भाव यथासंभव लब्धिकालमे होते हैं । विस्तार यह है कि मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोमे तारतम्यसे अर्थात् कमती कमती अशुभ परिणाम होता है ऐसा पहले कहा जा चुका है। अविरत सम्यक्त, देशविरत तथा प्रमत्तसयत इन तीन गुणस्थानोमे तारतम्यसे शुभ परिणाम कहा गया है । तथा अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय नाम बारहवें गुणस्थानतक तारतम्यसे शुद्धोपयोग ही कहा गया है। यदि नयकी अपेक्षासे विचार करें तो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे क्षीणकषाय तकके गुणस्थानोमे अशुद्ध निश्चय नय ही होता है । इस अशुद्ध निश्चय नयके विषयमे शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है ऐसी पूर्वपक्ष शिष्यने की। उसका उत्तर देते है कि वस्तुके एक देशकी परीक्षा जिससे हो वह नयका लक्षण है । तथा शुभ अशुभ व शुद्ध द्रव्यके आलम्बनरूप भावको शुभ, अशुभ व शुद्ध उपयोग कहते है । यह उपयोगका लक्षण है। इस कारणसे अशुद्ध निश्चयनयके मध्यमें भी शुद्धात्माका आलम्बन होनेसे व शुद्ध ध्येय होनेसे व शुद्धका साधक होनेसे शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है । इस तरह नयका लक्षण और उपयोगका लक्षण यथासंभव सर्व जगह जानने योग्य है । यहा जो कोई रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित समाधि लक्षणमई शुद्धोपयोगको मुक्तिका कारण कहा गया है सो शुद्धात्मा द्रव्य लक्षण जो ध्येय-रूप शुद्ध पारिणामिक भाव है उससे अभेद प्रधान द्रव्यार्थिक नयसे अभिन्न होनेपर भी भेद प्रधान पर्यायार्थिक नयसे भिन्न है। इसका कारण यह है कि यह जो समाधिलक्षण शुद्धोपयोग है वह एक-

देश आवरण रहित होनेसे क्षायोपशमिक खंड ज्ञानकी व्यक्तिरूप है तथा वह शुद्धात्मारूप शुद्ध पारिणामिक भाव सर्व आवरणसे रहित होनेके कारणसे अखंड ज्ञानकी व्यक्तिरूप है। यह समाधिरूप भाव आदि व अन्त सहित होनेसे नाशवान है वह शुद्ध पारिणामिक भाव अनादि व अनंत होनेसे अविनाशी है। यदि इन दोनों भावोंमें एकांतसे अभेद हो तो जैसे घटकी उत्पत्तिमें मिट्टीके पिंडका नाश होना माना जावे वैसे ध्यान पर्यायके नाश होनेपर व मोक्ष अवस्थाके उत्पन्न होनेपर ध्येयरूप पारिणामिकका भी विनाश होजायगा सो ऐसा नहीं होता। मिट्टीके पिंडसे जैसे घट अवस्थाकी अपेक्षा भेद है मिट्टीकी अपेक्षा अभेद है वैसे ध्यान पर्यायसे ध्येय भावका अवस्थाकी अपेक्षा भेद है जब कि आत्म द्रव्यकी अपेक्षा अभेद है। इसीसे ही जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप है, ध्यान भावनारूप नही है क्योंकि ध्यान नाशवंत है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि जो भाव अपने आत्माकी ही तरफ सन्मुख है—न किसी परवस्तुसे राग करता है न द्वेष करता है, वह शुद्धोपयोग भाव व आत्मामे एकाग्र रमनरूप भाव सर्व संसारके दुःखोंके क्षयका कारण उपादेयभूत है तथा पंचपरमेष्ठीमें भक्तिरूप व परोपकार आदिरूप परमे झुका हुआ उनके गुणोमें विनयरूप भाव शुभ उपयोग है, जो साता वेदनीय आदि पुण्य कर्मोंको बांधता है। तथा विषय कषायोंके रागमें लीन भाव अशुभ उपयोग है जो असाता वेदनीय आदि पाप कर्मोंको बांधता है। निश्चय नयसे शुद्धोपयोग केवलज्ञानीके ही होता

है क्योंकि वहां निरावरण ज्ञान होगया है। अशुद्ध निश्चयनयसे अप्रमत्तसे क्षीणकषायतक होता है। क्योंकि यहां यद्यपि शुद्धात्मा ध्येय है तथापि ज्ञान निर्मल नहीं है, सावरण है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान होनेके लिये हमको निर्विकल्प समाधि लक्षण शुद्धोपयोगमई भावका उपाय करना चाहिये। इसी कारणसे बाह्य पदार्थका मोह त्यागकर देना चाहिये। जैसा स्वामी अमितिगतिने बडे सामायिक पाठमे कहा है—

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते ।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशल. कर्मप्रपचः कथ ॥
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटा. शुष्यंति किं पादपा ।
मृत्स्वत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः ॥ ९६ ॥

भावार्थ—जबतक चित्तमें बाहरी पदार्थ सम्बन्धी स्नेह स्थिर है तबतक दुःखोंके देनेमें कुशल कर्मोंका प्रपंच कैसे नष्ट होसक्ता है? पृथ्वीतलके जल सहित होनेपर धूपके रोकनेवाले अनेक शाखाओसे वेष्टित जटावाले वर्गतके वृक्ष कैसे सूख सक्ते हैं? इसलिये रागद्वेष भावोंका मिटाना ही हितकारी है॥ ९२ ॥

इस तरह द्रव्य बधका कारण होनेसे मिथ्यात्त्व रागादि विकल्परूप भाव वन्ध ही निश्चयसे बन्ध है ऐसे कथनकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका—आगे इस जीवकी अपने आत्मद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्योंसे निवृत्तिके कारण छः प्रकार जीवकायोंसे भेदविज्ञान दिखलाते हैं:—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥९३॥

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसाः ।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि तेभ्योऽन्यः ॥ ९३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(पुढविप्पमुहा) पृथ्वीको आदि लेकर (जीवनिकाया) जीवोके समूह (अध थावरा य तसा) अर्थात् पृथ्वी कायिक आदि पांच स्थावर और द्वेन्द्रियादि त्रस (भणिदा) जो परमागममें कहे गए हैं (ते जीवादो अण्णा) वे सब शुद्धबुद्ध एक जीवके स्वभावसे भिन्न हैं। (जीवो वि य तेहिंदो अण्णो) तथा यह जीव भी उनसे भिन्न है ।

विशेषार्थ-टांकीमें उकेरेके समान ज्ञायक एक स्वभावरूप परमात्मतत्वकी भावनाको न पाकर इस जीवने जो त्रस या स्थावर नाम कर्म बांधा होता है उसके उदयसे उत्पन्न होनेके कारणसे तथा शरीर पुद्गलमई अचेतन होनेसे ये त्रस स्थावर जीवोके समूह शुद्ध चैतन्य स्वभावधारी जीवसे भिन्न हैं। जीव भी उनसे विलक्षण होनेसे उनसे निश्चयसे भिन्न है। यहां यह प्रयोजन है कि इस तरह भेद विज्ञान हो जानेपर मोक्षार्थी जीव अपने निज आत्मद्रव्यमें प्रवृत्ति करता है और परद्रव्यसे अपनेको हटाता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने भेद विज्ञानका उपाय बताया है कि हमको शुद्ध निश्चयनयके द्वारा अपने निज आत्माके स्वाभाविक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमय शुद्ध स्वभावपर लक्ष्य देकर देखना चाहिये तब सर्व पुद्गलकृत जीवकी पर्यायें भिन्न मालूम पड़ेंगीं, कि ये अनेक प्रकार प्रकार त्रस स्थावररूपके धारी जीव

नाम कर्मके उदयके कारण भिन्न २ पुद्गलमई शरीरोंको रखनेसे भिन्न २ नाम पानेसे बोले जाते हैं। ये सब अवस्थाएं शुद्ध जीवसे भिन्न हैं। शुद्ध जीव इनसे भिन्न है। मैं निश्चयसे शुद्ध जीव हूं। मेरा इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वामी अमितिगतिने बड़े सामायिकपाठमे कहा है —

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते,
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालंकृतिं ।
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थितेः-
र्बंधस्तस्य न यंत्रितस्त्रिभुवनं सांसारिकैर्बंधनैः ॥ ११ ॥

भावार्थ-मैं आत्मा हूं, निश्चयसे सर्व कर्मसमूहसे रहित हू, ज्ञानमई नेत्रसे शोभित हू। मेरे इस स्वभावको छोड़कर मैं न किसीका हूं न कोई अन्य पदार्थ मेरा है। जिस महापुरुषके चित्तमें ऐसी बुद्धि वर्तती है वह सदा ज्ञाता दृष्टा आत्माके स्वभावमें ठहरता है तथा तीन भवनमे सांसारिक बंधनोसे उस आत्माका बंध नहीं होता है।

वास्तवमें हमे निज स्वभावपर उपयोग रख शुद्ध स्वभावकी ही भावना करनी योग्य है ॥ ९३ ॥

उत्थानिका.-आगे इसी ही भेदविज्ञानको अन्य तरहसे दृढ करते हैं—

जो ण विजाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदंत्ति मोहादो ॥ ९४ ॥

यो न विजानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य ।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥ ९४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(जो) जो कोई (सहावम्) निज स्वभावको (आसेज्ज) पाकर (परं अप्पाणं एवं) परको और आत्माको इस तरह भिन्न २ (ण वि जाणदि) नही जानता है वही (मोहादो) मोहके निमित्तसे (अहं ममेदंत्ति) मै इस पर रूप हू या यह पर मेरा है ऐसा (अज्झवसाणं कीरदि) अभिप्राय करता है ।

विशेषार्थ—जो कोई शुद्धोपयोग लक्षण निज स्वभावको आश्रय करके पूर्वमें कहे प्रमाण छः कायके जीव समूहादि परद्रव्योको और निर्दोष परमात्मद्रव्यस्वरूप निज आत्माको भिन्न २ नहीं जानता है वह ममकार व अहकार आदिसे रहित परमात्माकी भावनासे हटा हुआ मोहके आधीन होकर यह परिणाम किया करता है कि मैं रागादि परद्रव्यरूप हूं या यह शरीरादि मेरा है इससे यह सिद्ध हुआ कि इस तरहके स्वपरके भेद विज्ञानके वलसे ही स्वसंवेदन ज्ञानी जीव अपने आत्म द्रव्यमें प्रीति करता है और परद्रव्यसे निवृत्ति करता है ।

भावार्थ—गाथामे भी आचार्यने भेदविज्ञानकी महिमा बताई है कि जो कोई निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माको सर्व रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्मसे भिन्न नही अनुभव करता है वही स्वसंवेदन ज्ञानसे रहित होकर मोहके कारण मैं रागी हूं, द्वेषी हू, में राजा हूं, मैं रक हूं, मै दुःखी हूं, मै सुखी हूं, मै विद्वान् हू, मैं मूर्ख हू, इत्यादि विकल्प अथवा यह शरीर मेरा है, यह धन मेरा है, यह मकान मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह पुत्र मेरा है इत्यादि परिणाम किया करता है, परन्तु जो भेदविज्ञानी हैं वे निज आत्मामें ही अपनापना

मानकर उदासीन रहते हुए साम्यभावका आनन्द पाते हैं। स्वामी अमिगति सामायिकपाठमें कहते है—

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः, स्वकीयो न देहः सम यत्र याति।
कथं बाह्य भूतानि वित्तानि तत्र, प्रबुद्धेति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ॥३४

भावार्थ-जहां नाना उपायोसे पाला हुआ यह अपना शरीर भी अपने साथ नही जाता है वहां अन्य बाहरी सम्पदा कैसे साथ जायगी ऐसा जानकर किसी भी पर पदार्थमे मोह न करना चाहिये ॥ ९४ ॥

इस तरह भेदभावनाके कथनकी मुख्यता करके दो सूत्रोमें पांचमा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि आत्मा अपने ही परिणामोका कर्ता है, द्रव्य कर्मोंका कर्ता नही है-अशुद्ध निश्चयसे रागादि भावोंका व शुद्ध निश्चयसे शुद्ध वीतराग भावका कर्ता है—

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ९५ ॥

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्त्ता स्वकस्य भावस्य।
पुद्गलद्रव्यमयाना न तु कर्त्ता सर्वभावानाम् ॥ ९५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(आदा) आत्मा (सभाव कुव्वं) अपने भावको करता हुआ (सगस्स भावस्स) अपने भावका (हि) ही (कत्ता हवदि) कर्त्ता होता है। (पोग्गलदव्वमयाण सव्वभावाण) पुद्गल द्रव्यसे बनी हुई सर्व अवस्थाओका (ण दु कत्ता) तो कर्त्ता नहीं है।

विशेषार्थ-यहां स्वभाव शब्दसे यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे

शुद्धबुद्ध एक स्वभाव ही कहा जाता है तथापि कर्मबंधके प्रस्तावमें अशुद्ध निश्चयनयसे रागादि परिणामको भी स्वभाव कहते हैं। यह आत्मा इस तरह अपने भावको करता हुआ अपने ही चिद्रूप स्वभाव रूप रागादि परिणामका ही प्रगटपने कर्ता है और वह रागादि परिणाम निश्चयसे उसका भावकर्म कहाजाता है। जैसे गर्म लोहेमें उष्णता व्याप्त है वैसे आत्मा उन रागादि भावोमें व्याप्त होजाता है। तथा चैतन्यरूपसे विलक्षण पुद्गल द्रव्यमई सर्व भावोंका—ज्ञानावरणीय आदि कर्मकी पर्यायोका तो यह आत्मा कभी भी कर्ता होता नहीं। इससे जाना जाता है कि रागादि अपना परिणाम ही कर्म है जिसका ही यह जीव कर्ता है।

भावार्थः—यहां आचार्यने यह बतलाया है कि यह आत्मा चैतन्यमई है इसलिये इसमें चेतनामई भाव ही सम्भव है—अचेतन-मई भावोका यह उपादान कर्ता नहीं होसक्ता। यह अपने चेतन भावोका ही कर्ता है शुद्ध निश्चयनयसे यह शुद्ध वीतराग भावका कर्ता है जब कि अशुद्ध निश्चयनयसे यह अशुद्ध रागादि भावोका कर्ता है जो भाव मोह कर्मके उदयके निमित्तसे हुए हैं। इन रागादि भावोका निमित्त पाकर कर्मवर्गणाके पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं। इससे जीवको व्यवहारसे इनका कर्त्ता कह दिया जाता है, परन्तु वास्तवमें जीव तो अपने भावोंका ही क[र्ता] है। यहां यह बतलाया कि जैसे शरीर व द्रव्य-कर्म आत्माके नही हैं वैसे यह आत्मा इन शरीरोंका कर्ता भी नही है। इस जीवको पुद्गलका अकर्ता अनुभव करके यह निश्च-यसे शुद्ध वीतरागभावोमें ही परिणमन करे। रागादि परिणामोमें

नही परिणमन करे ऐसा पुरुषार्थ करके साम्यभावमें रहना योग्य है । श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तीने भी द्रव्यसंग्रहमें जीवका कर्तापना इस तरह बताया है–

पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाण ॥

भावार्थ–यह आत्मा व्यवहारनयसे ज्ञानावरणीय आदि पौद्गलिक कर्मोंका कर्ता है परन्तु अशुद्ध निश्चयसे रागादिभावोंका कर्ता है और शुद्ध निश्चयनयसे यह शुद्ध चेतनभावोंका कर्ता है । तात्पर्य यही है कि शुद्ध भावोंका ही होना जीवका हित है ॥ ९५ ॥

उत्थानिका–आगे इस प्रश्नके होनेपर कि आत्माके किस तरह द्रव्य कर्मका परिणमनरूपी कर्म नहीं होता है, आचार्य समाधान करते हैं:—

गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥ ९६ ॥

गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि ।
जीवः पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ॥ ९६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(जीवो) यह जीव (पोग्गलमज्झे) पुद्गलोंके मध्यमें (सव्वकालेसु) सर्व कालोंमें (वट्टण्णवि) रहता हुआ भी (पोग्गलाणि कम्माणि) पुद्गलमई कर्मोंको (णेय गेण्हदि) न तो ग्रहण करता है (ण मुंचदि) न छोडता है (ण हि करेदि) और न करता है ।

विशेषार्थ–यह जीव सर्व कालोंमें दूध पानीकी तरह पुद्गलके बीचमे वर्तमान है तो भी जैसे निर्विकल्प समाधिमें रत परम मुनि

परभावको न ग्रहण करते न छोड़ते न करते अथवा जैसे लोहेका गोला उपादान रूपसे अग्निको ग्रहण करता छोड़ता व करता नहीं है तैसे यह आत्मा उपादान रूपसे पुद्गलमई कर्मोंको न तो ग्रहण करता है न छोडता है न करता है। इससे यह कहा गया कि जैसे सिद्ध भगवान पुद्गलके मध्यमें रहते हुए भी परद्रव्यके ग्रहण तजन व करनेके व्यापारसे रहित हैं तैसे ही शुद्ध निश्चयसे संसारी जीव भी ग्रहण त्यागादि नहीं करते हैं।

भावार्थ–हरएक पदार्थ उपादान रूपसे अपने ही स्वभावमें परिणामन कर सक्ता है परस्वभाव कभी नही हो सक्ता है। जैसे गेहूं स्वयं आटा, लोई, रोटीरूप परिणमन कर सक्ता है किन्तु चावलरूप नहीं हो सक्ता व सुवर्ण स्वयं सुवर्णके आभूषण या पात्रोमें परिणमन करसक्ता है, लोहेके पात्रोमे नहीं तैसे पुद्गल पुद्गलीक स्वभावमे व जीव जीवके स्वभावमे परिणमन करता है। पुद्गल कभी जीवकी दशामें व जीव कभी पुद्गलकी दशामे नही हो सक्ता।

यद्यपि जीव पुद्गल इस लोकमे एक ही क्षेत्रमे विराजमान है तौभी जीव अपने स्वभावमें परिणमता हुआ अपने ही परिणामको करता है, उसे ही ग्रहण करता है व पूर्व परिणामको त्यागता है, कभी पुद्गलीक स्वभावको करता नही, ग्रहता नही, छोडता नहीं, शुद्ध निश्चयनयसे जीव अपनी शुद्ध परिणतिको ही करता है, नवीनको जब ग्रहण करता है तब पुरानीको त्यागता है। अशुद्ध निश्चयनयसे संसारी जीव पौद्गलीक कर्मोंके निमित्तसे कभी राग परिणतिको करके उसे छोड़ द्वेष परिणतिको ग्रहण करता है। कभी रागद्वेष परिणतिको छोड़ वीतराग परिणतिको ग्रहण करता है।

जीवका ग्रहण त्याग अपने ही परिणामोमें होता है। यह जीव न तो ज्ञानावरणादि कर्मोंको ग्रहण करता है, न छोडता है और न घट पट आदिको करता है। व्यवहारमें जीवको इन कर्मोंका कर्ता भोक्ता व नाशकर्ता तो इस कारणसे कहते हैं कि इस जीवका भाव इन कर्मोंके कर्मरूप होनेमें व कर्मदशा छोड पुद्गलपिंड होनेमें निमित्त कारण है व कुम्हारका भाव हस्तपग हिलानेमे व घटके बनानेमें निमित्त कारण है। व्यवहारमे जीवको पुद्गलकी परिणतिका व पुद्गलको जीवकी अशुद्ध परिणतिका निमित्तकारण कह सके हैं परन्तु उपादानकारण कभी नही कह सके। इस लिये वास्तवमे जीव अपनी परिणतिका ही ग्रहण त्याग करता है। भेद विज्ञानी पुरुषको शुद्ध निश्चयनयके द्वारा देखना चाहिये तब सर्व ही जीव व अपना जीव सर्व पुद्गलादि द्रव्योसे पृथक् ही परम शुद्ध ज्ञानानदमय अपने शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावके कर्ता ही दीख पड़ेंगे। यही दृष्टि जैसे क्षीरनीरके मिश्रणमे क्षीरनीरको भिन्न देखती है वैसे जीव पुद्गलके मिश्रणमे जीवको जीव और पुद्गलको पुद्गल देखती है। श्री समयसारकलशमे स्वामी अमृतचन्द्राचार्य कहते है–

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो ।
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं ॥
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो ।
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥ १४–३ ॥

भावार्थ–जैसे हंस दूध पानी मिले होनेपर भी दूध और पानीके भिन्न २ भेदको जानता है ऐसे ही ज्ञानी ज्ञानके द्वारा विवेक बुद्धिसे पुद्गल और आत्माको भिन्न २ जानता है। ऐसा

ज्ञानी निश्चल चैतन्यमई स्वभावमें सदा अरूढ़ रहता हुआ जानता मात्र ही है किसी भी पुद्गलीक भावको करता नहीं है। ऐसा जान हमको अपने साम्यभावमें रहकर वीतरागभावका आनन्द भोगना चाहिए ॥ ९६ ॥

उत्थानिका-आगे शिष्यने प्रश्न किया कि जब यह आत्मा पुद्गलीक कर्मको नहीं करता है न छोड़ता है तब इसके बन्ध कैसे होता है तथा मोक्ष भी कैसे होता है ? इसके समाधानमे आचार्य उत्तर देते हैं—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥ ९७ ॥

स इदानीं कर्त्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः ॥ ९७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(इदाणिं) अब इस संसार अवस्थामें अशुद्धनयसे (स) वह आत्मा (दव्वजादस्स सगपरिणामस्स) अपने ही आत्मद्रव्यसे उत्पन्न अपने ही परिणामका (कत्ता सं) कर्ता होता हुआ (कदाई) कभी तो (कम्मधूलीहि) कर्मरूपी धूलसे (आदीयदे) बंध जाता है व कभी (विमुच्चदे) छूट जाता है।

विशेषार्थ-वह पूर्वोक्त संसारी आत्मा अब वर्तमानमें इसतरह पूर्वोक्त नय विभागसे अर्थात् अशुद्धनयसे निर्विकार नित्यानन्दमई एक लक्षणरूप परमसुखामृतकी प्रगटतामई कार्य समयसारको साधनेवाले निश्चयरत्नत्रयमई कारण समयसारसे विलक्षण मिथ्यात्व व रागादि विभावरूप अपने ही आत्मद्रव्यसे उत्पन्न अपने परिणामका कर्त्ता होता हुआ पूर्वोक्त विभाव परिणामके समयमें कर्मरूपी

धूलसे बंध जाता है । और जब कभी पूर्वोक्त कारण समयसारकी परिणतिमें परिणमन करता है तब उन्हीं कर्मकी रजोसे विशेष करके छूटता है । इससे यह कहा गया कि यह जीव अशुद्ध परिणामोंसे बंधता है तथा शुद्ध परिणामोंसे मुक्त होता है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने संसार तथा मोक्ष अवस्था जीवके किस तरह होती है इस बातको स्पष्ट किया है कि यह आत्मा जो अपने ही भावोंका उपादानकर्ता है संसारमें अनादि-कालसे कर्मोंके साथ बंधा हुआ है । उस बन्धके कारण मोहके उदयसे जब इसके आप ही मिथ्यादर्शन व रागद्वेषरूप विभाव-भाव होते हैं तब इस जीवके न चाहते हुए भी न उनको प्रेरणा करके ग्रहण करते हुए भी स्वभावसे ही वे लोकमे भरी कर्मवर्गणा-रूपी धूलें आकर जीवके प्रदेशोमे तिष्ठ जाती है ऐसा कोई निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है । जैसे तैलसे चुपड़ा हुआ शरीर जहा होता है वहां न चाहते हुए भी मिट्टी शरीरपर चिपक जाती है वैसे ही जब यह आत्मा वीतरागभावमें परिणमन करता है तब भी स्वभावसे ही वह कर्मरज आप ही विशेषपने आत्मासे छूट जाती है। जैसे जब तेल शरीरमें प्रवेश कर जाता है-ऊपर चिक्कनई नहीं रहती है तब धूला स्वय शरीरसे गिर जाता है । जगतमे कर्मब-धका और आत्माके अशुद्ध भावका ऐसा ही कोई विलक्षण संबंध है । यदि विचार करके देखोगे तो मालूम पड़ेगा कि आत्मा सिवाय अपने ही भावोके और कुछ नही करता है । अशुद्ध भावोका निमित्त पाकर वे कर्म आप ही बन्ध जाते है तथा शुद्ध भावोंका निमित्त पाकर वे कर्म आप ही छूट जाते हैं। इस निमित्त

नैमित्तिक क्रियाके कारण जीवको भी व्यवहारमें बन्धकर्ता और मोक्षकर्ता कहदेते हैं। वास्तवमें जीव अपने भावोंका ही कर्ता है। जैसे सूर्य अपने उदासीन भावसे उदय होता है तथा अस्त होता है, परन्तु उसके उदयका निमित्त पाकर कमल स्वयं फूल जाते हैं व चकवा चकवी स्वयं मिल जाते हैं व उसके अस्तका निमित्त पाकर कमल स्वयं बन्द हो जाते हैं व चकवा चकवी स्वयं बिछुड़ जाते हैं। ऐसा वस्तुका स्वभाव है। श्री अमृतचन्द्राचार्यने श्री समयसारकलशमें कहा है–

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा–
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६॥१०॥

भावार्थ–ज्ञानी जीव कर्मोंको न तो करता है न उनका फल भोक्ता है परन्तु वह उदासीन रहता हुआ केवल मात्र उन कर्मोंके स्वभावको जानता रहता है। इसलिये कर्ता व भोक्तापनेसे रहित होता हुआ व मात्र परको जानता हुआ अपने शुद्धस्वभावमे निश्चल रहता हुआ मुक्तरूप ही रहता है। तात्पर्य यह है कि बंध व मोक्षको नैमित्तिक समझकर हमें इनसे उदासीन होकर अपने शुद्ध ज्ञानानंदमई स्वभावमें ही तन्मय रहना योग्य है ॥ ९७ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जैसे द्रव्यकर्म निश्चयसे स्वयं ही उत्पन्न होते हैं वैसे वे स्वयं ही ज्ञानावरणादि विचित्ररूपसे परिणमन करते हैं–

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ ९८ ॥

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः।
त प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः ॥ ९८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(जदा) जब (रागदोसजुदो) राग द्वेष सहित (अप्पा) आत्मा (सुहम्मि असुहम्मि) शुभ या अशुभ भावमें (परिणमदि) परिणमन करता है तब (कम्मरय) कर्मरूपी रज स्वयं (णाणावरणादिभावेहिं) ज्ञानावरणादिकी पर्यायोसे (पविसदि) जीवमें प्रवेश कर जाती है।

विशेषार्थ-जब यह राग द्वेषमें परिणमता हुआ आत्मा सर्व शुभ तथा अशुभ द्रव्यमे परम उपेक्षाके लक्षणरूप शुद्धोपयोग परिणामको छोड़कर शुभ परिणाममें या अशुभ परिणाममे परिणमन कर जाता है उसी समयमें जैसे भूमिके पुद्गल मेघजलके संयोगको पाकर आप ही हरी घास आदि अवस्थामें परिणमन कर जाते हैं इसी तरह कर्मपुद्गलरूपीरज नानाभेदको धरनेवाले ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंकी पर्यायोमें स्वय परिणमन कर जाते हैं। इससे जाना जाता है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्पत्ति उन्हींके द्वारा होती है तथा उनमे मूल व उत्तर प्रकृतियोकी विचित्रता भी उन्हींकृत है, जीवकृत नहीं है ॥ ९८ ॥

भावार्थ-रागी द्वेषी आत्मा कभी शुभोपयोग कभी अशुभोपयोग भावोको करता है, तब ही उस आत्माके विना चाही हुई भी पुद्गलकर्मवर्गणाए आत्माके प्रदेशोमें प्रवेशकर आत्माके भावोंके निमित्तसे स्वय अनेक प्रकार मूल या उत्तर प्रकृतिरूप परिणमन कर जाती है। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अभिप्राय यह है कि आत्मा न उनको ग्रहण करता है और न पाप या पुण्यरूप परिणमाता है ॥ ९८ ॥

उत्थानिका—आगे पूर्वमें कही हुई ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंका जघन्य उत्कृष्ट अनुभागका स्वरूप बताते हैं—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ ९९ ॥

शुभप्रकृतीनां विशुद्धया तीव्रो अशुभानां संक्लेशे ।
विपरीतस्तु जघन्यो अनुभागो सर्वप्रकृतीनां ॥ ९९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(सुहपयडीण) शुभ प्रकृतियोंका (अणुभागो) अनुभाग (विसोही) विशुद्धभावसे (असुहाण) अशुभ प्रकृतियोंका (संकिलेसम्मि) संक्लेश भावसे (तिव्वो) तीव्र होता है, (विवरीदो दु) परन्तु इसके विपरीत होनेपर (सव्वपयडीणं) सर्व प्रकृतियोंका (जहण्णो) जघन्य होता है।

विशेषार्थ—फल देनेकी शक्ति विशेषको अनुभाग कहते हैं। तीव्र धर्मानुरागरूप विशुद्धभावसे सातावेदनीय आदि शुभ कर्म प्रकृतियोंका अनुभाग परम अमृतके समान उत्कृष्ट पड़ता है तथा मिथ्यात्त्व आदिरूप संक्लेश भावसे असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग हालाहल विषके समान तीव्र पड़ता है। तथा जघन्य विशुद्धिसे व मध्यम विशुद्धिसे शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग जघन्य या मध्यम पड़ता है अर्थात् गुड, खांड़, शर्करारूप पड़ता है। वैसे ही जघन्य या मध्यम संक्लेशसे अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग नीम, कांजीर विषरूप जघन्य या मध्यम पड़ता है। इस तरह मूल उत्तर प्रकृतियोंसे रहित निज परमानंदमई एक स्वभावरूप तथा सर्व प्रकार उपादेय भूत परमात्मद्रव्यसे भिन्न और त्यागने

योग्य सर्व मूल और उत्तर प्रकृतियोंके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अनु-, भागको अर्थात् कर्मकी शक्तिके विशेषको जानना चाहिये।

भावार्थ-घातिया कर्म सर्व पाप प्रकृतियें है इनका अनुभाग चार तरहका है लतारूप कोमल, काष्ठरूप कुछ कठोर, अस्थिरूप कठोर तथा पाषाणरूप महाकठोर। इनका बध शुभ या अशुभ दोनों प्रकारके भावोमेंसे होता है। जब शुभोपयोगरूप विशुद्ध भाव होते हैं तब इनका अनुभाग कोमल पडता है और जब अशुभोपयोगरूप सक्लेशभाव होते हे तब इनका यथायोग्य कठोर पडता है। साता वेदनीय, शुभ नाम, शुभ आयु या उच्च गोत्र पुण्य प्रकृतिये है। इनका अनुभाग जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट गुड, खाट, शर्करा तथा अमृतके समान जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट जातिके धर्मानुरागरूप विशुद्ध परिणामोके अनुसार पडेगा। असाता वेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु तथा नीच गोत्र पाप प्रकृतियें है। इनका अनुभाग जघन्य, मध्यम, उकृठ नीम, काजीर, विष, हालाहलके समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ठ हिंसादिरूप सक्लेश परिणामोके अनुमार पडता है। इस तरह कम या अधिक फलदान शक्ति भी कर्मवर्गणाओमे स्वय जीवके भावोंका निमित्त पाकर परिणमन कर जाती है। ज्ञानी पुरुषको उचित है कि इन कर्मोको व इनके तीव्र या मद सुख, दु खरूप फलको अपने शुद्धोपयोग भावसे भिन्न अनुभव करे और साम्यभावमे तिष्ठे जिससे नवीन कर्मोका वध न हो ॥ ९९ ॥

उत्थानिका-आगे कहते है कि अभेदनयसे बंधके कारण-भूत रागादिभावोमे परिणमन करनेवाला आत्मा ही बंधके नामसे कहा जाता है।

सपदेसो सो अप्पा कसायदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो वंधोत्ति परूविदो समये ॥ १०० ॥

सप्रदेशः स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः ।
कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपितः समये ॥ १०० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(सपदेसो सो अप्पा) प्रदेशवान वह आत्मा (मोह रागदोसेहिं कसायदो) मोह राग द्वेषोंसे कषायला होता हुआ (कम्मरजेहिं) कर्मरूपी धूलसे (सिलिट्ठो) लिपटा हुआ (वंधोत्ति) बंधरूप है ऐसा (समये परूविदो) आगममें कहा है ।

विशेषार्थ--लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंको अखंड रूपसे रखनेवाला यह आत्मा मोह रहित अपने शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाको रोकनेवाले मोह राग द्वेष भावोंसे रंगा हुआ कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलरूपी धूलसे बंधा हुआ अभेदनयसे आगममें बंधरूप कहा गया है । यहां यह अभिप्राय है कि जैसे वस्त्र लोध, फिटकरी आदि द्रव्योंसे कषायला होकर मंजीठ आदि रंगसे रंगजाता हुआ अभेदनयसे लाल वस्त्र कहलाता है वैसे वस्त्रके स्थानमें यह आत्मा लोधादि द्रव्यके स्थानमें मोह रागद्वेषोंसे परिणमन करके मंजीठके स्थानमें कर्मपुद्गलोंसे बंधा हुआ वास्तवमें कर्मसे भिन्न है तो भी अभेदोपचार लक्षण असद्भूत व्यवहारनयसे बंधरूप कहा जाता है, क्योंकि असद्भूत व्यवहारनयका विषय अशुद्ध द्रव्यके वर्णन करनेका है ।

भावार्थ--इस गाथामें आचार्यने इस बातको स्पष्ट किया है कि वास्तवमें बंध तो पुद्गलकर्मका पु लकर्मके साथ होता है परन्तु आत्माके सर्वप्रदेश पुद्गल कर्मोंसे छाजाते हैं इसलिए व्यवहारनयसे

आत्माको बंधरूप कहते हैं। जैसे वस्त्रको लाल कहना व्यवहार है वैसे आत्माको बंधा हुआ कहना व्यवहार है। जैसे वस्त्रमें लोध फिटकरीके द्वारा कषायित होनेपर मंजीठका रग चढ़ता है वैसे आत्मामें उसके रागद्वेष मोह भावोंके निमित्तसे कर्मपुद्गलोंका प्रवेश होकर बंध होता है। प्रयोजन यह है कि यह बध ही संसारभ्रमणका कारण है ऐसा जानकर इस बधके कारण रागद्वेष मोह भावोंका निवारण करना चाहिये जिससे यह जीव अबंध और मुक्त होजावे। श्री समयसारकलशमें स्वामी अमृतचंद्रजी कहते हैं—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः,
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥ २७ ॥ १० ॥

भावार्थ—जो ये रागद्वेषकी उत्पत्ति आत्मामें होती है इसमें दूसरोंका कोई दोष नहीं है। यह आत्मा स्वय ही अपराधी होता है तब इसके अज्ञान वर्तन करता है। यह बात विदित हो कि अज्ञानका नाश हो और सम्यग्ज्ञानका लाभ हो। अर्थात् यह आत्मा निज स्वरूपके श्रद्धान ज्ञानचारित्रको न पाकर रागद्वेष मोहमें वर्तता है, यही इसका अपराध है अतएव इस आत्माको उचित है कि श्री गुरुके सम्यक उपदेशको हृदयमें धारणकरके सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे वीतराग विज्ञानभावमें रमण करे ॥ १०० ॥

उत्थानिकाः—आगे निश्चय और व्यवहारका अविरोध दिखाते हैं—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छएण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ १०१ ॥

एष बंधसमासो जीवाना निश्चयेन निर्दिष्टः ।
अर्हद्भिर्यतीनां व्यवहारोऽन्यथा भणितः ॥ १०१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(अरहंतेहि) अरहंतोके द्वारा (जदीणं) यतियोंको (जीवाणं) जीवोका (एसो बंधसमासो) यह रागादि परिणतिरूप बंधका संक्षेप (णिच्छएण णिद्दिट्ठो) निश्चयनयसे कहा गया है । (ववहारो) व्यवहारनयसे (अण्णहा) इससे अन्य-जीव पुद्गलका बंध (भणिदो) कहा गया है ।

विशेषार्थ—निर्दोष परमात्मा अरहंत हैं, उन्होंने जितेन्द्रिय तथा आत्मस्वरूपमे यत्नकरनेवाले गणधरदेव आदि यतियोको निश्चयनयसे जीवोके रागादि परिणामको ही संक्षेपमे बंध कहा है। तथा निश्चयनयकी अपेक्षा व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मके बंधको बंध कहा है । निश्चयनयका यही मत है कि यह आत्मा रागादिभावोका ही कर्ता और उनहीका भोक्ता है । द्रव्यकर्म बन्धको कहनेवाले असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा निश्चयनयके भी दो भेद है । जो शुद्ध द्रव्यका निरूपण करे वह शुद्ध निश्चयनय है तथा जो अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करे वह अशुद्ध निश्चयनय है। आत्मा द्रव्य कर्मोंको करता है तथा भोगता है यह अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है । इस तरह दोनो नयोसे बंधका स्वरूप है। यहां निश्चयनय उपादेय है और असद्भूत व्यवहार हेय है। यहां शिष्य प्रश्न करता है कि आपने निश्चयनयसे कहा है कि यह आत्मा रागादि भावोंको कर्ता व भोक्ता है सो यह किसतरह उपादेय होसक्ता है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—कि जब यह जीव इस बातको जानेगा कि रागादि भावोंको ही

आत्मा करता है द्रव्यकर्मोको नहीं करता है तथा ये रागादि भाव ही बंधके कारण हैं, तब यह रागादि विकल्पजालको त्यागकर रागादिके विनाशके लिये अपने शुद्ध आत्माकी भावना करेगा। इस भावनासे ही रागादि भावोंका नाश होगा। रागादिके विनाश होनेपर आत्मा शुद्ध होगा। इसलिये परम्परायसे शुद्धात्माका साधक होनेसे इस अशुद्ध नयको भी उपचारसे शुद्ध नय कहते है यह वास्तवमे निश्चयनय नही कही गई है तैसे ही उपचारसे इस अशुद्ध नयको उपादेय कहा है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामे निश्चय और व्यवहार बंधको अपेक्षाके भेदसे वर्णन करके दोनोंके कथनका अविरोध दिखलाया है। निश्चय नय स्वाश्रित है-एक ही पदार्थको दूसरेके आश्रयसे बयान करती है। जब कि व्यवहारनय पराश्रित है-एक पदार्थको दूसरेके आश्रयसे बयान करती है। अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिभावसे रंजित आत्मा ही बंध स्वरूप है क्योंकि यही रागादिभाव जीवके अपने ही औपाधिक भाव हैं और ये ही कर्मोंके बांधनेमें कारण है। कर्मवर्गणाओंका और आत्माके प्रदेशोंका परस्पर बन्ध होना व्यवहारनयसे बंध है। रागादिरूप होनेसे मेरी ही वीतरागता नष्ट होती है ऐसा समझकर भेदविज्ञानी जीवको उचित है कि वह इनरूप परिणमन न करके शुद्ध ज्ञानस्वभावमे परिणमन करे जिससे आत्मा कर्मबंधसे छूटकर मुक्त हो जावे।

श्री अमृतचंद्र स्वामी समयसारकलशमे कहते है-

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं,
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।

तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो,
रागद्वेषमयी भवन्ति सहजा मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥ २९ ॥ १० ॥

भावार्थ–यह आत्मा अपने स्वभावमें पूर्ण एक अविनाशी शुद्ध ज्ञानकी महिमाको रखनेवाला है । इसलिये यह ज्ञाता ज्ञेय पदार्थोंके निमित्तसे उसीतरह किसी प्रकार भी विकारको प्राप्त नहीं होता जिस तरह दीपकका प्रकाश प्रकाशने योग्य पदार्थोंके निमित्तसे विकारी नहीं होता । खेद है कि अज्ञानी लोग ऐसी वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानसे रहित निर्बुद्धि होकर क्यो रागद्वेषमयी होते है और अपनी स्वाभाविक उदासीनताको छोड़ बैठते हैं । प्रयोजन यह है कि स्वाभाविक समतामे तिष्ठना ही हितकारी है ॥ १०१ ॥

इसतरह आत्मा अपने परिणामोंका ही कर्ता है । द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं है । इस कथनकी मुख्यतासे सात गाथाओंमें छठा स्थल पूर्ण हुआ । इस तरह " अरसमरुव " इत्यादि तीन गाथाओंसे पूर्वमें शुद्धात्माका व्याख्यान करके शिष्यके इस प्रश्नके होनेपर कि 'अमूर्त आत्माका मूर्तीक कर्मके साथ किस तरह बंध होसक्ता है' इसके समाधानको करते हुए नय विभागसे बंध समर्थनकी मुख्यतासे उन्नीश गाथाओंके द्वारा छः स्थलोमे तीसरा विशेष अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ।

इसके आगे बारहगाथातक चार स्थलोंसे शुद्धात्मानुभूति लक्षण विशेष भेदभावनारूप चूलिकाका व्याख्यान करते है । तहां शुद्धात्माकी भावनाकी प्रधानता करके "ण जहदि जो दु ममत्ति " इत्यादि पाठक्रमसे पहले स्थलमें गाथाएं चार हैं । फिर शुद्धा-

त्माकी प्राप्तिकी भावनाके फलसे दर्शनमोहकी गांठ नष्ट होजाती है तैसे ही चारित्रमोहकी गाठ नष्ट होती है व क्रमसे दोनोंका नाश होता है ऐसे कथनकी मुख्यतासे 'जो एव जाणित्ता' इत्यादि दूसरे स्थलमे गाथाए तीन है। फिर केवलीके ध्यानका उपचार है ऐसा कहते हुए "णिहदघणघाइकम्मा" इत्यादि तीसरे स्थलमें गाथाएं दो है। फिर दर्शनाधिकारके संकोचकी प्रधानतासे "एव जिणा जिणिंदा" इत्यादि चौथे स्थलमें गाथाएं दो है। पश्चात् "दसण-संसुद्धाण" इत्यादि नमस्कार गाथा है। इसतरह बारह गाथाओंसे चार स्थलोमे विशेष अन्तराधिकारमे समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका—आगे अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माका लाभ ही होता है ऐसा उपदेश करते है—

ण जहदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदत्ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होइ उम्मग्गं॥ १०२॥

न जहाति यस्तु ममतामहं ममेदमिति देहद्रविणेषु।
स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम्॥ १०२॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ -(जो दु) जो कोई (देहदवि-णेसु) शरीर तथा धनादिमे (अह ममेदत्ति) मै उन रूप हूं व वे मेरे हैं ऐसे (ममत्ति) ममत्वको (ण जहदि) नहीं छोड़ता है। (सो) वह (सामण्ण) मुनिपना (चत्ता) छोडकर (उम्मगं पडिवण्णो होइ) उन्मार्गको प्राप्त होजाता है।

विशेषार्थ—जो कोई ममकार अहकार आदि सर्व विभावोसे रहित सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वरूप निज आत्मपदार्थका निश्चल अनुभवरूप निश्चयनयके विषयसे रहित

होताहुआ व्यवहारमें मोहितचित्त होकर शरीर तथा परद्रव्योंमें मैं शरीररूप हूं तथा यह धन आदि परद्रव्य मेरा है ऐसे ममत्व-भावको नहीं छोड़ता है वह पुरुष जीवन मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा आदिमें परम समताभावरूप यति-पनेके चारित्रको दूरसे ही छोडकर उस चारित्रसे उलटे मिथ्यामार्गमें लग जाता है। मिथ्याचारित्रसे संसारमें भ्रमण करता है। इससे सिद्ध हुआ कि अशुद्धनयसे अशुद्धात्माका लाभ होता है।

भावार्थ—अशुद्ध नय अशुद्ध पदार्थको ग्रहण करने वाली है। जो कोई पुरुष शुद्ध निश्चयनयको न पाकर अशुद्धनयसे वर्तन करता है अर्थात् शरीरमें अहंबुद्धि करके यह मानता है मैं पुरुष हू, स्त्री हू, नपुसक हू, गोरा हूं, काला हू, ब्राह्मण हू, क्षत्री हूं, वैश्य हू, शूद्र हूं, राजा हूं, सेठ हू, दीन हूं, दलिद्री हूं इत्यादि तथा ममकार भावसे ऐसी मान्यता करता है कि यह मेरा धन है, गृह है, स्त्री है, पुत्र है, देश है, सेना है, इत्यादि। वह राग, द्वेष, मोहसे लिप्त हो-कर यदि मुनिपदमें भी है तौभी भाव मुनिपदसे भृष्ट होकर मिथ्यादृष्टी होता हुआ पाप बांध संसारमें ही भ्रमण करता है। जो जैसा भावे तैसा फल पावे यह नियम है। मैं अशुद्ध हूं या अशुद्ध भावमें ही वर्तन करता हूं ऐसा श्रद्धान ज्ञानचारित्र रखता हुआ निरन्तर अशुद्ध ही होता हुआ अपने आत्माको अशुद्ध ही ध्याता रहेगा—उसका कभी भी शुद्धात्माका लाभ नहीं होगा। श्री तत्वसारमें श्री देवसेनाचार्य कहते हैं—

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवं पि कुणतो शुद्धे भावे लहुं लहइ ॥ ३३ ॥

भावार्थ–जबतक चित्त शरीरादि परद्रव्यमें बावला हो रहा है तबतक भारी तपको भी करता हुआ भव्यजीव मोक्ष नहीं पा सक्ता, परन्तु शुद्धभावोंमें वर्तनकरनेसे शीघ्र ही मोक्षको पासक्ता है।

इसलिये ममकार अहंकार आदि भावोंको त्यागकर शुद्ध वीतराग साम्यभावमें वर्तना कार्यकारी है ॥ १०२ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि शुद्धनयसे शुद्धात्माका लाभ होता है:—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ १०३ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः ।
इति यो ध्यायति ध्यानेन स आत्मानं भवति ध्याता ॥ १०३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(अहं परेसिं न होमि) मैं दूसरोंका नहीं हूं (परे मे ण सन्ति) दूसरे पदार्थ मेरे नहीं है (अहं एक्को णाण) मैं अकेला ज्ञानमई हूं (इदि) ऐसा (जो झाणे झायदि) जो ध्यानमें ध्याता है (सो अप्पाण झादा हवदि) वह आत्माको ध्यानेवाला होता है।

विशेषार्थः–सर्व ही चेतन अचेतन परद्रव्योमे अपने स्वामीपनेके सम्बन्धको मन वचनकाय व कृत कारित अनुमोदनासे अपने स्वात्मानुभव लक्षण निश्चयनयके बलकेद्वारा पहले ही दूरकरके मै सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानमई हूं तथा सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित एक हूं इस तरह जो कोई निज शुद्ध आत्माके ध्यानमें तिष्ठकर चिन्तवन करता है वह चिदानंदमई एक स्वभावरूप परमात्माका ध्यानेवाला होता है। इस तरहके परमात्मध्यानसे वह

ज्ञानी वैसे ही परमात्माको पाता है, क्योंकि यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है वैसा कार्य होता है। इस लिये यह बात जानी जाती है कि शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध आत्माका लाभ होता है ।

भावार्थ—यहां आचार्य शुद्ध आत्माके लाभका उपाय शुद्ध नयके विषयका अवलम्बन बताते हैं क्योंकि शुद्ध निश्चयनय आत्माको एक अकेला परमशुद्ध, सर्व प्रकार रागादिभावोंसे रहित, आठ कर्मोंसे शून्य, शरीरादिसे बाहर शुद्ध ज्ञान दर्शनमई देखनेवाली है। जो भव्य जीव इस शुद्धनयके द्वारा सर्व शरीरादि परद्रव्योंमें अहंकार ममकार छोडकर मै ज्ञानानन्दमई सिद्ध सम शुद्ध निर्विकार हूं ऐसी भावना करते हुए ध्यानमें तिष्ठकर शुद्धात्माको ध्याते हैं वे ही शुद्ध आत्माके ध्याता होते हुए कर्मोंके सम्बन्धको वीतराग परिणतिसे हटाते हुए आत्माके सच्चे स्वरूपको पाकर परमात्मा हो जाते है। श्री देवसेनाचार्यने श्री तत्वसारमें कहा है:—

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥

णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइ गुणसमिद्धो जो ।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥ २७ ॥

सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धोऽहं ।
देहपमाणो णिच्चो असखदेसो अमुत्तो य ॥ २८ ॥

थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे ।
पयडइ बंभसरूवं अप्पाझाणेण जोईणं ॥ २९ ॥

भावार्थ—जैसे कर्ममल रहित, ज्ञानमई, सिद्ध आत्मा सिद्धा-

वस्थामें रहता है वैसा ही आत्मा इस देहमें विराजित परमब्रह्म स्वरूप है ऐसा अनुभव करना चाहिये । जो कोई नोकर्मसे रहित, केवलज्ञानादि गुणोसे पूर्ण है सो ही मैं शुद्ध सिद्ध, अविनाशी, एक तथा परालम्ब रहित हू । मै सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनंतज्ञानादि गुणोसे भरा हुआ हूं, शरीर प्रमाण हूं, नित्य हूं, लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशी हू तथा अमूर्तीक हूं । इस तरह विचारते हुए मनके विकल्प रुक जायगे, इद्रियोंके विषय व्यापार वद होजावेंगे और योगीके भीतर इस आत्मध्यानसे परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मा प्रगट होजावेगा । ऐसा जानकर निज शुद्धात्माका ही मनन करना चाहिये इसीसे शुद्धात्मलाभ होगा ॥ १०३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शुद्ध आत्मा ध्रुव है इसलिये मै शुद्ध आत्माकी ही भावना करता हू ऐसा ज्ञानी विचारता है ।

एवं णाणप्पाणं दसणभूदं अदिदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंवं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥ १०४ ॥

एव ज्ञानात्मान दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम् ।
ध्रुवमचलमनालम्ब म येऽहमात्मक शुद्धम् ॥ १०४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ--(एवं) इस तरह (णाणप्पाणं) ज्ञान स्वरूप (दसणभूद) दर्शनस्वरूप (अदिदियम्) इन्द्रियोंके अगोचर अतीन्द्रियस्वरूप (धुवम्) अविनाशी (अचलम्) अपने स्वरूपमे निश्चल (अणालव) परालम्ब रहित (सुद्धं) शुद्ध (महत्थं) महान पदार्थ ऐसे (अप्पगं) अपने आत्माको (अह मण्णे) मै अनुभव करता हू ।

विशेषार्थ—ध्याता विचारता है कि मै अपने आत्माको सर्व तरह उपादेय समझकर इस तरह अनुभव करता हूं कि वह सहज परमानंदमई एक लक्षणको रखनेवाला आत्मा रागादि सर्व विभावोंसे रहित शुद्ध है, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावरूप रहनेसे अविनाशी है, अखंड एक ज्ञान दर्शन स्वरूप है, मूर्तीक, विनाशीक, अनेक इंद्रियोंसे रहित होनेके कारण अमूर्त, अविनाशी एक अतींद्रिय स्वभाव है। मोक्षरूप महापुरुषार्थका साधक होनेसे महान पदार्थ है, अति चंचल मन वचनकायके व्यापारोंसे रहित होनेसे अपने स्वरूपमें निश्चल है तथा स्वाधीनपने स्वद्रव्यपनेसे स्वालम्बनरूप भरा हुआ होनेपर भी सर्व पराधीन परद्रव्यके आलम्बनसे रहित होनेके कारण निरालम्ब है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने ध्यान करनेवालेके लिये यह शिक्षा दी है कि वह अपने आत्माको इन विशेषणोंके साथ विचार करे कि वह आत्मा सर्व द्रव्य कर्म, नोकर्म, भाव कर्मसे रहित शुद्ध है, स्वाधीन है, अपने शुद्ध स्वभावमें स्थिर है, आदि अन्त रहित नित्य है, इंद्रिय अगोचर है, शुद्ध ज्ञाता दृष्टा स्वभावमई है तथा जगतके सर्व पदार्थोंमे उत्तम है अथवा मोक्षका साधक होनेसे यही महान पदार्थ है। इस तरह शुद्ध सिद्ध सम वारवार ध्यान करनेसे उपयोग शुद्ध भावमें जमता जाता है—अशुद्धतासे हटता जाता है। इसी उपायसे वीतरागता बढ़ती जाती है व रागद्वेषमई परिणति मिटती जाती है, जिससे नवीन कर्मोंका सवर होता है व प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा होती है। यही आत्मध्यान साक्षात् मोक्षका उपाय है। श्री तत्वसारमें कहा है—

ससहाव वेदंतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दसणणाण चरित्त च ॥ ५६ ॥
जो अप्पा त णाणं जं णाण त च दसण चरणं ।
सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे ॥ ५७ ॥

भावार्थ–जो अपने स्वभावको अनुभव करता हुआ परभावोंसे मुक्त होकर निश्चलचित्त होजाता है वही जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप जानना चाहिये। जो जीव शुद्ध निश्चयनयका आश्रय करता है इसके अनुभवमें जो आत्मा है वही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही दर्शन है, वही चारित्र है, वही शुद्ध ज्ञान चेतना है ऐसा एकीभाव होजाता है। यही स्वानुभव भावमोक्षका साधक है। ऐसा जानकर निरतर इस प्रकार आत्मध्यानका पुरुषार्थ करना आवश्यक है यही सार है।

उत्थानिका.–आगे कहते है कि ये शरीरादि आत्मासे भिन्न विनाशीक है इस लिये इनकी चिन्ता न करनी चाहिये।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाऽध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ १०५ ॥

देहा वा द्रविणानि वा सुखदु खे वाथ शत्रुमित्रजनाः ।
जीवस्य न सति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥ १०५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ:-(जीवस्स) जीवके (देहा) शरीर (वा दविणा) या द्रव्य (वा सुहदुक्खा) या सासारिक सुखदु ख (वाऽध सत्तुमित्तजणा) तथा शत्रु मित्र आदि मनुष्य (धुवा ण संति) अविनाशी नहीं हैं। (उवओगप्पगो अप्पा) केवल उपयोगमई आत्मा (धुवो) ध्रुव है।

विशेषार्थ-सर्व प्रकारसे पवित्र शरीररहित परमात्मासे विलक्षण औदारिक आदि पांच प्रकारके शरीर तथा पंचेंद्रियोंके भोग उपभोगके साधक धन आदिक परद्रव्य इस जीवके लिये ध्रुव नहीं हैं किन्तु ये अनित्य हैं, छूट जानेवाले हैं। केवल शरीरादि ही अनित्य नहीं हैं किन्तु विकाररहित परमानन्दमई एक लक्षणधारी अपने ही आत्मासे उत्पन्न सुखामृतसे विलक्षण सांसारिक सुख तथा दुःख तथा शत्रु मित्र आदि भावसे रहित आत्मासे भिन्न शत्रु मित्र आदि जनसमुदाय ये सब भी अनित्य हैं। जब ये सब अध्रुव है तब ध्रुव क्या है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि तीन लोकके उदरमें वर्तमान भूत भविष्य वर्तमान तीन कालके सर्व द्रव्य गुण पर्यायोको एक साथ जाननेमें समर्थ केवलज्ञान तथा केवलदर्शनमई अपना आत्मा ही शाश्वत अविनाशी है। ऐसा अपनेसे भिन्न सर्व सम्बन्धको अध्रुव जान करके ध्रुव स्वभावधारी अपने ही आत्मामे निरन्तर भावना करनी योग्य है यह तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामे आचार्यने मोहकी गांठ काटनेके लिये यह समझाया है कि जिन२ वस्तुओंको हे आत्मन्! तू अपनी मानकर उनसे प्रीति करता है व उनकेलिये शोक करता है वे सब पदार्थ तेरे साथ सदा रहनेवाले नही है। उन सबकी अवस्था बदलती रहती है-उनका सम्बन्ध तेरे साथ धूप छायाके समान होता है और मिटता है। ये शरीर पुद्गलके परमाणुओंसे बनते हैं व उनके बिछुड़नेपर बिगड जाते है-ये सब स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। इसी तरह रुपया, पैसा, मकान, जमीन, वस्त्र, वासन आदि पांचों इंद्रियोंके साधक पदार्थ भी एक दशामें रहनेवाले नही हैं या तो ये

स्वयं नष्ट हो जांयगे वा हम शरीर छोड़ते हुए इनको छोड जांयगे। कर्मोंके उदयसे जो दुःख या सुख होते हैं ये भी एकसे नही रहते-होते हैं व छुटते हैं। जिनको हम अपना शत्रु समझकर द्वेष करते हैं व जिनको अपना मित्र समझकर प्रेम करते हैं वे शत्रु व मित्र भी हमसे छूटनेवाले हैं। हमारा अपना यदि कोई सदा साथ देने-वाला है तो एक अपना ही ज्ञानदर्शनोपयोगधारी आत्मा ही है। इसलिये निज आत्माके सिवाय सर्व सम्बन्धको क्षणिक मानकर हमें परम ध्रुव स्वभावधारी निज आत्माहीका मनन करना चाहिये। स्वामी अमितिगतिने बडे सामायिकपाठमे कहा है—

> कान्तासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाऽप्यात्मनो,
> भिन्ना. कर्मभवा. समीरणचला भावा बहिर्भाविनः।
> तैः सम्पत्तिमिहात्मनो गतधियो जानन्ति ये शर्म्मदा,
> स्व सङ्कल्पवसेन ते विदधते नाकीशलक्ष्मी स्फुट॥ ८५॥

भावार्थ-जो कोई निर्बुद्धि स्त्री, मकान, पुत्र, धन आदि बाहरी पदार्थोंके सम्बध होनेपर जो पदार्थ सर्वथा अपनी आत्मासे भिन्न हैं, पवनके समान अथिर है तथा कर्मोंके उदयसे होनेवाले हैं, अपने आत्माकी सुखदाई सम्पत्ति जानते हैं वे मानो प्रगटपने अपने सङ्कल्पसे स्वर्गकी लक्ष्मीको धारण कररहे है। मतलब यह है कि जैसे मनमे यह सङ्कल्प करना कि मैं स्वर्गकी सम्पदाका धनी हू, वृथा है, झूठा है। तैसे ही अपनेसे भिन्न स्त्री पुत्र धनादि साम-ग्रीके चचल कर्मजनितसम्बन्धको अपना मानना झूठा है, मूर्खता है। इससे सर्व प्रकारसे उपादेय निज शुद्ध स्वरूपमे ही प्रेम रखना चाहिये और उसके सिवाय सर्व भावोसे वैराग्य भजना चाहिये॥ १०९॥

इस तरह अशुद्ध नयके आलम्बनसे अशुद्ध आत्माका लाभ होता है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, शुद्ध नयसे शुद्ध आत्माका लाभ होता है ऐसा कहते हुए दूसरी, ध्रुव होनेसे आत्मा ही भावने योग्य है ऐसा कहते हुए तीसरी तथा आत्मासे अन्य सब अध्रुव हैं उनकी भावना न करनी चाहिये ऐसा कहते हुए चौथी, इस तरह शुद्धात्माके व्याख्यानकी मुख्यता करके पहले स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं ।

उत्थानिका–आगे इस तरह शुद्धात्माका लाभ होनेपर क्या फल होता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं:–

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।
सागाराणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ १०६ ॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा ।
साकारानाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥ १०६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(जो सागाराणागारो) जो कोई श्रावक या मुनि (एवं जाणित्ता) ऐसा जानकर (परं अप्पगं) परम आत्माको (विसुद्धप्पा) विशुद्धभाव रखता हुआ (झादि) ध्याता है (सो) वह (मोहदुग्गठिं) मोहकी गांठको (खवेदि) नाश करदेता है ।

विशेषार्थ–जो कोई गृहस्थ या मुनि अथवा साकारसे ज्ञानोपयोगरूप, अनाकारसे दर्शनोपयोगरूप होकर अथवा साकारसे चिन्ह सहित मुनि या अनाकारसे चिन्ह रहित गृहस्थ होकर इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण अपने आत्माका लाभरूप स्वसंवेदन ज्ञानसे जानकरके परम अनन्तज्ञानादि गुणोके आधाररूप होनेसे उत्कृष्ट

रूप अपने ही आत्माको अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभादि सर्व मनोरथ जालसे रहित विशुद्ध आत्मा होता हुआ ध्याता है सो ऐसा गुणी जीव शुद्धात्माकी रुचिको रोकनेवाली दर्शनमोहकी खोटी गांठको क्षय कर डालता है। इससे सिद्ध हुआ कि जिनको निज आत्माका लाभ होता है उन्हीकी मोहकी गाठ नाश होजाती है। यही फल है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने दर्शनमोहकी गांठके क्षयका उपाय यह बताया है कि जो कोई शुद्ध निश्चयनयसे अपने ही शुद्ध आत्माको निश्चयकरके कि वह सर्व रागादि परद्रव्योंसे न्यारा है, परद्रव्योंसे रागद्वेष मोह छोड़ उसी निज आत्माका चिन्तवन करता है उसके विशुद्ध परिणामोके प्रतापसे दर्शनमोहकी वर्गणाका आत्मासे वियोग होजाता है और क्षायिक सम्यक्त पैदा होजाता है। मुनि हो या गृहस्थ हो शुद्ध आत्माके अनुभवसे दर्शनमोहका नाश कर सक्ता है। जिसने इस मोहकी गांठको नष्ट कर डाला उसको निज स्वाधीन पदका लाभ अतिशय निकट रह जाता है। आत्मध्यान करनेका फल सम्यग्दष्टि ज्ञानी होना है।

श्री अमृताशीतिमे श्री योगेन्द्रदेव कहते है-—

वहिरवहिरुदारज्योतिरुद्भासदीपः,
स्फुरति यदि तवाय नाभिपद्मे स्थिताय ।
अपसरति तदानीं मोहघोरान्धकार-
श्चरणकरणदक्षो मोक्षलक्ष्मीदिदक्षो ॥ ५४ ॥

भावार्थ- यदि तू चारित्रमे चतुर है व मोक्षलक्ष्मीके देखनेकी इच्छा रखता है और तेरे नाभिपद्मे ठहरे हुएके भीतर

अन्तरंग वहिरंग परमगम्भीर प्रकाशमान आत्मज्योति जाज्वल्यमान हो जावे तो उसी समय मोहका घोर अन्धकार तेरे आत्मासे निकल जायगा ।

वास्तवमे शुद्ध आत्माकी ओर लक्ष्य देनेसे ही मोहकी गांठ सूखकर गिर जाती है इस लिये निरन्तर शुद्ध आत्माका ही विचार करना योग्य है ॥ १०६ ॥

उत्थानिका-आगे दर्शनमोहकी गांठके टूटनेसे क्या होता है ? इस प्रश्नका समाधान करते हैं-

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१०७॥

यो निहतमोहग्रन्थी रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये ।
भवेत् समसुखदुःखः स सौख्यमक्षयं लभते ॥ १०७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जो) जो कोई (णिहदमोहगंठी) मोहकी गांठको क्षय करके (सामण्णे) मुनि अवस्थामें रहकर (रागपदोसे) रागद्वेषोंको (खवीय) नाश करके (समसुहदुक्खो होज्जं) सुख दुःखमें समताभाव रखनेवाला हो जाता है (सो) वह ज्ञानी जीव (अक्खयं सोक्खं) अविनाशी आनन्दको (लहदि) प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ-जो कोई पूर्व सूत्रमें कहे प्रकारसे दर्शनमोहकी गांठको क्षय करके निश्चयसे अपने स्वभावमें ठहरकर अपने शुद्ध आत्माके निश्चल अनुभव स्वरूप वीतराग चारित्रको रोकनेवाले चारित्रमोहरूप रागद्वेषोंको नाशकरके अपने शुद्ध आत्माके स्वानुभवसे उत्पन्न रागादि विकल्पोंसे रहित हो, परमसुख उसके अनुभवसे दूर होकर सांसारिक सुख व दुःखसे उत्पन्न हर्ष विषादसे रहित होनेके कारणसे सुख

दुःखोंमें समताभाव रखता है वह ऐसा गुणवान भेदज्ञानी जीव अक्षय सुखको लाभ करता है। इससे जाना जाता है कि दर्शन मोहके नाशसे फिर चारित्र मोहरूप रागद्वेषोंको विनाश करके सुख दुःखमें माध्यस्थ लक्षणधारी मुनिपदमे जो ठहरना है उसीसे ही अक्षयसुखका लाभ होता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने अरहत परमात्मा होनेका क्रम बताया है कि जब दर्शनमोहका नाश होजावे तब रागद्वेषरूप चारित्र मोहको नाश करनेके लिये सर्व परिग्रह त्याग नग्न दिगम्बर मुनि-पदमें स्थिर होकर सुख दुःखोंमें समताभाव रखते हुए, आत्मानद-रसमें भीगे हुए भावमुनिपनेके प्रतापसे चारित्र मोहनीयका नाश करके फिर अन्य तीन घातिया कर्मोंका भी क्षय करके अविनाशी अनत सुखको ज्ञानी आत्मा प्राप्त करलेता है। जैसे वीतरागमई आत्मानुभवसे दर्शनमोहकी गांठ कटती है वैसेही वीतरागमई आत्मानुभवसे चारित्रमोहके फंदे कट जाते है। इसलिये वीतरागमई साम्यभावरूप आत्मानुभवमें सदा ठहरनेका पुरुषार्थ करना चाहिये।

श्री समयसारकलशमें कहा है—

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां,
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं,
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जो पहले रागादिभावोंसे बांधे हुए कर्मरूपी विष वृक्षोंके सुखदुःख फलोंको स्वयं निज आत्मरससे तृप्त होता हुआ नहीं भोगता है अर्थात् उन सांसारिक सुखदुःखोंमे समताभाव

रखता है वही महात्मा ऐसी अवस्थाको प्राप्त करलेता है जो अतीन्द्रिय आनन्दमई होती है जिससे वर्तमानमें सुखी होता है और भविष्यमें भी सुख पाता रहेगा। तात्पर्य यही है कि सुखका उपाय निज स्वरूपमें एकाग्रता प्राप्त करना है ॥ १०७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि निज शुद्धात्मामे एकाग्रता रूप ध्यान ही आत्माकी अत्यन्त विशुद्धि कर देता है।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ॥ १०८ ॥

यः क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य ।
समवस्थितः स्वभावे स आत्मान भवति ध्याता ॥ १०८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(जो) जो कोई (खविदमोहकलुसो) मोहकी कालिमाको क्षय करके (विसयविरत्तो) इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता हुआ (मणो णिरुंभित्ता) मनको सब तरहसे रोककर (सहावे समवट्ठिदो) अपने आतमस्वभावमें भले प्रकार स्थिर होजाता है (सो) वही महात्मा (अप्पाणं धादा हवदि) आत्माको ध्यानेवाला होता है।

विशेषार्थ—जो कोई पूर्व दो सूत्रोंमें कहे प्रमाण दर्शनमोह और चारित्रमोहको क्षय करता हुआ, मोह और रागद्वेषकी कलुषतासे रहित निजात्मानुभवसे उत्पन्न सुखामृतरसके स्वादके बलसे कलुषता और मोहके उदयसे उत्पन्न विषयसुखोंकी इच्छासे रहित होता हुआ तथा विषयकषायोसे उत्पन्न विकल्पजालोंमें वर्तनेवाले मनको रोककर निज परमात्मस्वभावमें भलेप्रकार स्थित ही गुणी पुरुष अपने आत्माका ध्याता होता है। इसी

ही शुद्धात्मध्यानसे अत्यन्त शुद्धि अर्थात मुक्तिको प्राप्त करता है। इससे सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मध्यानसे जीव विशुद्ध होता है, क्योंकि ध्यानसे वास्तवमें आत्मा शुद्ध होता है। इसलिये ध्यानके सम्बन्धमे चार प्रकारका व्याख्यान करते हैं। वह चार प्रकार ध्यान है। ध्यान, ध्यानसंतान, एक ध्यानचिंता तथा ध्यानान्वय सूचना। इनमेंसे एक किसी विशेष भावमें चित्तको रोकनेको ध्यान कहते हैं यह ध्यान शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकार है। अब ध्यान सतानको कहते है-जहा अतर्मुहूर्त्तपर्यंत ध्यान होता है फिर अतर्मुहूर्त्त पर्यंत तत्त्वचिंता होती है फिर भी अतर्मुहूर्त्त पर्यंत ध्यान होता है पीछे फिर तत्वचिंता होती है इस तरह प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानकी तरह अन्तर्मुहूर्त २ वीततेहुए पलटन होजावे उसको ध्यानसंतान कहते हैं। यह धर्मध्यान सम्बन्धी जानना चाहिये। शुक्लध्यान उपशम तथा क्षपकश्रेणीके चढनेपर होता है वहा बहुत ही अल्प-काल है इससे (बुद्धि पूर्वक) पलटनेरूप ध्यान सतान नही सिद्ध होता है। अब ध्यान चिंताको कहते है—जहां ध्यानकी सतानकी तरह ध्यानकी पलटन नहीं है किन्तु ध्यानसम्बन्धी चिन्ता है। इस चिन्ताके वीचमे ही किसी भी कालमे ध्यान करने लगता है तौ भी उसको ध्यान चिन्ता कहते हैं। अब ध्यानान्वय सूचनाको कहते हैं कि जहा ध्यानकी सामग्रीरूप बारहभावनाका चिन्तवन है व ध्यान सम्बन्धी सवेग वैराग्य वचनोंका व्याख्यान है वह ध्यानान्वय सूचना है। ध्यानका चार प्रकार कथन ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा फलरूप है अथवा आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल रूप हैं जिनका कथन अन्य ग्रन्थोमें वर्णन किया गया है।

भावार्थ-जो पहले दर्शन मोहकी और तीव्र कषायोके उद-यकी कलुपतासे रहित होकर शांत मन हो पंचेद्रियोंके विषयोंको संसारका कारण जान उनसे वैराग्यवान होता है तथा मनको अनेक विषयकषायसम्बन्धी संकल्पजालोसे रोक देता है और निज शुद्ध आत्माके स्वभावमे भलेप्रकार स्थिरता प्राप्त करता है वही आत्मध्यानी है। यही आत्मध्यान आत्माके बंधनोंको काटकर आत्माको परमात्मा कर देता है।

जहां एकाग्रता होती है उसको ध्यान कहते हैं। शुक्ल ध्यानमें तो बिलकुल ध्याताकी बुद्धिपूर्वक एकाग्रता होती है। यद्यपि अबुद्धि पूर्वक कुछ पलटन होती है तथापि ध्याताके अनु-भव गोचर न होनेसे वह शुद्धोपयोगरूपमें थिरतारूप ही ध्यान कहलाता है। धर्म ध्यानमे शुद्धात्माकी सन्मुखता जहां है उसको शुद्ध ध्यान कहते है। जहां अशुद्ध भावोमे थिरता होती है उसको अशुद्ध ध्यान या आर्तरौद्र ध्यान कहते हैं। जहां ध्यान अंतर्मूहूर्त होकर फिर ध्यानकी चिंता हो ? फिर ध्यान होजावे इसतरह ध्या-नकी संतान बहुत देर तक चलती रहे उसको ध्यान संतान कहते हे। जो योगी छ घड़ी ध्यान करते है उनके ऐसी ध्यानसंतान वर्तती है क्योंकि ध्यान एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक [illegible] नहीं रह सक्ता है। जहां आत्माके व परमात्माके गुणोंका विचार ही मुख्यतासे होता है [illegible] जहां कभी [illegible] मध्यमे [illegible] होता है-लगातार [illegible] है न ध्यान संतान है। जहां ध्यानके प्राप्त करनेकी [illegible] सम्हाल है अर्थात् जहां बारह भावनाका चिन्तवन है या व्याख्यान है अथवा धर्मानुराग

बढ़ानेवाला तथा संसार शरीरभोगोसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाला कथन है उसको ध्यानान्वय सूचना कहते हैं।

प्रयोजन यह है कि इन चारो ही ध्यानके भेदोमें जिसमें उपयोग लगे वर्तनकरके वीतरागमई साम्यभावमें ठहरनेका यत्न करना चाहिये क्योकि आत्मध्यानसे ही आत्मा शुद्ध होगा। अन्य कोई उपाय नहीं है. जैसा श्री तत्वसारमें श्रीदेवसेनमहाराज कहते हैं—

सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारण सो हु ॥ ६१ ॥
अप्पसहावे थक्को जोई न मुणेइ आगए विसए।
जाणियणिय अप्पाणं णिच्छयत चेव सुविसुद्ध ॥ ६२ ॥
ण रमइ विसयेसु मणो जोइस्स दु लद्धसुद्धतच्चस्स।
एमेहवइ णिरासो मरइ पुणो झाणसत्थेण ॥ ६३ ॥
ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयगओ सव्वो।
खीयति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ॥ ६४ ॥
मोहए राए हणे णासइ सयमेव गलियमाहप्पं।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ॥ ६५ ॥
घाइ चउक्के णट्ठे उप्पज्जइ विमलकेवल णाणं।
लोयालोयपयास कालत्तयजाणगं परम ॥ ६६ ॥

भावार्थ—सर्व मनके संकल्प विकल्पोके रुक जानेपर कोई एक अविनाशी भाव पैदा होता है जो आत्माका स्वभाव है व जो निश्चयसे मोक्षका कारण है। आत्मस्वभावमे स्थिर होता हुआ योगी आएहुए इंद्रियोके विषयोका अनुभव नही करता है किन्तु वह निज आत्माको अत्यन्त शुद्ध देखता जानता रहता है। शुद्धतत्वको

प्राप्त करनेवाले योगीका मन इंद्रियोंके विषयोंमें नहीं रमन करता है-वह मन सर्व आशासे रहित हो आत्मासे एक होजाता है अथवा आतम ध्यानके शस्त्रसे मर जाता है। जबतक मन नहीं मरता है तबतक सर्व मोहका क्षय नही होता। मनके मरनेपर मोहका क्षय होजाता है व मोहके क्षय होनेके पीछे शेष तीन घातिया कर्म भी क्षय होजाते हैं। जैसे राजाके मरनेपर उसकी सब सेना अपने प्रभावसे रहित हो स्वयं भाग जाती है तैसे मोह राजाके नाश होनेपर सर्व घातियां कर्म गल जाते हैं। चारघातिया कर्मोंके नाश होनेपर निर्मल केवलज्ञान पैदा हो जाता है जो उत्कृष्ट है, तीन-कालको जाननेवाला है व लोक और अलोकका प्रकाशक है। इससे यही निश्चय करना चाहिये कि आत्मध्यानसे ही कर्मोंका क्षय होता है और आत्मा शुद्ध होता है।

इस तरह आत्माके अनुभवसे दर्शनमोहका क्षय होता है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, दर्शनमोहके क्षयसे चारित्रमोहका क्षय होता है ऐसा कहते हुए दूसरी, इन दोनोंके क्षयसे मोक्ष होता है ऐसा कहते हुए तीसरी, इस तरह आत्माका लाभ होना फल होता है ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे शिष्य पूर्वपक्ष करके यह आक्षेप करता है कि शुद्धात्मतत्त्वको प्राप्त करके सकलज्ञानी परमात्मा किस वस्तुको ध्याते हैं ?

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।
णेयन्तगदो समणो झादि किमट्ठं असंदेहो ॥ १०९ ॥

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः ।
ज्ञेयान्तगतः श्रमणो ध्यायति किमर्थमसंदेहः॥ १०९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(णिहदघणघादिकम्मो) सर्व घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले (पच्चक्ख) प्रत्यक्षरूपसे (सव्वभावतच्चण्हू) सर्व पदार्थोंके जाननेवाले (णेयंतगदो) सर्व ज्ञेय पदार्थोंके पार पहुचनेवाले (असंदेहो) तथा सशयसहित (समणो) केवलज्ञानी महामुनि (कम्मट्ठं) किस पदार्थको (झादि) ध्याते हैं।

विशेषार्थ-पूर्वसूत्रमें कहे प्रमाण निश्चल अपने परमात्मा तत्त्वमें परिणमन रूप शुद्ध ध्यानके बलसे घातिया कर्मोंके क्षयकर्ता, प्रत्यक्षज्ञानी, सर्व ज्ञेयोंको जाननेकी अपेक्षा उनके पार होनेवाले ऐसे तीन विशेषण सहित जीवन मरण आदिमें समताभाव रखनेवाले महा श्रमण श्री सर्वज्ञ भगवान जो संशयादिसे रहित हैं वह किस पदार्थको ध्याते हैं यह प्रश्न है अथवा किसी पदार्थको भी नहीं ध्याते हैं यह आक्षेप है ? यहां यह अर्थ है कि जैसे कोई भी देवदत्त विषयोंके सुखके निमित्त किसी विद्याकी आराधनारूप ध्यानको करता। है जब वह सिद्ध होजाती है तब उस विद्याके फलरूप विषयसुखको सिद्ध करलेता है फिर उस विद्याकी आराधनारूप ध्यानको नहीं करता है। तैसे ही भगवान भी केवलज्ञान रूपी विद्याके निमित्त तथा उसके फलरूप अनन्त सुखके निमित्त पहले छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञकी अवस्थामें शुद्ध आत्माकी भावना रूप ध्यानको करते थे अब उस ध्यानसे केवलज्ञानरूपी विद्या सिद्ध होगई तथा उसका फलरूप अनन्त सुख भी सिद्ध होगया तब किस लिये ध्यान करते है ऐसा प्रश्न है या आक्षेप है ? दूसरा कारण यह है कि पदार्थ परोक्ष होनेपर उसका ध्यान किया जाता है भगवानके सर्व प्रत्यक्ष है तब उनके ध्यान किस तरह होसक्ता

है ऐसा पूर्व पक्ष करते हुए गाथा पूर्ण हुई ।

भावार्थ-इस गाथामें शिष्यका यह प्रश्न है कि केवली सर्वज्ञ भगवान जब ध्यानका फल परमात्मपद प्राप्तकर चुके तब उनके ध्यान किसलिये व किसका होगा क्योंकि जो वस्तु नहीं मिलती है व उसके मिलानेकी इच्छा होती है व उसीका ही ध्यान उसके लिये किया जाता है परन्तु जब वस्तु मिल गई फिर उसका ध्यान नहीं होसक्ता। इसलिये केवली भगवान ध्यान रहित हैं ऐसा आक्षेप शिष्यने किया है । यहां गाथामें किमट्ठं शव्द लें तब तो अर्थ यह होगा कि किस लिये ध्यान करते हैं व कमट्ठं शव्द लें तब अर्थ यह होगा कि किस पदार्थोको ध्याते हैं ।

उत्थानिका-आगे इस पूर्वपक्षका समाधान करते हैं—

सव्वावाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।
भूदो अक्खादीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥ ११० ॥

सर्वावाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः ।
भूतोक्षातीतो ध्यायत्यनक्षः परं सौख्यम् ॥ ११० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(सव्वावाधविजुत्तो) सर्व प्रकारकी बाधासे रहित व (समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो) सब तरहसे सर्व आत्मीक सुख और ज्ञानसे पूर्ण (अक्खादीदो) तथा अतीन्द्रिय (भूदो) होकर (अणक्खो) दूसरोंके भी इंद्रियोंके जो विषय नही है ऐसे केवली भगवान (परं सोक्खं) परमानंदको (झादि) ध्याते है ।

विशेषार्थ-जिस समयसे केवली भगवान इंद्रियज्ञानसे रहित अतीन्द्रिय हुए, व सर्व प्रकारकी पीड़ासे रहित हुए तथा सर्व आत्माके प्रदेशोमें आत्मीक शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध सुखसे परिपूर्ण

हुए उसी समयसे वे भगवान जिनकी आत्मा दूसरोके इंद्रियोंका विषय नहीं है किसी परम उत्कृष्ट सर्व आत्माके प्रदेशोमें आह्लाद देनेवाले अनन्त सुखरूप एकाकार समता रसके भावसे परिणमन करते रहते हैं अर्थात् निरन्तर अनन्त सुखका स्वाद लेते रहते हैं। जिस समय यह भगवान एक देश होनेवाले सासारिक ज्ञान और सुखकी कारण तथा सर्व आत्माके प्रदेशोंमे पैदा होनेवाले स्वाभाविक अतींद्रिय ज्ञान और सुखको नाश करनेवाली इन इंद्रियोको निश्चय रत्नत्रयमई कारण समयसारके वलसे उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् उन इंद्रियोंके द्वारा प्रवृत्तिको नाश करदेते हैं उसी ही क्षणसे वे सर्व वाधासे रहित होजाते हैं, तथा अतींद्रिय और अनत आत्मासे उत्पन्न आनन्दका अनुभव करते रहते हैं अर्थात् आत्म सुखको ध्याते है व आत्मसुखमें परिणमन करते है। इससे जाना जाता है कि केवलियोको दूसरा कोई चिन्तानिरोध लक्षण ध्यान नही है, किन्तु इसी परम सुखका अनुभव है अथवा उनके ध्यानका फलरूप कर्मकी निर्जराको देखकर ध्यान है ऐसा उपचार किया जाता है। तथा जो आगममे कहा है कि सयोग केवलीके तीसरा शुक्लध्यान व अयोग केवलीके चौथा शुक्लध्यान होता है वह उपचारसे जानना चाहिये ऐसा सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामे वास्तवमें केवली भगवानका स्वभाव वताया है। आचार्य कहते है कि केवली भगवानका आत्मा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंसे रहित होकर अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त व क्षायिक सम्यक्त व क्षायिक यथाख्यात चारित्र तथा अनन्त सुखसे परिपूर्ण होजाता है। उनके आत्मामें ज्ञान व

सुख-स्वाभाविक शुद्ध प्रगट होजाते हैं। वे इंद्रियोंके द्वारा न तो जानते हैं न उनके द्वारा विषयसुखका भोग करते हैं-उनकी प्रवृत्ति इंद्रियोंकी प्रवृत्तिसे रहित होजाती है। उनको कोई प्रकारकी क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, शीत, उष्ण आदि परीसहोंकी व किसी चेतन व अचेतनकृत उपसर्गकी कोई शारीरिक व मानसिक बाधा नहीं होती है। उनका शुद्ध आत्मा अन्य अल्पज्ञानियोंके इंद्रियज्ञानका भी विषय नहीं है। ऐसे भगवान निरन्तर निजानन्दका स्वाद लिया करते हैं अर्थात् समय २ अपूर्व आत्मीक सुखका अनुभव करते हैं। या यों कह दीजिये कि वे भगवान अपने ही स्वाभाविक आनन्दको ध्याते हैं। उनके ऐसा ध्यान नहीं है जैसा कि छद्मस्थोके होता है कि चित्तको अन्य पदार्थोंसे रोककर आत्मामें लगाना पड़े। वे सदा आत्मस्थ ही हैं-आठ वर्ष कुछ अधिक कम एक करोड़ पूर्व वर्ष तक भी वे एकाकार आत्मामई बने रहते हैं-उनमे कोई रागादि विकार नहीं होते हैं, उनके उपयोगकी चंचलता अल्पज्ञकी तरह नही होती है। उनका उपयोग आत्मामें ही मग्न रहता हुआ आत्मीक आनन्दका भोग किया करता है। सिद्धातमे जो केवली भगवानके ध्यान कहा है वह इसी अपेक्षासे व्यवहारसे कहा है कि वहां ध्यानका फल मौजूद है अर्थात् उनके पूर्ववद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है। तथा तीसरा व चौथा शुक्लध्यान भी उनकी आत्माकी अवस्थाकी अपेक्षा उपचारसे कहा है। जब कायद्वारा सूक्ष्म आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है तब तीसरा शुक्लध्यान व जब योगरहित होते हैं तब सर्व क्रियासे निर्वृत्त होनेके कारण चौथा शुक्लध्यान कहा है। केवली भगवानके

वास्तवमें चित्तको रोकनेरूप ध्यान नहीं हैं। वे सदा ही आत्मध्यानी व आत्मानन्दी हैं-उनकी महिमा बचन अगोचर है। यहां यह तात्पर्य है कि जिस आत्मध्यानसे ऐसा अपूर्व अरहंतपद प्राप्त होता है उस ध्यानका पुरुषार्थ कर्तव्य है। आप्तस्वरूप नाम ग्रन्थमें अरहंतभगवानका स्वरूप कहते हैं-—

नष्ट छद्मस्थविज्ञान नष्ट केशादिवर्धनम् ।
नष्ट देहमलं कृत्स्न नष्टे घातिचतुष्टये ॥ ८ ॥

नष्ट मर्यादविज्ञान नष्ट मानसगोचरम् ।
नष्ट कर्ममलं दुष्ट नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः ॥ ९ ॥

नष्टाः क्षुत्तड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम् ।
नष्टं भूमिगतस्पर्श नष्ट चेंद्रियसुखं ॥ १० ॥

येनाप्त परमैश्वर्यं परानन्दसुखास्पदम् ।
बोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥ २३ ॥

भावार्थ-जिसने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये, छद्मस्थ ज्ञान दूर कर दिया, केश नखकी वृद्धि बन्द की व सर्व शरीरका मल भी हटा दिया। जिसमें मन सम्बन्धी व इंद्रिय सम्बन्धी व क्षयोपशम रूप मर्यादित ज्ञान भी नहीं रहा जिसके दुष्ट कर्ममल नष्ट हुआ व अक्षररूप ध्वनि भी नहीं रही। जिसके क्षुधा, तृषा, भय, स्वेद आदि अठारह दोष नष्ट होगए, प्रत्येक प्राणीको समझानेकी क्रिया भी वद हुई, भूमिमे स्पर्श भी न रहा व इंद्रियोंके द्वारा सुख भोग भी न रहा-जिन्होंने अनन्त ज्ञानरूप परमानद सुखके स्थान परमईश्वरपनेको प्राप्त कर लिया व जो परमकृतकृत्य हैं उसहीको बुद्धिमानोने ईश्वर कहा है।

ऐसे परमात्मा अरहंत ध्यानके फलको प्राप्त होकर निरंतर आत्मानंदका विलास करते रहते हैं। यह ही परमपूज्यनीय देव ध्यान करने योग्य, पूज्यने योग्य व स्तुति करने योग्य हैं॥११०॥

इस तरह केवली भगवान क्या ध्याते हैं व क्यों ध्याते हैं? इस प्रश्नकी मुख्यतासे पहली गाथा, तथा वे भगवान परमसुखको ध्याते या अनुभवते हैं इस तरह उस प्रश्नका समाधान करते हुए दूसरी, इस तरह ध्यान सम्बन्धी पूर्वपक्षका परिहाररूपसे तीसरे स्थलमे दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे विशेष करके समर्थन करते हैं कि यही अपने शुद्धात्माकी प्राप्ति लक्षण ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स॥ १११॥

एव जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्गं समुत्थिताः श्रमणाः।
जाता नमोस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय॥ १११॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(एवं) इस तरह पूर्व कहे प्रमाण (मग्गं समुट्ठिदा) मोक्षमार्गको प्राप्त होकर (समणा) मुनि, (जिणा) सामान्य केवली जिन, (जिणिंदा) तथा तीर्थंकर केवली जिन, (सिद्धा) सिद्ध परमात्मा (जादा) हुए (तेसिं) उन सबको (य) और (तस्स णिव्वाणमग्गस्स) उस मोक्षमार्गको (णमोत्थु) नमस्कार हो।

विशेषार्थ—इस तरह बहुत प्रकारसे पहले कहे हुए निज परमात्मतत्वके अनुभवमई मोक्षमार्गको आश्रय करनेवाले जीव सुखदुःख आदिमें समताभावसे परिणमन करनेवाले तथा आत्मतत्वमें

लीन अनेक मुनि हुए जो तद्भव मोक्षगामी न थे तथा सामान्य केवली जिन हुए व तीर्थंकर परमदेव हुए ये सब सिद्ध परमात्मा हुए हैं। उन सबको तथा उस विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षके मार्गको हमारा अनन्तज्ञानादि सिद्ध गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कार होहु। यहां अचरम शरीरी मुनियोंको सिद्ध मानकर इस लिये नमस्कार किया है कि उन्होंने भी रत्नत्रयकी सिद्धि की है। जैसा कहा है–

" तव सिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्रसिद्धे य। णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमस्सामि" अर्थात जिन्होंने तपमें सिद्धि पाई है, नयोंके स्वरूप ज्ञानमें सिद्धि पाई है, संयममें सिद्धि की है, चारित्रमें सिद्धि पाई है तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें सिद्धि पाई है उन सबको मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूं। इससे निश्चय किया जाता है कि यही मोक्षका मार्ग है अन्य कोई नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह स्पष्ट कह दिया है कि मोक्षका कारण निज शुद्धात्माका सर्व परद्रव्योंसे भिन्न श्रद्धान ज्ञान तथा चारित्ररूप तल्लीनता है–अर्थात् निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधि है या स्वानुभव है या कारण समयसार है या स्वसमयरूप प्रवृत्ति है। इसी मोक्षमार्गको सेवन करके महामुनि हुए हैं जो यद्यपि तद्भव मोक्ष न प्राप्त हुए किंतु कुछ भवोंमें प्राप्त करेंगे। तथा इसी मार्गपर चलकर अनेक मुनि सामान्य-केवली हुए, अनेक साधु तीर्थंकर केवली हुए और ये सब जीव सिद्ध परमात्मा होगए, क्योंकि मैं कुन्दकुंद मुनि भी इसी शुद्धा-त्माकी अवस्थाको प्राप्त करना चाहता हूं इसलिये मैं शुद्ध आत्मा-

का ध्यानकर भाव नमस्कार करता हुआ उन सर्व सफल कार्य करनेवालोंको द्रव्य नमस्कार करता हूं। साथ ही उस अभेद रत्नत्रयकी परम रुचि रखता हुआ उसमें अपने उपयोगको जोड़ता हुआ उस मोक्षमार्गको भी भाव नमस्कार सहित द्रव्य नमस्कार करता हूं। इससे यह सिद्ध किया गया है कि हम सबको इस लोक तथा परलोकमें परम शांति व सुखको प्राप्त करनेके लिये इसी रत्नत्रयमयी निर्ममत्त्व भावकी भावना भानी चाहिये।

श्री अमितिगति महाराजने सामायिकपाठमें कहा है:—

सर्वज्ञः सर्व्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो,
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ।
दक्षैः सकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षै-
र्नष्टा वाधात्मनीनस्थिरविशुदसुखप्राप्तये चिंतनीयः ॥ २० ॥

भावार्थ—जो चतुर पुरुष इंद्रियोंके विजयी है, जन्म मरणसे भयभीत है, संसारके भ्रमणसे उदासीन हैं उनको वाधा रहित, आत्मासे उत्पन्न, स्थिर और शुद्ध निर्मल सुखकी प्राप्तिके लिये उस आत्माका सदा चिन्तवन करना चाहिये जो अविनाशी है, सर्वज्ञ है, सर्व दर्शी है, जन्ममरण जरा रोगशोकादिसे रहित है, निजस्वभावमें प्राप्त है, तथा सर्व द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्ममलसे रहित है ॥ १११

उत्थानिका—आगे प्रथम ज्ञानाधिकारकी पांचवीं गाथामें आचार्यने कहा था कि "उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती" मैं साम्य भावको धारण करता हूं जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती उसी अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुए स्वयं ही मोक्ष-मार्गकी परिणतिको स्वीकार करते हुए कहते हैं—

तम्हा तध जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्ति उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥ ११२ ॥

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायक स्वभावेन।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे ॥ ११२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(तम्हा) इसलिये (तध) तिसही प्रकार (सभावेण) अपने स्वभावसे (जाणग) ज्ञायक मात्र (अप्पाणं) आत्माको (जाणित्ता) जानकर (णिम्ममत्तम्मि) ममतारहित भावमे (उवट्ठिदो) ठहरा हुआ (ममत्ति) ममता भावको (परिवज्जामि) मै दूर करता हूं।

विशेषार्थ-क्योंकि पहले कहे हुए प्रमाण शुद्धात्माके लाभ रूप मोक्ष मार्गके द्वारा जिन, जिनेन्द्र तथा महामुनि सिद्ध हुए हैं इसलिये मै भी उसी ही प्रकारसे सर्व रागादि विभावसे रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके द्वारा उस केवलज्ञानादि अनतगुण स्वभावके धारी अपने ही परमात्माको जान करके सर्व परद्रव्य सम्बन्धी ममकार अहंकारसे रहित होकर निर्ममता लक्षण परम साम्यभाव नामके वीतराग चारित्रमें अथवा उस चारित्रमे परिणमन करनेवाले अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ सर्व चेतन अचेतन व मिश्ररूप परद्रव्य सम्बन्धी ममताको सब तरहसे छोड़ता हूं। भाव यह है कि मै केवलज्ञान तथा केवलदर्शन स्वभावरूपसे ज्ञायक एक टकोत्कीर्ण स्वभाव हूं ऐसा होता हुआ मेरा परद्रव्योके साथ अपने स्वामीपने आदिका कोई सम्बन्ध नही है। मात्र ज्ञेय ज्ञायक संवध है, सो भी व्यवहार नयसे है। निश्चयसे यह ज्ञेय ज्ञायक सबंध भी नहीं है। इस कारणसे मैं सर्व परद्रव्योके ममत्त्वसे रहित होकर

परम समता लक्षण अपने शुद्धात्मामें ठहरता हूं। श्रीकुंदकुंद महाराजने "उवसंपयामि सम्मं" मैं समताभावको आश्रय करता हूं इत्यादि अपनी की हुई प्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुए स्वयं ही मोक्षमार्गकी परिणतिको स्वीकार किया है ऐसा जो गाथाकी पातनिकाके प्रारम्भमें कहा गया है उससे यह भाव प्रगट होता है कि जिन महात्माओंने उस प्रतिज्ञाको लेकर सिद्धि पाई है उनहीके द्वारा वास्तवमें वह प्रतिज्ञा पुरी की गई है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने तो मात्र ज्ञान दर्शन ऐसे दो अधिकारोंको ग्रंथमें समाप्त करते हुए उस प्रतिज्ञाको पुरा किया है। शिवकुमार महाराजने तो मात्र ग्रंथके श्रवणसे ही साम्यभावका आलम्बन किया है। क्योंकि वास्तवमें जो मोक्ष प्राप्त हुए हैं उन हीकी वह प्रतिज्ञा पूर्ण हुई है-न श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराजकी और न शिवकुमार राजाकी क्योंकि दोनोंके चरमदेहका अभाव है।

भावार्थ-श्री कुंदकुन्दाचार्य महाराज इस गाथामें अपने मोक्षमार्गके गाढ़प्रेमको प्रगट करते हुए कहते हैं कि जिस तरह पूर्व महापुरुषोंने अपने वीतराग स्वभावसे ज्ञाताद्रष्टा आनन्दमई अपने ही आत्माको जानकर अनुभव किया था उस ही तरह मैं भी निज आत्माके शुद्ध स्वभावको जानकर ममकार अहंकार रहित वीतराग चारित्ररूप समताभावमें ठहरकर अपने शुद्ध आत्माके सिवाय सर्व चेतन अचेतन व मिश्र पदार्थोंमें ममताको त्यागता हूं। और आत्मस्थ होता हुआ साम्यरसका पान करता हूं। पहले महाराजने जो प्रतिज्ञा की थी उसीको यहांतक व्याख्यान करते हुए निर्वाहा है। इस ग्रन्थके वक्ता श्री कुंदकुंदाचार्य हैं तथा

मुख्य श्रोता श्री शिवकुमार महाराज हैं दोनों पंचम कालमें हुए इस लिये इसी भवसे मोक्षगामी नहीं हैं। इसलिये इनके साम्यभाव ग्रहणकी प्रतिज्ञा आयु क्षयके पीछे नहीं रह सक्ती है, क्योंकि ये शरीर छोड़कर स्वर्गादि गतियोंमें गए होंगे। प्रतिज्ञाकी पूर्णता उनहीकी होती है जिन्होंने रत्नत्रय साधनकर तद्भव मोक्ष प्राप्त की है। वे अनंतकाल तक साम्यभावमें लीन रहेंगे।

यहां इस प्रवचनसारके दो अधिकार कहकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीने अपने कथनकी प्रतिज्ञाको अच्छी तरह निर्वाहा है। यह भाव है।

वास्तवमें निर्ममत्त्वभाव ही परमानद दायक है जैसा श्री कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है—

निर्ममत्त्व परं तत्त्व निर्ममत्वं पर सुखम् ।
निर्ममत्त्व पर बीज मोक्षस्य कथित बुधैः ॥ २३४ ॥

निर्ममत्वे सदा सौख्य ससारस्थितिच्छेदनम् ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ॥ २३५ ॥

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुम नसः ।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥ २१३ ॥

भावार्थ—ममतासे दूर रहना परम तत्त्व है। ममता रहितपना परम सुख है, निर्ममताहीको बुद्धिमानोने मोक्षका उत्तम बीज कहा है। निर्ममता होते हुए निज आत्मामें जो स्थिर होता है उसको संसारकी स्थितिका छेदक परम उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। जो भव्य मन सम्यक्ती जीव सर्व प्राणियोंमें समता करके ममता भावसे छूट जाता ही अविनाशीपदको प्राप्त करता है।

इस तरह ज्ञानदर्शन अधिकारकी समाप्ति करते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं ।

उत्थानिका–इस तरह निज शुद्धात्माकी भावनारूप मोक्ष-मार्गके द्वारा जिन्होंने सिद्धि पाई है और जो उस मोक्षमार्गके आराधनेवाले हैं उन सबको इस दर्शन अधिकारकी समाप्तिमें मंगलके लिये अथवा ग्रन्थकी अपेक्षा मध्यमें मंगलके लिये उस ही पदकी इच्छा करते हुए आचार्य नमस्कार करते हैं–

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वावाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥ ११२ ॥

सम्यग्दर्शनसंशुद्धेभ्यः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तेभ्यः ।
अव्याबाधरतेभ्यो नमो नमो सिद्धसाधुभ्यः ॥ ११२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(दंसणसंसुद्धाणं) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध (सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताण) व सम्यज्ञानमई उपयोगसे युक्त तथा (अव्वाबाधरदाणं) अव्याबाध सुखमें लीन (सिद्धसाहूणं) सिद्धोंको और साधुओंको (णमो णमो) वारवार नमस्कार हो ।

विशेषार्थ–जो तीन मूढता आदि पचीस दोषोंसे रहित शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं, व संशयादि दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञानमई उपयोग धारी हैं अथवा सम्यग्ज्ञान और निर्विकल्प समाधिमे वर्तनेवाले वीतराग चारित्र सहित हैं तथा सम्यग्ज्ञान आदिकी भावनासे उत्पन्न अव्याबाध तथा अनन्त सुखमें लीन हैं ऐसे जो सिद्ध हैं अर्थात् अपने आत्माकी प्राप्ति करनेवाले अर्हंत और सिद्ध हैं तथा जो साधु हैं अर्थात् मोक्षके साधक आचार्य, उपाध्याय तथा साधु हैं उन सबको

मेरा वार वार नमस्कार हो ऐसा कहकर श्री कुन्दकुन्द महाराजने अपनी उत्कृष्ट भक्ति दिखाई है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने परम मंगलस्वरूप पांचो परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है। दो दफे नमो शब्द कहकर वार वार नमस्कार करके अपनी गाढ़भक्ति उनके शुद्ध गुणोमें दिखलाई हैं। अरहंत और सिद्ध तो रत्नत्रयकी आराधनासे उसके पूर्ण फलको पाचुके हैं–अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु अभी रत्नत्रयकी आराधना कर रहे हैं परन्तु अवश्य अरहंत और सिद्ध होंगे इस लिये भावी नैगमनयकी अपेक्षा उनके भी वे ही विशेषण दिये हैं जो अरहत व सिद्धोंके दिये हैं। वे शीघ्र ही केवलज्ञानी व अनन्त सुखी होगे। इस दूसरे अध्यायकी पूर्णतामें मंगलाचरण करके आचार्यने यह बतलाया है कि हम सबको हरएक कार्यके प्रारम्भमे व अन्तमें इन पंचपरमेष्ठियोंका गुण स्मरण रूप मगलाचरण करना चाहिये जिससे हमारे भाव निर्मल हों और हम पापकर्मोको क्षयकर सकें, जो पाप कर्म हमारे कार्यमें बाधक हैं। पाप क्षयसे हमारा कार्य निर्विघ्न समाप्त होजायगा। अन्तमे मंगलाचरण करनेसे उनका उपकार स्मरण है व भविष्यके लिये पापोसे बचनेकी भावना है ॥११३॥

इस तरह नमस्कार गाथा सहित चार स्थलोमें चौथा विशेष अन्तर अधिकार समाप्त हुआ। इस तरह "अत्थित्त णिछिदस्स हि" इत्यादि ग्यारह गाथा तक शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग इन तीन उपयोगकी मुख्यतासे पहला विशेष अंतर अधिकार है फिर 'अपदेसो परमाणू पदेसमत्तोय' इत्यादि नौ गाथाओ तक पुद्गलोंके पर-

स्पर बंधकी मुख्यतासे दूसरा विशेष अन्तर अधिकार है। फिर "अरसमरूव" इत्यादि उन्नीस गाथा तक जीवका पुद्गल कर्मोके साथ बंध कथनकी मुख्यतासे तीसरा विशेष अंतर अधिकार है फिर " ण चयदि जो दु ममत्तिं" इत्यादि बारह गाथाओं तक विशेष भेदभावनाकी चूलिकारूप व्याख्यान है ऐसा चौथा चारित्र विशेषका अंतर अधिकार है इस तरह इक्यावन गाथाओंसे चार विशेष अंतर अधिकारोंसे विशेष भेदभावना नामक चौथा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

इस तरह श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्तिमें " तम्हा दंसण माई " इत्यादि पैंतीस गाथाओं तक सामान्य ज्ञेयका व्याख्यान है फिर "दव्व जीवं" इत्यादि उन्नीस गाथाओं तक जीव पुद्गलधर्मादि भेदसे विशेष ज्ञेयका व्याख्यान है फिर " सपदेसेहि समग्गो" इत्यादि आठ गाथाओं तक सामान्य भेदभावना है पश्चात् " अत्थित्तणिच्छिदस्सहि " इत्यादि इक्यावन गाथाओं तक विशेष भेदभावना है इस तरह चार अंतर अधिकारोंमें एकसौ तेरह गाथाओंसे सम्यग्दर्शन नामका अधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार नामका दूसरा महाधिकार समाप्त हुआ ॥
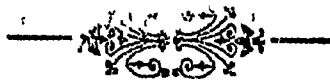
इस ज्ञेयाधिकारका कुछ सार।

पहले अधिकारमे आचार्यने ज्ञान और सुखकी महिमा बताई थी कि स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान, और शुद्ध सुख आत्माकी ही सपत्ति, है-ये ही उपादेय है। इस दूसरे अधिकारमे उस स्वभावकी प्राप्तिके लिये जिन२ तत्वोका श्रृद्धान करना जरूरी है उनका स्वरूप कहा है क्योकि विना वस्तुके स्वरूपको जाने त्यागने योग्यका त्याग और ग्रहण करने योग्यका ग्रहण नही हो सक्ता है। इस ज्ञेय अधिकारमे पहले ही द्रव्यका सामान्य स्वरूप है कि द्रव्य सत् स्वरूप है, सत्तासे अभिन्न है इससे अनादि अनंत है-न कभी पैदा हुआ व न कभी नष्ट होगा। इस कथनसे इस जगतकी द्रव्य अपेक्षा नित्यता व अकृत्रिमता दिखाई है। फिर बताया है कि वह सत् रूप द्रव्य कूटस्थ नित्य नहीं है उसमे गुण और पर्यायें होते है। गुण सदा बने रहते है इससे ध्रौव्य है। गुणोमें जो अवस्थाए पलटती हैं वे अनित्य है अर्थात् उत्पाद व्ययरूप हैं। जिस समय कोई अवस्था पैदा होती है उसी समय पिछली अवस्थाका व्यय या नाश होता है-मूल द्रव्य बना रहता है। इससे द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप भी है। फिर यह बताया है कि द्रव्य और गुणोंका तथा पर्यायोंका प्रदेशोकी अपेक्षा एकपना है। जितना बड़ा द्रव्य है उसीमे ही गुणपर्याये होती हैं-उनकी सत्ता द्रव्यसे जुदी नहीं मिल सक्ती है तथापि सज्ञा सख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा द्रव्य गुणीमे और उसके गुण पर्यायोमे परस्पर भेद है। इस लिये द्रव्य भेदाभेद स्वरूप है। फिर जीवका दृष्टात देकर स्पष्ट किया

है कि एक जीव मनुष्य पर्यायसे देव पर्यायमें गया वहां यद्यपि पर्याय बदली है परंतु जीव द्रव्यने अपना जीवत्व नहीं छोडा इस तरह द्रव्यकी अपेक्षा जीवका देव होना सत् उत्पाद है। तथा यदि पर्यायकी अपेक्षा देखें तो जो मनुष्य था वह दूसरे ही स्वभावको लिये हुए था अब जो देव हुआ हुआ वह दूसरे ही स्वभावको लिये हुए है इस तरह भिन्नताकी अपेक्षा मनुष्यसे देव होना असत् उत्पाद है। इस तरह बताया है कि द्रव्य किसी अपेक्षा एकरूप व किसी अपेक्षा अन्यरूप है—एक ही समयमें दो स्वभाव द्रव्यमें पाए जाते हैं जैसे अस्तिनास्तिस्वभाव। द्रव्य अपने द्रव्यादि चतुष्टयसे अस्ति स्वरूप है परंतु उसकी सत्तामें परद्रव्यादि चतुष्टय नहीं है इस लिये परकी अपेक्षा नास्ति स्वरूप है। इस अस्ति नास्तिको समझानेके लिये सप्तभंग वाणीका स्वरूप बताया है कि द्रव्य किसी अपेक्षा अर्थात् स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति रूप है, परद्रव्यादिकी अपेक्षा नास्तिरूप है, एक समयमें वचनसे न कहे जानेकी अपेक्षा अवक्तव्य स्वरूप है। दोनों स्वभावोंको क्रमसे कहें तो अस्तिनास्ति स्वरूप है। कथंचित् अवक्तव्य और वक्तव्यकी अपेक्षा कहें तो द्रव्य अस्ति अवक्तव्य स्वरूप है नास्ति अवक्तव्य स्वरूप है तथा अस्तिनास्ति अवक्तव्य स्वरूप है। इस तरह नित्य, अनित्य, तथा भेद अभेद कोई भी दो विरोधी स्वभावोंको एक समयमें समझानेके लिये सात भंगसे समझा या समझाया जासक्ता है।

फिर कहा है कि कर्मोंके बन्धके कारण यह जीव संसारमें विभावोंसे परिणमन करके नर नारकादि गतियोंमें भ्रमण किया

करता है। जीव परिणामी है इससे उसके परिणाम होते हैं। जीव भावोंका कर्ता है, भावोंका निमित्त पाकर जो द्रव्य कर्म बंध जाते हैं– उनका कर्ता नहीं है। इस तरह आत्मा अपने ही शुद्ध व अशुद्ध भावोका कर्ता है ऐसा कहकर उसकी चेतनाके तीन भेद बताए हैं ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना। जहां अपने शुद्ध ज्ञानका ही अनुभव किया जावे वह ज्ञानचेतना है जो मुख्यतासे केवलज्ञानीके होती है। जहां अशुभ, शुभ व शुद्ध उपयोगमें वर्तनरूप कर्मका अनुभव हो वह कर्मचेतना है, यह यथायोग्य छद्मस्थोंके होती है। जहां कर्मके फल सुख तथा दुःखका अनुभव किया जावे यह कर्मफलचेतना है, यह बुद्धिपूर्वक अनुभवकी अपेक्षा सर्व संसारी जीवोंके प्रमत्त गुणस्थानतक है। फिर कहा है कि जब यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें परिणमन करता है तब यह आत्मा आप ही कर्ता, कर्म, करण तथा फलरूप होता है। इस तरह द्रव्यका सामान्य स्वरूप कहकर फिर छः द्रव्योंका विस्तारसे वर्णन है। उनमें जीव पुद्गल संसारमें हलनचलन क्रिया करते है शेष चार द्रव्य अक्रिय हैं। जीवादि अमूर्तीक हैं उनके गुण भी अमूर्तीक हैं। पुद्गल मूर्तीक है इससे उसके गुण भी मूर्तीक है। पुद्गलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं इससे मूर्तीक है। पुद्गलोके सूक्ष्म तथा स्थूल अनेक परिणमन हैं– शब्द आदि पुद्गलकी ही पर्याय है। कर्मवर्गणा भी सूक्ष्म पुद्गल है। फिर धर्मद्रव्यका जीव पुद्गलोंको गमनमे उपकार, अधर्मका उनकी स्थितिमें उपकार आकाशका सर्वको अवगाह देना उपकार, कालमा सर्वको पलटाना ऐसा उपकार बताया है। फिर काल एक प्रदेशी अभिलाषी होनेसे अप्रदेशी है, शेष पांच द्रव्य बहु प्रदेशी

होनेसे कायवान हैं ऐसा बताया है। फिर कालद्रव्यके गुण पर्यायको अच्छी तरह स्पष्ट किया है तथा सिद्ध किया है कि एक समय कालाणु द्रव्यकी पर्याय है। यदि कालाणु न होता तो समयरूप व्यवहार काल नहीं होसक्ता था। फिर तिर्यक् प्रचय तथा ऊर्ध्व प्रचयका स्वरूप बताया है कि जो द्रव्य बहु प्रदेशी हैं उनके विस्तार रूप प्रदेशोंके समूहको तिर्यक् प्रचय कहते हैं। सब द्रव्योंमें समय समय जो पर्यायें होती हैं उन पर्यायोंके समूहको ऊर्ध्व प्रचय कहते हैं। फिर यह बताया है कि जिसके एक भी प्रदेश न होगा वह द्रव्य नहीं हो-सक्ता वह शून्य होगा। आकार विना किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रह सक्ती है। इस तरह छः द्रव्योंका स्वरूप दिखाते हुए विशेष ज्ञेयोंका कथन किया–आगे दिखलाया है कि संसारी जीव किसी भी शरीरमें आयु श्वासोश्वास इंद्रिय तथा बल ऐसे चार व्यवहार प्राणोंके निमित्तसे जीते रहते हैं। इन प्राणोंके द्वारा मोह रागद्वेषसे वर्तन करते हुए कर्मोंके फलको भोगते हैं फिर नवीन द्रव्यकर्मोंको बांध लेते हैं। फिर यह बताया है कि जबतक यह संसारी आत्मा शरीरा-दिसे ममता नही छोडता है तबतक प्राणोंका वारवार ग्रहण करना मिटता नही अर्थात् यह जीव एक भवसे दूसरे भवमें भ्रमण किया करता है। परन्तु जो इंद्रियविजयी होकर इन कर्मोंके शुभ अशुभ फलमें रंजायमान न हो और अपने आत्माको ध्यावे तो द्रव्य प्राणोका संबंध अवश्य छूट जावे। इस तरह सामान्य भेदज्ञानको कहकर विशेष भेदज्ञानको कहा है कि नरनारकादि अवस्थाएं नाम-कर्मके उदयसे होती हैं–जीवका स्वभाव नहीं हैं। जो इस तरह वस्तुके स्वभावको समझता है वह अन्य अशुद्ध अवस्थाओंमें व-

परद्रव्योंमें मोह नहीं करता है। फिर आत्माके उपयोगकी तीन अवस्थाओंको बताया है कि यदि इसका उपयोग अरहंतादिकी भक्तिमें व दया दान आदिमें लीन होता है तो इसके शुभोपयोग होता है जिससे यह जीव मुख्यतासे पुण्यकर्मोंसे बन्ध जाता है। जब इसका उपयोग इंद्रिय विषयोंमें--क्रोधादि कषायोंमें उलझा होता है तथा दुष्ट चित्त, दुष्ट वचन, दुष्ट कायचेष्टा, हिंसा आदि पापोंमें फंसा होता है तब उसके अशुभोपयोग होता है जिससे यह जीव पापकर्मोंको बांधता है और जब इसके ये दोनों ही उपयोग नहीं होते तब यह सर्व परद्रव्योंमे मध्यस्थ होकर अपने शुद्धात्माको ध्याता हुआ यह विचारता है कि मैं शरीर वचन मनसे भिन्न हूं--न मै निश्चयसे उनका कर्ता हूं, न करानेवाला हूं, न अनुमोदक हूं वे पुद्गलसे बने हुए हैं, मैं पुद्गलसे भिन्न हूं तब इसके निर्विकल्प समाधि होती है उस समय यह जीव शुद्धोपयोगी होता है। यही शुद्धोपयोग बंधसे छुड़ानेवाला है। यहां प्रकरण पाकर यह कहा है कि पुद्गलके परमाणुओंका दो गुणांश अधिक स्निग्धता या रूक्षताके होनेपर परस्पर बध होजाता है। इसी बंधके कारणसे औदारिक, कार्माण आदि शरीरोके स्कंध बनते हैं। यह लोक सूक्ष्म कार्माण वर्गणाओसे सर्व तरफ भरा हुआ है। वे स्वयं जीवके अशुद्ध उपयोगका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मरूप हो जाते है। उन्हीं कर्मोंके उदयसे चार गतियोंमें शरीर व इंद्रियें आदि बनती। इस कारण यह आत्मा किसी भी तरह स्वभावसे शरीर व द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है-वे भिन्न हैं, आत्मा भिन्न है। आत्मा अमूर्तीक है, चैतन्य गुणमई है, इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण योग्य नही है, किन्तु स्वानुभवगम्य है।

फिर यह बताया है कि आत्माके साथ जो कर्मोंका बन्ध होता है सो असम्भव नहीं है। जैसे आत्मा रागद्वेषपूर्वक मूर्तीक द्रव्योंको जानकर ग्रहण करता है वैसे रागद्वेषसे बन्ध भी होजाता है। जैसे मादक पदार्थ जड़ होनेपर भी आत्माके ज्ञानमे विकार कर देता है वैसे मूर्तीक कर्म भी अशुद्ध आत्मामें विकार कर देते हैं। वास्तवमें बंधके तीन भेद हैं। जीवके रागादि निमित्तसे पूर्वबद्ध पुद्गलोंके साथ नए कर्मपुद्गलोका स्निग्ध रुक्ष गुणके द्वारा बंध होता है इसको पुद्गलबंध कहते हैं। जीवका रागादिरूप परिणमन सो जीवबंध है। तथा आत्माके प्रदेशोमे अनन्तानन्त कर्म पुद्गलोंका परस्पर अवगाहरूप रहना सो जीव पुद्गलबन्ध या उभयबन्ध है। यदि यह जीव रागी, द्वेषी, मोही न हो तो कोई भी बन्ध न हो। रागी कर्मोंको बांधता है व वीतरागी कर्मोंसे छूटता है। इस जीवको वैराग्यभाव लानेके लिये शुद्ध निश्चयनयके द्वारा विचारना चाहिये कि पृथ्वी आदि छःकायके जीवोंकी पर्यायें आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं अर्थात् मै निश्चयसे पृथ्वी आदि स्थावर काय तथा त्रसकायसे भिन्न शुद्ध चैतन्यमय हूं। जो अज्ञानी आत्माके शुद्ध स्वभावको नहीं पहचानते हैं वे अहंकार व ममकार करते हुए अपने रागद्वेष मोह भावके कर्ता हो जाते हैं—आत्मा कभी भी पुद्गल कर्मोका कर्ता नही होता है। जब यह अपने अशुद्ध भाव करता है तब कर्मकी धूल स्वयं चिपट जाती है और जब यह शुद्धभाव करता है तब कर्मकी धूल आप ही छूट जाती है। जो मुनि होकर भी शरीरादिमें ममता न छोड़े वह कभी भी समताभावरूप भावमुनिपनेको नही पासक्ता है,

परन्तु जो ऐसा अनुभव करता है कि न मैं पररूप हू, न पर मुझ रूप है, न मैं परका हू, न पर मेरा है-मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव हूं वही आत्मध्यानी होता है और वही अपने आत्माको अतींद्रिय, निरालम्ब, अविनाशी, वीतरागी, ज्ञानदर्शनमय अनुभव करता है। वह अपने एक शुद्ध आत्माको ध्रुव मानके सर्व सासारिक सुख दु:ख, रुपया पैसा, भाई, पुत्र, मित्र, स्त्री, शरीरादिको अपनेसे भिन्न अनित्य जानता है। इस तरह शुद्ध आत्माका भेदज्ञानपूर्वक अनुभव करते हुए श्रावक या मुनि दर्शनमोहका क्षयकरके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होजाता है। फिर यदि श्रावक है तो श्रावकके व्रतोंसे स्वानुभवकरके चारित्रमोहका बल घटाता है व फिर मुनि होकर समताभावमे लीन हो जाता है। मुनि महाराज पहले धर्मध्यानसे फिर क्षपकश्रेणी चढ़ शुक्लध्यानसे परम वीतरागी होते हुए चारित्रमोहका क्षय कर देते हैं पश्चात् तीन घातिया कर्मोंका भी नाशकर अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य तथा अनन्त सुखको पाकर अरहत परमात्मा होजाते है। अरहंत भगवानको अब ध्यानका फल परमात्मपद प्राप्त होगया। उनको अब चित्त निरोध करके किसी ध्यान करनेकी जरूरत नहीं रहती है-वे निरन्तर आत्माके शुद्ध स्वभावके भोगमे मगन रहते हुए अतींद्रिय आनन्दका ही स्वाद लिया करते हैं-उनके शेष कर्मोंकी निर्जरा होती है इससे उनके उपचारसे ध्यान कहा है।

अन्तमें आचार्यने बताया है कि जो रागद्वेष छोड़कर व वीतरागमई मुनिपदमें ठहरकर निश्चय रत्नत्रयमई निज शुद्ध आत्माके ध्यान करनेवाले हैं वे मुनि सामान्यकेवली या तीर्थङ्कर

होकर सिद्ध परमात्मा होजाते हैं तब वे अनन्तकालके लिये परमसुखी होजाते हैं। उन सर्व भूत भविष्य व वर्तमान सिद्धोंको मैं उनकी भक्ति करके इसलिये नमस्कार करता हूं कि मैं उनके पदपर पहुंच जाऊं तथा मैं उस मोक्षमार्गको भी वारवार भाव और द्रव्य नमस्कार करता हूं जिससे भव्य जीव सिद्धपद पाते हैं।

इस ज्ञेय अधिकारका तात्पर्य यह है कि हरएक भव्य जीवको उचित है कि वह अपने आत्माको व जगतके भीतर विद्यमान छः द्रव्योंके स्वभावोंको समझे फिर यह जाने कि मेरा आत्मा क्यों संसारमें भ्रमण करता है। भ्रमणका कारण कर्मका बंध है। कर्मका बंध अपने अशुद्ध रागद्वेष मोह भावोंसे होता है तथा कर्मोंसे मुक्ति वीतराग भावसे होती है और वह वीतराग भाव भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रूप सर्व कर्मोंसे भिन्न शुद्ध आत्माके अनुभवसे पैदा होता है, ऐसा जानकर भेदविज्ञानका अभ्यास करे कि मैं भिन्न हूं और ये रागादि सब भिन्न हैं। इस भेद विज्ञानके अभ्याससे ही परिणामोंमें विशुद्धता बढ़ जायगी और धीरे २ सर्व मोहका क्षय होकर यह आत्मा शुद्ध हो जायगा। भेदविज्ञानसे ही स्वात्मानुभव या स्वात्मध्यान होता है। आत्मध्यान ही कर्मोंको जलाकर आत्माको शुद्ध परमात्मा कर देता है। सिद्धिका उपाय एक भेद विज्ञान है जैसा समयसारकलशमें आचार्य अमृतचन्द्र महाराजने कहा है:—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ ५ ॥ ६ ॥
भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ ७ ॥

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणा संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—धारावाही लगातार भेदविज्ञानकी भावना करते रहना चाहिये, उस वक्त तक जबतक कि ज्ञान ज्ञानमें न प्रतिष्ठित हो जावे अर्थात जबतक केवलज्ञान न हो, बराबर भेदविज्ञानकी भावना करता रहे । आजतक जितने जीव सिद्ध हुए हैं सो सब भेदविज्ञानके प्रतापसे सिद्ध हुए है और जिनको भेद विज्ञानका लाभ नहीं हुआ है वे सब बधे पड़े हैं । भेदज्ञानके बारबार दृढ़तासे अभ्यास करनेसे शुद्ध आत्मतत्वका लाभ या ध्यान होता है—शुद्धात्मध्यानसे रागद्वेषका ग्राम नष्ट होजाता है। तब नए कर्मोंका संवर हो जाता है तथा पूर्वकर्मकी निर्जरा होकर परम संतोषको रखता हुआ निर्मल प्रकाशमान शुद्ध एक उत्कृष्ट केवलज्ञान निरंतर अविनाशीरूपसे स्वाभाविक ज्ञानमें उद्योतमान रहता है । इस लिये हरएक भव्यजीवको अपना नरजन्म दुर्लभ जान इसको सफल करनेके लिये स्याद्वादनयके द्वारा अनंत स्वभाववाले जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जिनवाणीके हार्दिक अभ्यास व मननसे जान लेना चाहिये व जानकर उनपर अटल विश्वास रखकर उनका मनन करनेके लिये निरन्तर देवभक्ति, सामायिक, स्वाध्याय, गुरुजन संगति, संयम व दानका अभ्यास करना चाहिये । इसीके प्रतापसे जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होजाता है तब आत्माका भीतर झलकाव होता है और अतीन्द्रियआनन्दका स्वाद आता है ।

इस आनन्दकी वृद्धिके लिये वह सम्यग्दृष्टी निराकुल होनेके लिये श्रावकके चारित्रको पालता हुआ स्वानुभवके अभ्यासको बढ़ाता रहता है । जब उस आत्मानंदके सम्यक् भोगमे परिग्रहका सम्बन्ध बाधक प्रतीत होता है तब सर्व वस्त्रादि परिग्रहको छोड़ अट्ठाईस मूल गुणको धारकर साधु होजाता है । साधुपदमें शरीर मात्रको आहारपानका भाड़ा दे उसके द्वारा अनेक कठिन २ तप करके ध्यानकी शक्तिको बढ़ाता जाता है । आत्मध्यानके प्रतापसे ही यदि तदभव मोक्ष होना होता है तो उसी भवसे मुक्त होजाता है, नही तो स्वर्गादिमे जाकर परम्पराय मुक्तिका लाभ करता है। यद्यपि इस पञ्चमकालमे यहां भरतक्षेत्रमे मुक्ति नही है तथापि हम धर्मके प्रतापसे विदेहक्षेत्रमे मनुष्य होकर शीघ्र ही मुक्त हो सक्ते हैं । अब भी इस भरतक्षेत्रमे सातवां गुणस्थान है, मुनि योग्य धर्मध्यान है । इसलिये प्रमाद छोड़ संयमकी रस्सी पाकर आत्म-ध्यानके बलसे मोक्षके अविनाशी महलमें पहुंचनेका पुरुषार्थ करते रहना चाहिये । श्री समयसारकलशमें कहा है:—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्याम् ।
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ॥
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२१॥११॥

भावार्थ—जो स्याद्वादके ज्ञानमें कुशल होकर संयम पालनेमें निश्चल होता हुआ निरन्तर उपयोग लगाकर अपने आत्माको ध्याता है वही एक ज्ञान और चारित्रकी परस्पर मित्रताका पात्र होता हुआ इस मोक्षमार्गकी भूमिका आश्रय करता है ।

इसलिये इस ग्रन्थके पाठकोंको उचित है कि तत्त्वज्ञान प्राप्तकर श्रद्धासहित चारित्र पालते हुए निज आत्माका अनुभव करें इसीसे ही वर्तमानमें भी सुख शाति मिलेगी और भविष्य जीवन भी सुखदाई होगा ।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत ग्रन्थकी श्री जय-सेनाचार्य कृत सस्कृत टीकाके अनुसार इस प्रवचनसार महा ग्रथके दूसरे अध्यायकी भाषाटीका ज्ञेयतत्वप्रदीपिका नाम पूर्ण हुई ।

मिती कार्तिक वदी ८ वि० स० १९८० गुरुवार ता० १-११-१९२३ ।

भाषाकारका कुछ परिचय ।

इन्द्रप्रस्थके निकट है, गुड़गांवा शुभ देश ।
फर्रुखनगर सुहावना, धर्मी बसत हमेश ॥ १ ॥
अग्रवाल क्षत्री सुकुल, वैश्य कर्मवश जान ।
गोयल गोत्र महानमें, रायमल्ल गुणखान ॥ २ ॥
अवध देश लक्ष्मणपुरी, धन कण कंचन पूर ।
वाणिज हित आए जहां, रायमल्ल चल दूर ॥ ३ ॥
बसे तहां उन्नति करी, धन गृह कीर्ति अपार ।
तिन सुत मंगलसेनजी, विद्यागुणभंडार ॥ ४ ॥
जैनतत्त्वमर्मी बड़े, अध्यातम रस सार ।
पीवत लख अध्यात्ममय, समयसार सुखकार ॥ ५ ॥
तिनसुत मक्खनलालजी, गृहकारजमें लीन ।
भार्या परम पतिव्रता, गृहरक्षण परवीन ॥ ६ ॥
चार पुत्र तिनके भए, संतलाल वर जान ।
वर्तमान व्यापाररत, सुत दारा युत मान ॥ ७ ॥
तृतीय पुत्र लेखक यही, संज्ञा सीतल धार ।
मात नारायण देविको, अतिप्रिय सेवक सार ॥ ८ ॥
विक्रम उन्निस पैंतिसा, जन्म सु कार्तिक मास ।
मात पिताकी कृपासे, धर्मप्रेम कुछ भास ॥ ९ ॥
किंचित् विद्या पायके, जानो जिनमत सार ।
रुचि बाढ़ी अध्यात्मकी, सुख शांति भंडार ॥ १० ॥
वत्तिस वय अनुमानमें, गृह तजि श्रावक होय ।

धर्म कार्य्यमें चित दियो, आतम गुण अवलोय ॥ ११ ॥
विक्रम अस्सी उनविसा, वरषाकाल विचार।
कहां धर्मसाधन बढ़ै, यह विचार उर धार ॥ १२ ॥
इन्द्रप्रस्थके निकट ही, पानीपथ सुखदाय ॥
जलपथ भी याको कहें, पांडुपुराण बताय ॥ १३ ॥
पांडुतनय राजा नकुल, राज करै इस धाम।
जैन धर्म परभावना, करत अर्थ वृष काम ॥ १४ ॥
प्रजा मगन आनन्दमें, व्याधि शोक नहिं होय।
श्री नेमिनाथके तीर्थमें, निर्बाधा सब लोय ॥ १५ ॥
पानीपथ बहु कालसे, रह्यो नग्र आवाद।
जैन नृपति हिन्दू धनी, हुए बेमरजाद ॥ १६ ॥
कालचक्रके फेरसे, मुसलमान अधिकार।
वीर युद्ध या क्षेत्रमें, हुए सुयशकरतार ॥ १७ ॥
पन्द्रासै छब्बीस सन्, सुलतां इब्राहीम।
बाबरशाहसे युद्ध कर, मरो यहां अति भीम ॥ १८ ॥
सन् पन्द्रासै छप्पना, हीमू हिन्दू वीर।
संज्ञा विक्रमजीत धर, घेरो जलपथ धीर ॥ १९ ॥
अकबर सेना भिड गई, खूब लडो मदधार।
अन्त सबल भागत भयो, अकबर पुन अधिकार ॥ २० ॥
सन सत्रासै इकसठा, मरहटा दल आय।
पानीपथमें अड़ गया, बहुविध सैन्य जमाय ॥ २१ ॥
शाह अहमदादुर्रनी, लड़ो बहुत रिसवाय।
मरहटा भागे तभी, छोड़ खेत अकुलाय ॥ २२ ॥

माहदजी सिंधिया, था बलवान अपार ।
मरहटा दल लेयकर, फिर आयो इकवार ॥ २३ ॥
कर अधिकार वास। लियो, दिहली नृप वश कीन ।
बहुतकाल इस देशमें, राखी शक्ति प्रवीन ॥ २४ ॥
अठारहसै तीनमे, वृटिश कियो अधिकार ।
जैनी जन ह्यां बहु रहें, धन कण कंचनधार ॥ २५ ॥
बाईस जिन मंदिर भले, पूजा शास्त्र सुहाय ।
कालदोष सब क्षय गए, नूतन चार लखाय ॥ २६ ॥
इनमें भी प्राचीन अति, दुर्ग समान अलंघ ।
पंचनकृत श्री पार्श्वको, धाम जजत सब संघ ॥ २७ ॥
तिनमें उन मंदिरनकी, प्रतिमा हैं प्राचीन ।
कोईएक संवत विन लखै, अति प्राचीन स्वलीन ॥ २८ ॥
द्वितीय लघु दिहली धनी, सुगनचंद संतलाल ।
कियो महा रुचि पायके, सफल हुओ धन काल ॥ २९ ॥
तृतीय बनो बाजारमें, अति सुहाय शुभ दाय ।
बनवारी हैं चौधरी, लक्ष्मी सफल कराय ॥ ३० ॥
चौथा शुभ मंदिर रचो, दुन्दीलाल सुजान ।
नरनारी सब देहरे, सेवत धर्म महान ॥ ३१ ॥
तीनशतक गृह वसरहे, जैनी अग्गरवाल ।
परम दिगम्बर सब सुखी, नर नारी अर वाल ॥ ३२ ॥
मुखिया बद्रीदासके, सुत हैं लक्ष्मीचन्द ।
वीरराय पदवी धरें, धर्मातम सुखकन्द ॥ ३३ ॥
द्वितीय चिरंजीलाल हैं, सरल चित्त धनवान ।

लाला परमानन्दजी, राधेलाल महान ॥ ३४ ॥
लाला मकसूदन सुधी, सुगन्धचन्द वृषधार ।
लाला बनवारी रहे, सुलतासिंह सुकार ॥ ३५ ॥
धर्मी पंडित बुद्धिमय, सिंह कबूल सुहाय ।
भ्राता पंडित रामजी, लाल सबहिं सुखदाय ॥ ३६ ॥
पंडित श्री अरदासजी, जीयालाल प्रवीण ।
पंडित फुलजारी भले, भीखमचन्द अदीन ॥ ३७ ॥
फूलचन्द पंडित सुधी, आदिक जैनीलाल ।
विद्यारत रूपचन्दजी, मुनिसुव्रत श्रीपाल ॥ ३८ ॥
जय भगवान सुतत्त्व विद, धर्मी बी०ए० सार ।
जयकुमार उपकार कर, बड इस्कूल मझार ॥ ३९ ॥
इन आदिकके प्रेमवश, जलपथ वर्षाकाल ।
धर्मकथा गोष्टी शुभग, सतसंगतिमे टाल ॥ ४० ॥
अवसर पाय सुहावनो, भाषा रची बनाय ।
ज्ञेयतत्त्वकी दीपिका प्रवचनसार सुहाय ॥ ४१ ॥
श्री कुन्दकुन्द ज्ञाता बडे, सूत्र सुप्राकृत कीन ।
श्री सूरी जयसेनकृत, संस्कृतवृत्ति प्रवीन ॥ ४२ ॥
ताकी धर अनुकूलता, बालबोध लिख सार ।
निज आतमकी भावना, करी सुमिस यह धार ॥ ४३ ॥
कार्तिक वदि अष्टम दिना, दिवस गुरु सुखकार ।
कर समाप्त हर्षित हुओ, रुचि अध्यातम धार ॥ ४४ ॥
पढ़ै सुनें नरनारि सब, पावें रुचि अध्यात्म ।
चढ़ नौका त्रयरत्नकी, पार करें निज आत्म ॥ ४५ ॥

हो प्रकाश या रत्नका, घर घर सब संसार ।
जासें सब निज आत्मको, पावें रहस विचार ॥ ४६ ॥
वृद्धि होय या थानकी, जहां ग्रन्थ उत्पाद ।
ईत भीति सब ही टलें, क्लेश होय सब बाद ॥ ४७ ॥
मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान ।
नमस्कार मन वच करूं, तन नमाय कर ज्ञान ॥ ४८ ॥
आचारज उवझायवर, सर्व साधु चित लाय ।
परमयमी निजके रमी, गुणसागर उर ध्याय ॥ ४९ ॥
परम भावना यह करूं, सुखी होय संसार ।
सुखसागरमें रमनकर, निज गुण परखें सार ॥ ५० ॥
तत्त्वज्ञान सुहावना, परमशांति दातार ।
'शीतल' जिनका शरण ले, राखूं हिय सुखकार ॥ ५१ ॥

इति ॥ ता० १-११-२३

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद,

पानीपत, जि० करनाल (पंजाब)

अहिंसा धर्म प्रकाश।

(नवीन श्रावकाचार)

यह ग्रन्थ पंडित फुलज़ारीलालजी शास्त्रीने बड़े परिश्रमके साथ श्री रत्नकरण्ड, श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि कई श्रावकाचारोंके अभिप्रायको लेकर २८५ सुगम पद्योंमें रचा है। दस अध्याय हैं। इसका नाम " सद्गुण पुष्पोद्यान श्रावकाचार " है-यथा नाम तथा गुण है। भाषा सरल है, मूल श्लोकोंके प्रमाण भी दिये हैं जो बहुत ही लाभदायक हैं। पंडितजीने यह पुस्तक जैन अजैन सर्वसाधारणमें अहिंसा धर्मके आधार पर श्रावकाचारके सिद्धान्तको सुगम रीतिसे आचरण करानेके लिये तथा स्कूल व पाठशालाओंके बालबोध तृतीय व चतुर्थको योग्यतावाले छात्रोंके हितार्थ तैयार की है। मैं आशा करता हूं कि दिगम्बर जैन परीक्षालयके अध्यक्ष भी इसको पठनक्रममें शामिल करेंगे तथा अध्यापकगण और विद्यार्थी भी इस पुस्तकको अवश्य मंगाकर लाभ उठावेंगे। पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध एक साथ कीमत ।।।) पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध अलग २ भी मिल सक्ते हैं। मूल्य प्रत्येकका ।≠).

निवेदक—

रूपचन्द गार्गीय अग्रवाल जैन,

धर्मपरीक्षक, जैन हाईस्कूल, पानीपत (पञ्जाब)।

पुस्तक मिलनेके पतेः—

१ दिगम्बर जैन पुस्तकालय, चन्दावाड़ी-सूरत।

२. हीरालाल पन्नालाल जैन बुकसेलर्ज़ एण्ड स्टेशनर्ज़ दरीबाकलां-देहली।